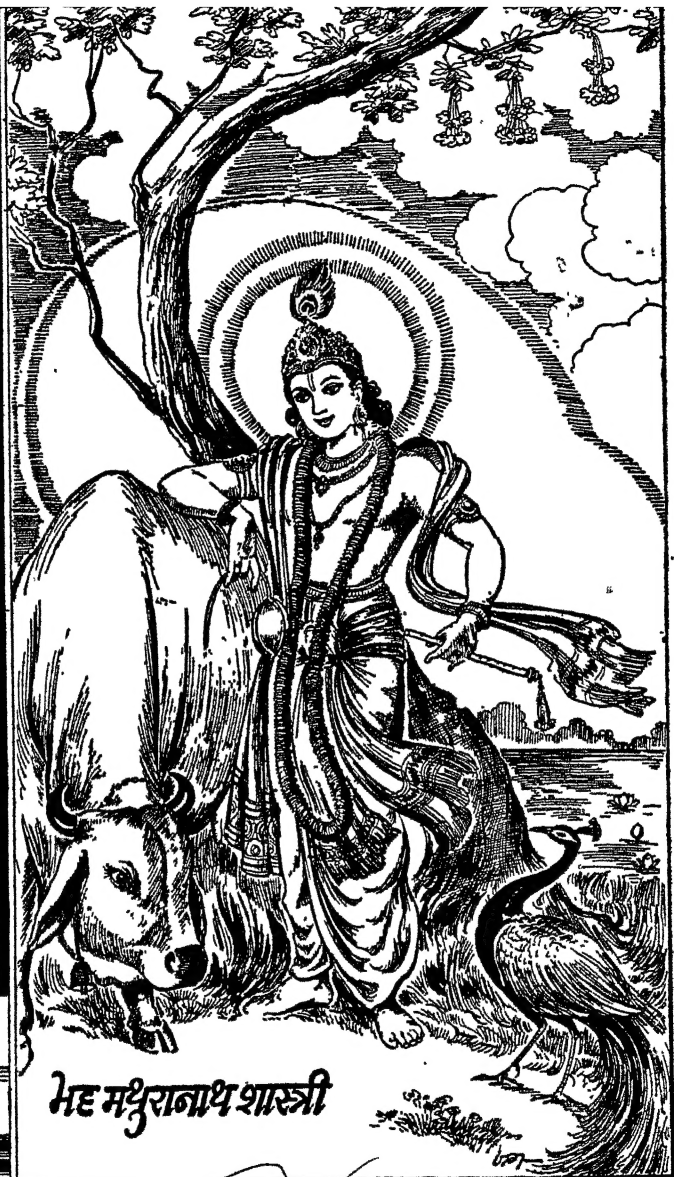
गोविन्दवैभवम्



गीताप्रेस
गोरखपुर



(लेखककी स्वरचित संस्कृत-टीका
एवं भाषानुवादसहित)

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१४ प्रथम संस्करण ५,०००

मूल्य अजिल्द १) एक रुपया
सजिल्द १।=) एक रुपया छः आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नम्र निवेदन

'शरणागति-रहस्य' के लेखक हमारे पूर्वपरिचित आदरणीय भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्रीकी यह पहली काव्यमयी कृति गीताप्रेससे प्रकाशित हो रही है। आपने संस्कृत-साहित्यकी जो बहुमूल्य सेवाएँ की हैं, वे संस्कृत-जगत्से छिपी नहीं है। आपके उत्कृष्ट कवित्वकी छाप भी आधुनिक सभी संस्कृतज्ञोंपर है। आपकी यह प्रबल इच्छा थी कि आपकी यह भक्तिपरक रचना—जो आपके जीवनके संध्याकालमें लिखी गयी है—गीताप्रेससे ही छपे। आपके इसी आग्रहके कारण आपकी यह कृति आजसे कम-से-कम दस-बारह वर्ष पूर्व लिखी जानेपर भी अबतक अमुद्रित ही रही। अन्यान्य कार्योंमें संलग्न रहनेके कारण इच्छा रहनेपर भी गीताप्रेस इसे छाप नहीं पाया और भट्टजीका यह चातक-व्रत था कि उनका यह ग्रन्थ प्रकाशित हो तो गीताप्रेससे ही, अन्यथा भले ही वह अप्रकाशित पड़ा रहे। भगवान्‌ने आपका यह हठ पूरा किया और हमें प्रसन्नता है कि कई वर्षोंकी प्रतीक्षाके बाद आज उनका यह ग्रन्थ यहाँसे प्रकाशित हो रहा है। भट्टजीकी इच्छा थी कि उनकी इस महनीय एवं सुन्दर कृतिको प्रसङ्गानुकूल विविध चित्रोंसे विभूषित करके विशेष आकर्षक रूपमें प्रस्तुत किया जाय। परंतु हमें खेद है कि आर्टपेपर आदिकी दुर्लभताके कारण इस ग्रन्थको हम जितना आकर्षक ढंगसे सजाना चाहते थे, उतना सजा नहीं पाये। प्रत्येक पद्यके नीचे स्वयं ग्रन्थकारकी ही लिखी हुई संस्कृत-

टीका तथा भाषा-टीका भी दी गयी है, जिससे संस्कृतका पूरा ज्ञान न रखनेवाले भी उसका रसास्वादन कर सकें।

जैसा कि ग्रन्थके नामसे ही व्यक्त है, इसमें भगवान् गोविन्द (श्रीकृष्ण) का ही यशोगान अथवा उनसे भावपूर्ण प्रार्थना की गयी है । बीच-बीचमें उन्हींके दूसरे रूप भगवान् नारायण, भगवान् हयग्रीव, भगवान् धन्वन्तरि, भगवान् शंकर, भगवान् गणेश, भगवती महालक्ष्मी, भगवती सरस्वती, भगवती पार्वती, भगवती गङ्गा, भगवती यमुना, आमेर (राजस्थान) की शिलामयी देवी आदिसे भी कृपाकी याचना की गयी है । साथ-ही-साथ भगवान्‌की रूप-माधुरी (भगवान्‌के अङ्ग-प्रत्यङ्गका वर्णन), उनकी मुरलीध्वनि, भगवन्नामकीर्तन, नवधा भक्ति, संसारसे वैराग्य, शान्तरस, कालकी कुटिलता, रासलीला, रूपमुग्धा गोपी, गजेन्द्रमोक्ष, भवाटवी आदि-आदि भक्ति-रसका पोषण करनेवाले विषयोंपर भी स्फुट रचनाओंका समावेश किया गया है । कहीं-कहीं शिक्षा-परिपाटी, वर्तमान स्त्रीशिक्षा, संस्कृत-भाषा, दर्शनशास्त्र तथा काशीनगरीकी महिमापर भी कुछ पद्य ग्रथित हुए हैं, जो अप्रासङ्गिक होनेपर भी उपयोगिता-की दृष्टिसे संग्रहणीय हैं। वैसे यह ग्रन्थ आदिसे अन्ततक भक्ति-रससे ओतप्रोत है और लेखकके भक्त-हृदयका परिचायक है। लेखकने सचमुच अपने जीवनकी संध्यामें भगवद्गुणानुवाद-के द्वारा अपनी वाणी एवं लेखनीको धन्यातिधन्य बना दिया है और इस दृष्टिसे वे बधाईके पात्र हैं। उनकी रचनामें प्रसाद, माधुर्य, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार आदि सभी काव्यगुणोंकी छटा देखनेको मिलती है। इस प्रकार काव्यकी दृष्टिसे भी आपका यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य एवं अभिनन्दनीय है ।

आपकी अन्यत्र प्रकाशित 'साहित्यवैभव' आदि अन्यान्य लौकिक कृतियोंकी भाँति 'गोविन्दवैभव'की भी असाधारण विशेषता यह है कि आपने अपनी यह रचना कवि-सम्प्रदाय-परिगृहीत संस्कृत छन्दोंमें न करके व्रजभाषाके प्रचलित छन्दोंमें की है और आपको इसमें अद्भुत सफलता मिली है। 'गोविन्द-वैभव'में देवघनाक्षरी, अनङ्गशेखर आदि कवित्तभेद, सवैया, अश्वधाटी, नर्कुट, चतुष्पदी (चौपाई), कुंडलिया, छप्पय, बरवै, दोहा, सोरठा, अमृतध्वनि आदि छन्दोंकी अनुपम छटा देखनेको मिलती है। यहाँतक कि सवैया छन्दके उपजाति आदि बारहों भेदोंका कविने अपनी इस रचनामें बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रयोग किया है। बल्कि इसके प्रकरणोंका विभाग भी प्रारम्भमें विषयानुसारी होनेपर भी आगे चलकर छन्दोंके अनुसार ही किया गया है। गीतिगोपुरम् नामक प्रकरणमें तो आपने उर्दूकाव्यमें प्रयुक्त गजल, लावनी, रेखता आदि छन्दोंका भी स्वच्छन्द प्रयोग किया है और आपकी वे गीतियाँ बड़े ही मधुर ढंगसे गाने योग्य बन गयी हैं। व्रजभाषा तथा उर्दूके इन छन्दोंकी विशेषता यह है कि इनमें सभीके प्रत्येक चरणमें अन्त्यानुप्रासका समावेश अनिवार्य होता है, जिससे इन छन्दोंका माधुर्य तथा चमत्कार बढ़ जाता है। गोविन्दवैभव-के प्रत्येक पद्यमें अन्त्यानुप्रासका बड़े ही सुन्दर ढंगसे निर्वाह किया गया है और इस दृष्टिसे वे सभी पद्य बड़े ही मनोरम हो गये हैं। इतना ही नहीं, अन्त्यानुप्रासके अतिरिक्त चरणोंके बीचमें भी यत्र-तत्र यमक एवं अनुप्रासोंका बहुल प्रयोग हुआ है, जिससे उन पद्योंकी सुन्दरता अत्यधिक बढ़ गयी है। उदाहरणके लिये पृष्ठ १०१ पर दिये गये निम्नलिखित पदपर दृष्टिपात कीजिये—

जननावधि लौकिकसंघटना-
गतचित्तमनामयहीनमिमम्
सदनावनिवित्तयशोललना-
दिसमानयनानिशलीनमिमम् ।
अपि मञ्जुलनाथ ! दयाविधिना
कुरु ते चरणाभिमुखीनमिमम्
अधुना दवदुःखघनाकुलितं
यदुनाथ ! सनाथय दीनमिमम् ॥

ऊपर दिये हुए पद्यमें अन्त्यानुप्रासोंके साथ-साथ 'जनना', 'घटना' आदि रेखाङ्कित वर्णसमूहोंमें वृत्त्यनुप्रासकी कैसी सुन्दर बहार देखी जाती है, जो संस्कृतके छन्दोंमें प्रायः दुर्लभ है। और भी पृष्ठ १४ पर देखिये—

मूर्द्धनि मनोज्ञमणिमञ्जुलमुकुटधारी
कुन्तलकलापमनोहारी मुखपद्धतौ
चञ्चलानुकारी कटिदेशे भाति पीतपटो
मोदमुपयाति गोपनारीजनसंहतौ ।
मञ्जुनाथ ! दारुणदवौघपरिहारी सतां
भक्तजनमानसविहारी साधुसंगतौ
मनसि मुनीनामपि मन्दमन्दचारी चिरात्
सोऽयं सुखकारी मे मुरारी रमतां मतौ ॥

ऊपरके पदमें 'धारी', 'हारी' आदि वृत्त्यनुप्रासोंके साथ-साथ 'मूर्द्धनि' 'मनोज्ञ' आदि पद-समूहोंमें छेकानुप्रासकी छटा भी दर्शनीय है। निम्नाङ्कित पद्यकी प्रत्येक पंक्तिमें छेकानुप्रासकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है—

मञ्जुनाथ! पार्थिवपुरादिकं प्रशंसस्येव
निर्भरनृशंस! निम्ननामान्यपि नित्यं शंस
केशव कलिन्दजाविहारिन् कृष्ण केलिकन्द
कैटभनिकन्द —बलकीलितकरालकंस।
वासुदेव वृन्दावनवासिन् वनमालिन् विधो
वेणुवाद्यशालिन् विश्वरूप वृष्णिजावतंस
मारवदमन्द मुरलीधर मुराभिकन्द
माधव मुकुन्द मुनिमानसमनोज्ञहंस॥

इसी प्रकार पृष्ठ २६ के निम्नलिखित पद्यमें गकारकी आवृत्ति गजबकी है—

गाढोन्मदगोत्रभिदो गर्वं गञ्जयिष्यन् भवान्
ग्रावपतिगोवर्द्धनमग्रहीन्न किंतमाम्
गोकुलानि गोपान् गजगामिनीश्च गोपितवान्
गालितवान् गीर्वाणेशगौरवगतिं समाम्।
गोपायसि गाढ़मनुग्रही गजराजं गुरो!
गृध्रगुहगणिकास्वपीह गाहसे क्षमाम्
गहनगभीरभवगर्तगृह्यमाणमिमं
श्रीगोविन्द! गीतगुणगरिमन्न गर्ह माम्॥

'अमृतध्वनि' छन्दकी अमृतमयी ध्वनिका भी रसास्वादन निम्नाङ्कित पदमें कीजिये—

नन्दन् नन्दनिकेतने विन्दन्नखिलसुखानि ।
नन्दयतान्नन्दात्मजो भिन्दन् दनुजकुलानि ॥
भिन्दन् दनुजनिवृन्दं नगमुपखिन्दन् नखरे ।
छिन्दन् भवभयभिन्दन् जगति विरुन्धन् समरे ॥
स्पन्दद्भ्रमरममन्दद्रुमभवचन्दच्चन्दन ।
चन्द्रद्युतिमपि निन्दद्वदन विनन्दन्नन्दन ॥

अन्तमें हम भगवान् गोविन्दके लोकाभिराम वैभवका कविके निम्न पद्यद्वारा दिग्दर्शन कराते हुए उनके 'गोविन्द-वैभव' काव्यको भक्त एवं काव्यानुरागी पाठकोंकी सेवामें समर्पित करते हैं—

प्रोल्लासाय दिवौकसां दितिसुतत्रासाय लीलाकथा-
विन्यासाय समस्तभावुकमनस्संविद्विकासाय च ।
दिव्याभिस्तनुभिः सदावतरतः सम्बिभ्रतः काश्यपीं
त्रैलोक्याधिपते! चिरं विजयते गोविन्द ते वैभवम् ॥

विनीत—
चिम्मनलाल गोस्वामी



श्रीहरिः

प्रकरण-सूची

प्रकरण-नाम		पृष्ठ-संख्या
१—विनय-प्रस्तावना	...	... १
२—मानस-निवेदना	...	... ८
३—रूप-माधुरी	...	... १६
४—मनः प्रबोधना	...	... १८
५—सौन्दर्य-सुषमा	...	... २२
६—आशंसा	...	... २५
७—कारुण्यम्	...	... २६
८—जीवन-संध्या	...	... २९
९—मनःप्रमोदः	...	... ३०
१०—सान्त्वना	...	... ३४
११—प्रार्थना	...	... ३५
१२—भगवान् हयग्रीवः	...	... ३८
१३—श्रीधन्वन्तरिः	...	... ४१
१४—दैन्यनिवेदनम्	...	... ४५
१५—छायावादः	...	... ५२
१६—सप्तवाराः	...	... ५३
१७—द्वादशमासाः	...	... ५४
१८—षड्ऋतवः	...	... ५५
१९—नाम संकीर्तनम्	...	... ५६
२०—नवधा भक्तिः	...	... ५७
२१—विश्वात्मा	...	... ५८

प्रकरण-नाम		पृष्ठ-संख्या
२२–श्यामघनप्रार्थना	...	... ६०
२३–संसाराद् वैराग्यम्	...	... ६१
२४–शनैः शनैर्भगवति रतिः	...	... ६३
२५–भगवतः कारुण्यप्रार्थना	...	... ६५
२६–श्रीशिवः	...	... ६७
२७–शंकरात्कारुण्यप्रार्थना	...	... ६८
२८–सरस्वती	...	... ७०
२९–चरणम्	...	... ७१
३०–आम्बेरे विराजमाना शिलामयी	...	... ७२
३१–अन्तसमये भगवतः प्रार्थना	...	... ७३
३२–शान्तरसः	...	... ७५
३३–कालस्य कुटिलता	...	... ७६
३४–शिक्षापरिपाटी	...	... ७९
३५–वर्तमाना स्त्रीशिक्षा	...	... ८१
३६–श्रीमहालक्ष्मीः	...	... ८४
३७–सवैया स्तबकः	...	... ८५
१–उपजाति	...	... ८७
२–मत्तगयंद (मालती) इंदव	...	... ९३
३–चकोर	...	... ९४
४– मुक्तहरा	...	... ९४
५–सुन्दरी (मल्ली, सुखदानी)	...	... ९५
६–अरविन्द	...	... ९६
७–लवङ्गलता	...	... ९७
८–सुख (किशोर, कुन्दलता)	...	... ९८
९–वाम (मञ्जरी, मकरन्द, माधुरी)		... ९८
१०–किरीट	...	... ९९

प्रकरण-नाम		पृष्ठ-संख्या
११–अरसात	···	··· १००
१२–दुर्मिल	···	··· १०१
३८–अश्वधाटी	···	··· १०२
३९–नारायण नर्कुटकम्	···	··· १०७
४०–चतुष्पदी-चयनम्	···	··· ११०
४१–'कुण्डलिया'-खण्डः	···	··· १२०
४२–षट्पद (छप्पय) पटलम्	···	··· १२५
४३–'बरवै'विलासः	···	··· १२९
४४–दोहा-संदोहः	···	··· १४३
४५–सोरठा-समुदयः	···	··· १५८
४५ (क)–अमृतध्वनिः	···	··· १६४
४६–हरिगीतिकादिच्छन्दःसंदर्भः	···	··· १६६
४७–गीतिगोपुरम्	···	··· १६९
४८–श्लोकाः	···	··· २४५
४९–उपसंहारः	···	··· २४९

चित्र-सूची

१–नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण	(तिरंगा)	··· १
२–नटवर-नागर	(एकरंगा)	··· ८८
३–वेणुधर	(,,)	··· १८४





॥ श्रीहरिः ॥

गोविन्दवैभवम्

[१]

विनय-प्रस्तावना

सो०—मन्दीभवदरविन्दमिन्दीवरबन्दीकरम् ।
वन्देमहि गोविन्दचरणममन्दीकृतसुखम् ॥ १ ॥

मन्दीभवत् अरविन्दं यस्मात्, कमलविडम्बकमित्याशयः । इन्दीवरस्य नीलकमलस्य अपि बन्दीकरं विजेतारम् ॥ १ ॥

जिसके आगे (लाल) कमल (भी) फीके पड़ जाते हैं, इन्दीवर (नील कमल) को जीतनेवाले और अमन्द (अमित) सुख देनेवाले उस श्रीगोविन्द-चरणकी हम वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

क०—पूर्वार्जितपुण्यैर्या कवित्वकला प्राप्ता, हन्त
विज्ञानां विवर्द्धितवान् विषयरुचिं तया
नृपनगरादिकं निबध्नन्नभिविश्य तया
दृश्यमिव दर्शितवान् मूर्तिमदिदंतया ।
मञ्जुनाथ नानाविधकाव्यगुणैर्भव्या भवे-
न्नव्यापि च सूक्तिर्हरिहीना यदि, किं तया ?
साम्प्रतमवेहि देवि वाणीयद्दयां विधेहि
वाणीमद्य पूतां करवाणीश्वरचिन्तया ॥ २ ॥

तया कवित्वकलया विज्ञानां विषयेषु रुचिं प्रीतिं वर्द्धितवान् विषयाभिमुखीं प्राबल्येन प्रवर्तितवान् । किञ्च अहम् अभिविश्य अभिनिवेश-(आग्रह-) पुरस्सरं नृपः, नगरम्, एतदादिकं वर्णयन् इदंतया इदमस्तीतिरूपेण तेषां मूर्तिमत् दृश्यं दर्शितवान्, प्रत्यक्षां तेषां मूर्तिमिव अक्षरेषु निबद्धवानित्यर्थः । हे वाणि ! इयतीं दयां विधेहि यत् अद्य ईश्वरचिन्तया स्वीयां वाणीं पवित्रां करवाणि । प्रार्थनायां लोट् ॥ २ ॥

पूर्वसंचित पुण्योंसे जो कवित्वकला प्राप्त हुई थी, खेद है कि उसके द्वारा मैंने विज्ञलोगोंकी सांसारिक विषयेच्छाको ही विशेषरूपसे बढ़ाया। आग्रहपूर्वक राजा और नगरादिका वर्णन करते हुए उन सबका प्रत्यक्ष दृश्य उपस्थित किया। परंतु विविध काव्य-गुणोंसे सुन्दर और नवीन होनेपर भी हमारी उक्ति यदि भगवान्‌से शून्य रही तो उससे क्या लाभ ? अतः अब हे सरस्वती देवी ! इतनी कृपा करो कि ईश्वर-स्मरणसे मैं अपनी वाणीको पवित्र कर सकूँ ॥ २ ॥

रूपककिरीटपरिणामपत्रपाश्यायुतां
काव्यलिङ्गकर्णिकाढ्यचूडामणिकोपमाम्
उत्प्रेक्षावतंसतुल्ययोगितातरणिभृतां
तद्‌गुणतरलहेतुहारतो मनोरमाम् ।
श्लेषकरकङ्कणविरोधवलयानुगुणां
परिकरकाञ्चीसारनूपुरसुखक्रमाम्
मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दलग्नामये
मौनमभिनन्दयस्व सूक्तिसुन्दरीमिमाम् ॥ ३ ॥

रूपकालङ्कार एव किरीटम्, परिणामालङ्कार एव पत्रपाश्या ललाटभूषणम्, 'बाँक' इति व्रजभाषायां प्रसिद्धम्। ताभ्यां युक्ताम्। काव्य-लिङ्गरूपकर्णिकया तालपत्रेण आढ्यां च, चूडामणिः उपमा यस्याः उपमारूपचूडामणिकाम् इत्याशयः, तां चेति समस्तयोः कर्मधारयः। उत्प्रेक्षैव अवतंसः कर्णपूरः, तुल्ययोगितैव तरणिः, कर्णभूषा 'तरौना' इति भाषायां प्रसिद्धः। ताभ्यां भृताम्। तद्‌गुणालंकार एव तरलः मध्यमणिः यस्मिन्नेवंविधेन हेत्वलंकाररूपेण हारेण मनोरमाम्। श्लेष एव करयोः कङ्कणस्थानीयः विरोधालंकारश्च वलयानुगुणः वलयसदृशः यस्याः ताम्। परिकररूपया काञ्च्या, सारालंकाररूपेण नूपुरेण च सुखकारकः क्रमो यस्यास्ताम्। अये मानस ! इमाम् एवंप्रकारेण अलंकृताम् सूक्तिरूपां सुन्दरीं मुकुन्दचरणारविन्दलग्नाम् मौनं तूष्णीम् अभिनन्दयस्व। अलंकृतापि

सूक्तिर्यदि भगवच्चरणारविन्दलग्ना भवेत् तदैवाभिनन्दनयोग्या, नान्यथेत्याशयः ॥ ३ ॥

जो सूक्तिरूपा सुन्दरी रूपकालंकाररूपी किरीट एवं परिणाम-अलंकाररूप चाँद (बैंदा) से भूषित है, काव्यलिङ्गरूप पीपलपत्ती और उपमा ही जिसके सीसफूल हैं, उत्प्रेक्षा कर्णफूल और तुल्ययोगिता जिसके तरौना (कर्णभूषण) हैं, तद्गुणरूपी हारकी मध्यमणि एवं हेत्वलंकाररूप हारसे जो मनोहर है तथा श्लेषरूप कंगन एवं विरोधालंकाररूप कड़ोंसे सुन्दर है तथा परिकररूप काञ्ची (करधनी) एवं साररूप नूपुर (पायजेब) से जो सुखदायक है, हे मन ! मुकुन्दचरणारविन्दमें लगी ऐसी सूक्ति-सुन्दरीका मूक अभिनन्दन (प्रशंसा) करो ॥ ३ ॥

सदनसमाजसुहृत्सम्बन्धिषु दत्तं पुरा
श्रीपतिपदाब्जे मनोवित्तं विभजेऽधुना
मानसमिदं मे नृपश्रीनये निविष्टमभूत्
प्रीणये तदेतत् प्रभुपादपङ्कजेऽधुना ।
लालसालवेन धनिकालयेषु लीनोऽभवं
निर्वृतिविहीनो गरुडध्वजं यजेऽधुना
धनिककुविन्दं प्राप्य कीदृशमविन्दं सुखं
पावनपदारविन्दं गोविन्दं भजेऽधुना ॥ ४ ॥

पूर्वं हि मनोरूपं वित्तं सदनसमाजादिषु विभक्तमासीत्, अधुना तत् श्रीपतिचरणकमले विभजामि । 'विभाग' पदेन, अन्यत्र मनोयोगेऽपि शनैः शनैर्भगवदनुरागः प्रवर्तितः शनैः शनैर्भगवद्विषयकं भावं पुष्णातीति क्रमः सूचितः । इदं मे मनः पूर्वं नृपश्रीः राजलक्ष्मीः तस्याः नये नीतौ मार्गे इतियावत्, राजलक्ष्म्याः संग्रहे वा निविष्टमासीत् । अधुना तदेतत् मनः प्रभुचरणकमले प्रीणयामि । धनिकरूपं कुविन्दं कौलिकम् प्राप्य न किंचित्सुखम् अविन्दं प्राप्नवम्, अत एवाधुना गोविन्दं भजे ॥

जो मनरूप धन पहले घर, समाज, मित्र और सम्बन्धियोंमें बँटा हुआ

था, उसको अब भगवच्चरणारविन्दमें बाँटता हूँ। यह मन पहले राजलक्ष्मीके मार्गमें लगा था, उसको अब प्रभुके चरण-कमलोंका प्रेमी बनाता हूँ। लालसाके वशीभूत होकर मैं पहले धनिकोंके घरोंमें घुसा रहता था, किंतु वहाँ सुख न पाकर अब गरुड़ध्वज (विष्णु भगवान्) की उपासनामें लगता हूँ। धनिकरूप जुलाहेसे मैंने कौन-सा सुख पाया था। अब श्रीगोविन्दकी आराधना करता हूँ, जिनके चरणारविन्द सबको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

चेतसा विचिन्तयामि चारुचित्रशालां चिरात्
पीलुपर्णशालां बहु मानये व्रजेऽधुना
भावितवान् भूरि नृपनिष्कुटेषु शीतलतां
शीतलतां वीक्षे द्रुमे यमुनाङ्गजेऽधुना।
सूक्तिभिः समर्थितवान् नानास्थले लोभात्पुरा
शोभां ब्रुवे कालिन्दीप्रतीरनीरजेऽधुना
धनिककुविन्दं प्राप्य कीदृशमविन्दं सुखं
पावनपदारविन्दं गोविन्दं भजेऽधुना ॥ ५ ॥

चिरकालात् चेतसा चित्रशालां चिन्तयामि, अधुना व्रजे पीलुवृक्षाणां पर्णकुटीं बहुमानेन पश्यामि। बहुमूल्यां चित्रिताट्टालिकां त्यक्त्वा अधुना व्रजस्थितां पर्णकुटीं साधु मन्ये इत्याशयः। एवमग्रेऽपि। राज्ञां गृहारामेषु शीतलां लतां बहुतरमालोचितवान्, इदानीं यमुनामध्यरूढे द्रुमे वृक्षे शैत्यं पश्यामि। निष्कुटस्थितलतापेक्षया यमुनाजातो वृक्षः शान्तिदायकत्वात् अधिकं शीतलः प्रतीयते इत्याशयः। लोभवशात् अन्येषु नानास्थलेषु पूर्वं निजसूक्तिभिः शोभां साधितवान्, इदानीं यमुनातीरगते नीरजे कमले शोभां वदामि ॥ ५ ॥

चिरकालसे मनके द्वारा सुन्दर चित्रशालाका चिन्तन किया करता था, वही मैं अब व्रजभूमिमें पीलुओंके वृक्षके नीचे एक पर्णकुटीको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। (अबतक) राजाओंकी फुलवाड़ीमें शीत (शीतल) लताओंका चिन्तन किया करता था, अब श्रीयमुनाद्वारा पोषित

वृक्षमें शीतलता अनुभव करता हूँ। पहले लोभके वशीभूत होकर और-और स्थलोंमें शोभाका समर्थन करता था, अब यमुनातटके कमलमें शोभाका उल्लेख करता हूँ। धनिकरूप जुलाहेसे० ॥ ५ ॥

कोऽप्ययं कुबेर इति कृपणमपीडितवान्
पीडितवान् सत्यमिति हृदि विलजेऽधुना
ललितलुलितलापैर्लालसालवान्धोऽभवं
वाग्विभवं नैक्षिषीति दोषमाभजेऽधुना।
काव्यगर्वीगुम्फं पुरा पङ्किलमकार्षं हन्त
तं किल पुनामि पयसीशापादजेऽधुना
धनिककुविन्दं प्राप्य कीदृशमविन्दं सुखं
पावनपदारविन्दं गोविन्दं भजेऽधुना ॥ ६ ॥

कृपणमपि पुरुषम् 'अयं कोऽपि कुबेरः' इति अहं ईडितवान् श्लाघितवान्। अतएव अहं सत्यं पीडितवान्, मया सत्यस्य हिंसा कृतेति अधुना हृदि विलज्जे। 'ओलजी ओलस्जी' व्रीडायाम्। कविताकरणे ललितलुलितेत्यादिभिः लापैर्वचनैः उपलक्षितः अहं लालसाया लेशेनापि अन्धः अभवम्, वाग्देव्याः वैभवम् अहं न अद्राक्षम् इत्यधुना दोषं स्वीकरोमि। अतएव वाण्या वैभवस्य दुरुपयोगं कुर्वन् लालसान्धोऽहं काव्यवाणीगुम्फं मलिनमकार्षम्, अद्य तं गुम्फम् ईशपादजे पयसि विष्णुचरणजले गोविन्दगुणगीतिगङ्गायाम् पुनामि॥

'यह कोई कुबेर है' यों कहकर एक सूम (दरिद्र)की भी स्तुति कर देता था, परंतु इस प्रकार सत्यका गला घोंटनेकी बातसे आज स्वयं लज्जित हूँ। 'ललित-लुलित' वर्णनाएँ करता हुआ थोड़ी-सी भी लालसासे अंधा हुआ रहता था, अपार वाणीके वैभवको मैं कुछ भी नहीं देख पाया—इस दोषका मैं अब अनुभव करता हूँ। जिस काव्यवाणीके गुम्फनको मैंने लोभवश अस्थानमें प्रयोग करके पङ्किल (मलिन) कर दिया था, उसे भगवच्चरणारविन्दके जलमें (भगवद्गुणगानरूपिणी गङ्गामें) नहलाकर पवित्र करता हूँ। धनिकरूप० ॥ ६ ॥

मनसि निपीड्यसे प्रभूतपरितापाकुलो
दुर्जनप्रलापा अपि बाधन्ते मनागिमे
धावसि धनाढ्यगृहे कामं कणयाची भवन्
लालसापिशाचीजातपातकपचेलिमे ।
हंहो सुखवाञ्छाव्यग्र ! शंसतोऽपि शान्तिपथं
कथय कथं न वचः कर्णयोः करोषि मे
भृशमपमानदुःखदावानलदह्यमान
मानस ! मुकुन्दपदमानसमुपेहि मे ॥ ७ ॥

लालसापिशाचीसकाशाज्जातं यत्पातकं तेन पचेलिमे लालसापातक-परिपाकोन्मुखे धनाढ्यगृहे सुखवाञ्छाव्यग्र हे मानस ! शान्तिपथं शंसतः सूचयतः अपि मे वचः कर्णयोः कथं न करोषि इति कथय । अप-मानस्य दुःखरूपेण दावानलेन दह्यमान हे मम मानस ! मुकुन्दचरण-रूपं मानससरोवरम् उपेहि उपगच्छ । दह्यमानस्य यथा मानससरोवरं सुखाकरं तथा गोविन्दचरणरूपं सरः इत्यर्थः ॥ ७ ॥

बहुत-से संतापोंसे आकुल होकर मनमें पीड़ित रहते हो, दुर्जनोंकी फबतियाँ भी तुम्हें बाधा पहुँचाती रहती हैं, लालसा-पिशाचीके द्वारा किये गये पापोंको भोगनेके लिये दाने-दानेके मुँहताज होकर धनाढ्योंके घरोंकी ओर दौड़ते हो । सुखकी इच्छामें व्यग्र रहनेवाले अरे मन ! मैं तुम्हें शान्तिका मार्ग बतलाता हूँ, तो भी मेरी बात क्यों नहीं सुनते ? अपमानके दुःखरूपी दावानलसे झुलसे हुए हे मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दरूपी मानस-सरोवरके समीप चले आओ । (वहीं तुम्हें शान्ति मिलेगी) ॥ ७ ॥

क्षिपसि सुभाषितानि सूरिजनश्रव्याण्यहो
द्रव्यार्जनलालसोऽनभिज्ञेष्वधरोत्तरम्
भूमिगृहारामार्थेषु रात्रिंदिवमाहिण्डसे
मण्डयसे हन्त विमतान्यपि निरुत्तरम् ।

उपरि तु मञ्जुनाथ साधुतां समर्थयसे
किमिति कदर्थयसेऽधीतं शास्त्रविस्तरम्
सूनुसुखसद्मेच्छयाऽऽच्छादय न छद्मेदृशं
गोविन्दाङ्घ्रिपद्मे मनो मोदय निरन्तरम् ॥ ८ ॥

अर्जनलालसः त्वं सूरिजनश्राव्याणि सुभाषितानि अनभिज्ञेषु क्षिपसि । अनभिज्ञेषु मर्मस्पृक्सूक्तिश्रावणं केवलं इतस्ततः प्रक्षेपणमेवेति 'क्षिप्' धातुना व्यज्यते । विरुद्धानि मतान्यपि निरुत्तरम् उत्तरम् अप्रदायैव समर्थयसे । सुतादीनामिच्छया ईदृशं कपटं न आच्छादय गोपय ॥ ८ ॥

सहृदय लोगोंके सुनने लायक सुभाषितोंको धनार्जनकी लालसासे मूर्खोंमें फेंकते हो । भूमि-घर-बगीचेके लिये रात-दिन भटकते हो, विरुद्ध मतोंका भी—जो तुम्हारे विचारोंसे बिल्कुल विपरीत हैं तुम चुपचाप समर्थन करते हो । मञ्जुनाथ ! तुम ऊपरसे साधुताका ढोंग रचते हो, इस प्रकार पढ़े हुए शास्त्रसमूहकी क्यों कदर्थना करते हो ? पुत्र-सुख-घरकी लालसासे इस छलको मत छिपाओ । गोविन्दके चरण-कमलमें अपने मनको निरन्तर रमाओ ॥ ८ ॥

यस्यास्तीरसीमनि विभाति भूरिशान्तिः कापि
लभ्यतेऽथ विश्रान्तिर्यदन्तर्विधुतापदम्
स्पर्शतोऽपि यस्याः परिपूताः पुरुपापिनोऽपि
पूर्णपरितापिनोऽपि याताः सुखसम्पदम् ।
पावनपरमहंसाः प्रीता यत्पुलिनपथे
पुण्यवन्नराणां या ह्युपेयते परं पदम्
किं क्रन्दामि मन्दतया, विन्दामि न केन मनाग्
गोविन्दाङ्घ्रिकञ्जमधुमन्दाकिनीमुन्मदम् ॥ ९ ॥

यस्याः अङ्घ्रिकञ्जमधुमन्दाकिन्याः तीरे कापि (अनिर्वचनीया) । यदन्तः यस्या मन्दाकिन्याः अन्तः विधुतापदं दूरीकृतापत्ति यथा

स्यात्तथा विश्रामो लभ्यते । हंसा योगिनो मरालाश्च । या हि मन्दाकिनी पुण्यवतां नराणां परमं पदम् उपेयते स्वीक्रियते । तां गोविन्दचरणकमलजां मकरन्दमन्दाकिनीम् उन्मदम् उत् उच्चैः मदः हर्षो यस्मिंस्तथा किमिति न विन्दामि ? ॥ ९ ॥

जिसके तीरपर अलौकिक शान्तिका सागर लहराता है, जिसके भीतर पहुँचनेपर आपत्ति दूर होकर विश्रान्ति मिलती है, जिसके स्पर्शमात्रसे बड़े-बड़े पापी भी पवित्र हो चुके हैं और पूर्ण-संतापी भी जहाँ सुख-सम्पत्ति पा चुके हैं, जिसके पुलिनके आसपास संसारको पवित्र करनेवाले परमहंस आनन्दमग्न रहा करते हैं, पुण्यवान् पुरुषोंके लिये जो परमपदस्वरूप मानी जाती है, गोविन्दचरणारविन्दसे प्रसृत हुई उस मकरन्दमन्दाकिनीको ही क्यों न प्राप्त करूँ, मूर्खतावश क्यों रोऊँ-पीटूँ ? ॥ ९ ॥

---

[२]

मानस-निवेदना

दीव्यत्स्वपि दिग्गजेषु निःस्पन्दो य आसीत्सदा
शैलमिमं दोष्णा यो दधार व्रजभीनुदम्
यस्य पदपङ्केरुहमञ्जुमकरन्दो वत
भूरिभक्तवृन्दोन्मदमादधात्यरुंतुदम् ।
भक्तजनानन्दो यो हि हिन्दोलाधिरोहसुखैः
काङ्क्षति कलिन्दोद्भवतटिनीतटेऽम्बुदम्
मानसमिलिन्दोचितचारुचरणारविन्दो
गोविन्दो हसन्मुखारविन्दो दिशतान्मुदम् ॥ १० ॥

यः गोवर्द्धनशैलः दिग्गजेषु दीव्यत्स्वपि क्रीडत्स्वपि निःस्पन्द आसीत्, व्रजभीनुदं व्रजभयदूरीकारकम् इमं गोवर्द्धनशैलं यः दोष्णा भुजेन दधार । यस्य गोविन्दस्य पदकमलमकरन्दः अरुंतुदं मर्म्मस्पर्शि यथा स्यात्तथा भूरिभक्तवृन्दानाम् उन्मदं हर्षम् आदधाति । भक्तजनान्

आनन्दयति यः सः, हिन्दोलाधिरोहणसुखकारणेन । सुखैरिति हेतौ तृतीया । कालिन्दीतटे अम्बुदं काङ्क्षति । यः कृष्णो दोलाधिरोहणसुखार्थं यमुनातटे मेघं वाञ्छति, मेघे वर्षत्येव तस्यानन्द इत्याशयः ॥ १० ॥

दिग्गजोंके क्रीड़ा करनेपर भी जो अचल रहा; इन्द्र-कोप-जनित व्रजके भयको दूर करनेवाले उस गोवर्धन पर्वतको जिन्होंने एक भुजापर धारण कर लिया; जिनके चरण-कमलका मकरन्द बहुत-से भक्तवृन्दोंको मस्त कर देता है; भक्तजनोंको आनन्द देनेवाले जो झूलनेके सुखके लिये यमुना-के तटपर मेघोंकी उपस्थिति चाहते हैं तथा मनरूपी भौंरेको प्रसन्न करने लायक जिनका चरणारविन्द है; हँसते हुए मुखवाले वे गोविन्द हमको आनन्द दे ॥ १० ॥

यत्पदपयोजमधुबिन्दोर्माधुरीभिः सार्द्ध-
मिन्दोरपि साधुसुधास्यन्दो न धरेत माम्
येन पुरा पापिनोऽपनीता भवबन्धोषिता
दीनमिमं दोषैरेष किं वा प्रहरेत माम् ।
मन्दोऽस्ययि मञ्जुनाथ किं दोलितचित्तो भासि
स्वच्छन्दोऽवगच्छन्निदं लोके विहरेत माम्
सर्वसुखसंदोहोपचायिचरणारविन्दो
गोविन्दो गभीरभवसिन्धोरुद्धरेत माम् ॥ ११ ॥

यस्य गोविन्दस्य पदकमलमधुबिन्दोः माधुर्यैः सह इन्दोः सुधा-स्यन्दोऽपि माम् शोभाम् न धरेत, पदकमलस्य एकस्य मधुबिन्दोर्माधुर्येण सार्द्धं चन्द्रसुधानिर्झरस्यापि साम्यं नास्तीत्याशयः । येन पूर्वम् भवबन्धपतिताः पापिनः अपनीताः उद्धृताः, एषः अयं गोविन्दः दोषैः दोषकारणेन किं मां दीनं प्रहरेत ताडयेत् ? अपि तु नेत्याशयः । हे मञ्जुनाथ ! त्वं मन्दः किं संशयितचित्तोऽसि ? अहं तु इदम् अवगच्छन् लोके स्वच्छन्दः सन् अत्यन्तं विहरामि किं जानन्, तदाह—सर्वसुख-समूहस्य उपचायकं वर्द्धकं चरणारविन्दं यस्य सः गोविन्दः गभीरात् भवसागरात् माम् उद्धरेत ॥ ११ ॥

जिनके पद-कमलके मकरन्द-विन्दुकी मधुरताके साथ चन्द्रमाके अमृत-निर्झरकी भी समता नहीं हो सकती, जिन्होंने संसारबन्धनमें पड़े हुए पापियोंका भी उद्धार कर दिया, वे ही हरि दोषोंके कारण क्या इस दीनपर प्रहार करेंगे ? हे मञ्जुनाथ ! तू मूर्ख है, संशयित-चित्त क्यों हो रहा है ? मैं तो यह समझकर इस लोकमें स्वच्छन्द विहार करता हूँ कि जिनके चरणारविन्द सब प्रकारके सुखसमूहोंकी वृद्धि करनेवाले हैं, वे गोविन्द अथाह भवसागरसे मेरा उद्धार कर देंगे ॥ ११ ॥

गौणं गृणन् गोविन्दस्य गुम्फितगुणानुवाद-
मन्यग्राम्यगीतान्येव गायसि गुरुस्वरे
साधुस्वरमाधुरीमुपायसि पिकस्वरेषु
वेणुरवे विष्णोर्न तां विन्दसि विकस्वरे ।
मञ्जुनाथ मधुरमुदीक्ष्य मोदमानो यासि
दृष्टिं न ददासि मुदा जातु जगदीश्वरे
साधारणसौख्यकृते मा धावस्व मूढ ! मुधा
राधारमणाङ्घ्रिकञ्जमाधारीकुरुष्व रे ॥ १२ ॥

गुम्फितं कवितया निबद्धं गोविन्दस्य गुणानुवादं गौणं यथा स्यात्तथा गृणन् गायन् त्वम् अन्यानि ग्राम्यगीतान्येव नायिकानगरवर्णनादीनि गुरुस्वरे महति स्वरे गायसि । कोकिलस्वरेषु उत्तमस्वरस्य माधुर्यम् उपायसि (लभसे जानासि वा) । विकस्वरे विकासशालिनि कृष्णस्य वंशीरवे तां माधुरीं न विन्दसि । मधुरं किञ्चिदपि वस्तु वीक्ष्य प्रसन्नस्त्वं तत्समीपे यासि, जगदीश्वरे (यो हि माधुर्याणां परा काष्ठा) तस्मिन् दृष्टिं न ददासि ॥ १२ ॥

गोविन्दके गुणानुवादको गौणभावसे गाते हुए तुम अन्य ग्राम्यगीतोंको ही ऊँचे स्वरमें गाते हो । कोकिलके स्वरमें स्वरमाधुर्य समझते हुए तुम विष्णुके विकासशाली वंशीरवमें कुछ भी माधुर्य नहीं पाते । हे मञ्जुनाथ ! (आपात-) मधुर वस्तुको देखकर तुम बड़ी प्रसन्नतासे उसके समीप जाते हो, किंतु जगत्के स्वामीकी ओर हर्षपूर्ण दृष्टि कभी नहीं डालते । मूढ़ !

साधारण सुखके लिये मत दौड़ो, श्रीराधारमणके चरण-कमलका आश्रय लो॥१२॥

मोदमयमञ्जुलतामेवमवलोक्य यस्य
मेदुरमृगाङ्कमञ्जिमानमप्यपासीथाः
उन्मीलन्महोत्पलेषु मूढ ! मधु मार्गसि किम्
मेदिन्याममुष्यां माधुरीं तां न प्रशासीथाः ।
मञ्जुनाथ माधुरीविमुग्धो महीमाहिण्डसे
मोहकमरीचिकायामधुनाप्युदासीथाः
माधुरीमभीप्ससि यदीह मञ्जिमाधुरीण
मानस ! मुकुन्दमुखमाधुरीमुपासीथाः ॥ १३ ॥

यस्य मुखस्य मोदमयीं मञ्जुलतां वीक्ष्य सान्द्रस्निग्धस्य चन्द्रस्य सुन्दरतामपि अपासीथाः दूरीकुर्याः । हे मूढ ! फुल्लमहाकमलेषु मकरन्दं किं मार्गसि अन्विष्यसि ? अस्यां पृथिव्यां ताम् मुखगताम् माधुरीं न प्रशासीथाः न प्रशंसितुं प्राप्नुयाः। आहिण्डसे निष्फलं भ्रमसि । मोहकमरीचिकाविषये अधुनापि उदासीथाः तटस्थो भवेः । मञ्जिमविषये आ समन्तात् धुरीण श्रेष्ठ हे मानस ! यदि माधुरीं वाञ्छसि तर्हि मुकुन्दमुखमाधुरीं सेवेथाः ॥ १३ ॥

अरे मूढ़ मन ! खिले हुए बड़े-बड़े कमलोंमें माधुरी क्या खोजते हो ? जैसी माधुरी तुम चाहते हो, वह इस पृथ्वीपर तुम्हें वर्णन करनेको नहीं मिलेगी । जिस मुखकी मोदमयी माधुरीको देखकर तुम पूर्ण चन्द्रमाकी सुन्दरताका भी तिरस्कार कर दोगे, उस माधुरीके लिये मुग्ध होकर भूमण्डलमें भटकते फिरते हो ! इस मृगतृष्णासे अब भी विरत हो जाओ । मधुरताके पारखी अरे मन ! यदि तुम माधुरी चाहते हो तो उस मुकुन्दकी मुख-माधुरीका सेवन करो ॥ १३ ॥

दीपितदिनादौ दलदिन्दीवरशोभाहारि
प्रणयिपुलिन्दी जनजीवनमवेक्ष्यताम्
अमरविमार्गणीयमञ्जुमकरन्दभरै-
र्मुनिमधुपानां मनोमोहकमुदीक्ष्यताम् ।

सविधमुपागतानां पूर्णपरितापहरं
दुर्मदैर्दुरापमिति सपदि समीक्ष्यताम्
विन्दसि किमन्यन्मम मानसमिलिन्द मनाक्
श्रीगोविन्दचारुचरणारविन्दमीक्ष्यताम् ॥ १४ ॥

यत् चरणारविन्दम् दीपितदिनादौ दीपिते मेघावरणादिशून्यतया प्रकाशशालिनि दिनस्य मुखभागे दलतः इन्दीवरस्य शोभाहारि । प्रणयिनः पुलिन्दीजनस्य गोपीजनस्य यत् जीवनभूतम् अवेक्ष्यतां विचार्यताम् । असरैरपि प्राप्तुमन्वेषणीयैः मकरन्दसंदोहैः । यत् चरणरूपमरविन्दं समीपागतानां पूर्णतापहरम्, दुर्मदैः अभिमानिभिः च दुर्लभमिति विचार्यताम् ॥ १४ ॥

देखो, जो चरण प्रातःकालके खिले कमलकी भी शोभाको मात करनेवाले हैं और गोपीजनोंके जीवन हैं। देखो—देवता भी जिनके लिये तरसें, ऐसे मकरन्दोंसे जो मुनिरूपी मधुकरोंका भी मन मोह लेते हैं, समीप आनेवालोंका भी जो सम्पूर्ण परिताप दूर कर देते हैं तथा यों समझो कि जो अभिमानियोंके लिये दुर्लभ हैं, मेरे मनरूपी भ्रमर! उन श्रीगोविन्दके चरण-रूप कमलको ही जरा देखो न; और कमलको क्या खोजते हो? ॥ १४ ॥

कुहनाकराले किल कृच्छ्रकलिकाले नृणां
भक्तिर्मुक्तिदात्री व्रजपाले निगमचर्चेयम्
जानतोऽपि चैतज्जडबुद्धेर्जनिर्जीर्णाभव-
ज्ज्ञातु न विजीर्णा किन्तु जाठरी मदर्चेयम्।
भारति! भवद्विभूतितः स्याद्भावना मे मनाक्
येन यदुनायकमनोज्ञमूर्तिमर्चेयम्
चेतसि चरेच्च चिन्ताचक्राणि विमुच्य वाणि!
चारुचक्रपाणिचरणारविन्दचर्चेयम् ॥ १५ ॥

कुहनया कपटेन कराले कृच्छ्रेऽस्मिन् कलिकाले, व्रजपाले कृष्णे भक्तिः नृणां मुक्तिदात्री इति इयं निगमस्य ऋचा वेदवाक्यम्। एतज्जानतोऽपि जडबुद्धेर्मे जनिः जीर्णा जन्म गतप्रायम्। किन्तु जाठरी जठर-

सम्बन्धिनी मम अर्चा इयं न विजीर्णा । हे सरस्वति ! भवद्वैभवादेव मे, किंचिद्विचारो भवेत् येनाहं भगवन्मूर्तिम् पूजयेयम् । किंच हे वाणि ! चिन्तायाः चक्राणि आवर्तान् विहाय मे चेतसि भगवत्-चरणारविन्दचर्चा इयं चरेत् ॥ १५ ॥

कपट-घटनाओंसे कराल इस कठिन कलिकालमें श्रीकृष्णकी भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है, यह वेदवाक्य है। यह जानते हुए भी इस जडबुद्धि-का जीवन जीर्ण हो गया, किंतु पेटपूजा जीर्ण न हुई। हे भारती ! आपके वैभवसे ही मेरे अंदर कुछ विचारशक्ति जाग्रत् हों, जिससे मैं यदुनायक श्रीकृष्णकी मधुर मूर्तिका अर्चन करूँ। और हे सरस्वती ! चिन्तासमूहोंको दूर ठेलकर चक्रपाणिके चारु चरणारविन्दोंकी चर्चा ही चित्तमें विचरती रहे ॥ १५ ॥

नन्दादिव्रजौकसामभूत् स नूतनानन्दाय
पूतनां निमथ्नन् यो हि वक्षसि निषद्य ताम्
कंसं ध्वंसमानीयाथ येन शिशुपालोऽकारि
कालोदरगामी पुरा योऽगात्पारिषद्यताम् ।
मुरमवमथ्नता व्यपोथि येन भौमासुरः
कौमारमहारि नृपकन्यानां विविद्यताम्
दर्पितदनुजवधूवीक्षणेषु वर्षागमो
गोविन्दो ममाद्य मनोहर्षायोपपद्यताम् ॥ १६ ॥

यः गोविन्दः पूतनाया वक्षसि निषद्य स्थित्वा तां पूतनाम् निमथ्नन् संहरन् नन्दादिव्रजवासिनां पूर्वतो नूतनहर्षायाभूत् । पुरा यः शिशुपालः शापतः पूर्वम् स्वस्य पारिषदताम् अगात् सः येन गोविन्देन मृत्यूदरशायी कृतः, इति विविद्यताम् ज्ञायताम् । भौमासुरबन्दी-कृतानां नृपकन्यानां येन कौमारं दूरीकृतम् ताः परिणीतवानित्यर्थः । दर्पः संजातो येषां तेषां दनुजानां वधूलोचनेषु प्रावृट्सदृशः, पतिविरहे निरन्तरमश्रुवर्षाकारकत्वात् ॥ १६ ॥

वक्षःस्थलपर बैठकर पूतनाके प्राणोंको पीते हुए जो व्रजवासियोंके लिये नवीन आनन्दके कारण बने; कंसका विध्वंस करके जिन्होंने शिशुपालको भी कालके उदरमें भेज दिया, जो पहले उन्हींका पार्षद था; मुरको मारकर भौमासुरका भी जिन्होंने संहार किया और भौमासुरके द्वारा बन्दीकृत राजकन्याओंका पाणिग्रहण करके उनका कुँआरपन दूर किया; अभिमानी दैत्योंकी स्त्रियोंके नेत्रोंमें जिन्होंने उनके पतियोंका वियोग कराके अश्रुवर्षाके रूपमें पावस ऋतुका दृश्य उपस्थित कर दिया, वे श्रीगोविन्द हमारे मनको हर्षित करें ॥ १६ ॥

मूर्द्धनि मनोज्ञमणिमञ्जुलमुकुटधारी
कुन्तलकलापमनोहारी मुखपद्धतौ
चञ्चलानुकारी कटिदेशे भाति पीतपटो
मोदमुपयाति गोपनारीजनसंहतौ ।
मञ्जुनाथ दारुणदवौघपरिहारी सतां
भक्तजनमानसविहारी साधुसंगतौ
मनसि मुनीनामपि मन्दमन्दचारी चिरात्
सोऽयं सुखकारी मे मुरारी रमतां मतौ ॥ १७ ॥

मनोज्ञैः सुन्दरैः मणिभिर्मञ्जुलं मुकुटं धारयति सः मुखपद्धतौ मुखदेशे कुन्तलसमूहेन मनोहरः । चञ्चलानुकारी विद्युत्सदृशः । सज्जनानां दारुणदुःखसमूहं परिहरति तच्छीलः । साधुसंगतौ सत्सङ्गे सति भक्तजनानां मानसे विहरति तच्छीलः । मुनीनामपि मनसि चिरात् अतियत्नोत्तरम् मन्दमन्दचारी शनैः शनैर्हृदये प्राप्तव्यः स मुरारिः मे बुद्धौ रमताम् प्रसन्नतया विहरतु । 'मुरारिः रमताम्' अत्र रेफलोपदीर्घौ बोध्यौ ॥ १७ ॥

जो श्रीगोविन्द मस्तकपर सुन्दर मणियोंसे चित्तको आकर्षित करनेवाला मुकुट धारण करते हैं, जिनके मुखके आसपास कोमल केश-कलाप सुशोभित हो रहा है, जिनकी कमरमें बिजलीके समान कान्तिवालापीताम्बर शोभित है, जो

गोपियोंकी मण्डलीमें प्रसन्नतासे विराजते हैं, किंतु जो यम-नियमका साधन करनेवाले मुनियोंके मनमें भी चिरकालसे आते हैं, अर्थात् जो साधनोंके बलसे नहीं प्राप्त होते, अपितु उनकी कृपा होनेपर ही जिनका दर्शन सम्भव है—सो भी 'मन्द-मन्दचारी' अर्थात् यम-नियमादि साधन, साधु-संगति, मनकी शुद्धि, भक्तिकी दृढता आदि सीढ़ियाँ तय करनेके अनन्तर मनमें आते हैं, सज्जनोंके दारुण दुःखोंको दूर करनेवाले तथा भगवद्भक्तोंका सङ्ग मिलनेपर भक्तजनोंके मनमें विशेष विहार करनेवाले, प्राणिमात्र-को सुख देनेवाले वे मुरारि (श्रीकृष्ण) भगवान् मेरी बुद्धिमें आनन्दसे विहार करें। 'रमताम्' (रमण करें) कहनेका तात्पर्य है कि मेरी बुद्धि ऐसी निर्मल हो जाय कि प्रभुको उसमें आनेपर प्रसन्नता ही हो, असुविधा नहीं। तभी चिरकालतक उनकी उसमें विराजनेकी आशा की जा सकती है॥

मुक्तामणिमण्डितमुकुटमधिमौलि भाति
श्रियमुपयाति कर्णकुण्डलमनायतम्
कण्ठे हीरहारावलिराविन्दति शोभामहो
सुषमावहोऽयं भाति पीतपटोऽव्याहतम्।
मञ्जुनाथ मञ्जुमिमां मूर्तिमवलोकयतो
हृदि समुदेति परितोषः कोऽप्यनाहतम्
मन्देतरशोभाशालिसुखदपदारविन्दे
राधिकागोविन्दे मनो रमतामनारतम्॥ १८॥

मुक्तामणिभिः मण्डितं मुकुटं मौलौ भाति। अनायतं नातिदीर्घं कुण्डलम्। सुषमावहः शोभाकारकः पीतपटः अव्याहतम् अवारितं यथा स्यात्तथा, बाढमिति यावत् भाति। अवलोकयतः मम परितोषः अनाहतं निरन्तरं यथा स्यात्तथा उदेति। मन्देतर (अमन्द) शोभाशालिनी सुखदे पदारविन्दे यस्य तस्मिन्। श्रीराधिकायुक्ते गोविन्दे॥ १८॥

उनके श्रीमस्तकपर मोती आदि रत्नोंसे सुशोभित मुकुट शोभा देता है; कानोंमें न बड़े, न छोटे मनोहर कुण्डल शोभित हो रहे हैं; (मनोहर)

कण्ठमें हीरोंके हार शोभित हैं। मुकुट-कुण्डल आदि स्वयं शोभित हो रहे हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि मुकुट-कुण्डल आदिसे लोकमें जिस तरह धारण करनेवालेकी शोभा होती है, वह बात यहाँ नहीं है; किंतु भगवान्-के श्रीअङ्गोंमें आनेपर मुकुट-कुण्डल आदि ही अलौकिक सुन्दरता प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार कटिमें शोभाको धारण करनेवाला पीताम्बर सुशोभित है। इस मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेवालेके हृदयमें अपने-आप एक परितोष (तृप्ति, आनन्द) उदय होता है। अमन्द शोभाको धारण करनेवाले तथा भक्तोंको सब प्रकारका अलौकिक सुख देनेवाले जिनके चरणारविन्द हैं, ऐसे श्रीराधिका और गोविन्दमें मेरा मन सर्वदा (निरन्तर) रमण करता रहे—यही भगवान्से प्रार्थना है ॥ १८ ॥

[२]

रूप-माधुरी

आशिखानखम्

विलुलितकुन्तलेषु मुकुटमुदेति मुदे
सा काचिन्मुखश्रीर्वहेद्राकापतेरल्पताम्
कण्ठे वनमाला कर्णमध्ये कर्णपूरं भाति
केयूरं दधाति भुजे शोभावधूतल्पताम्।
पीताम्बरशोभिनी निवीता रत्नकाञ्ची किञ्च
पदयोरुदीता नूपुरश्रीर्यात्यनल्पताम्
मनसि मनोभुवोऽपि पूर्णपरिक्षोभावहा
श्रीगोविन्दशोभा मनोलोभायोपकल्पताम् ॥१९॥

मुदे आनन्दाय मुकुटम् उदेति शोभते। राकापतेश्चन्द्रस्यापि अल्पतां न्यूनतां वहेत्। भुजे केयूरम् अङ्गदः शोभारूपायाः वध्वाः पर्यङ्कतां दधाति। शोभाया निवास इत्यर्थः। पीताम्बरोपरिशोभिनी रत्नमण्डिता काञ्ची

निवीता धारिता । पदयोः उदीता उद्भूता ('ईङ् गतौ' क्तः) नूपुरशोभा अनल्पताम् अधिकताम् याति । सौन्दर्यातिशयात् कामदेवस्यापि क्षोभ-कारिणी गोविन्दशोभा ॥ १९ ॥

(शिखनख)—बिथुरी हुई अलकावलिपर मोद देनेवाला मुकुट है, अनिर्वचनीय मुखशोभा पूर्णिमाके चन्द्रको भी नीचा दिखाती है । कण्ठमें वनमाला एवं कानोंमें कर्णफूल सुशोभित हैं और बाजूबंदोंने भुजाओंको शोभारूपिणी वधूका पर्यङ्क (निवासस्थान) बना दिया है अर्थात् बाजूबंदोंके कारण शोभाने मानो वहीं डेरा डाल दिया है । कटिप्रदेशमें पीताम्बरपर शोभा देनेवाली रत्नोंकी करधनी धारण कर रखी है और चरणोंमें नूपुरोंकी शोभा बहुत बढ़ गयी है । कामदेवके मनमें भी पूर्ण क्षोभ करनेवाली यह श्रीगोविन्दकी शोभा मेरे भी मनमें लोभ उत्पन्न करे ॥ १९ ॥

आनखशिखम्

हंस इव कञ्जे हीरहंसको विभाति पदे
विद्युद्द्युतिशंसकोऽथ पीतपटो वीक्ष्यताम्
वक्षसि विशाला वनमाला मञ्जु राजतेऽथ
रत्नरुचिजालावहं कुण्डलमुदीक्ष्यताम् ।
रोलम्बावलीव भाति बाढमलकावलीय-
मुपरि महार्हमणिमुकुटमयीक्ष्यताम्
सौभगेन साकं सतां सर्वसुखसाधा सदा
राधारमणस्य रूपमाधुरी निरीक्ष्यताम् ॥२०॥

कमले यथा हंसस्तथा चरणे हीरकनिर्मितः पादकटको भाति । तदुपरि विद्युत्कान्तिसूचकः । रत्नरुचिजालावहम् रत्नानां कान्तिसमूहस्य धारकम् । रोलम्बो भ्रमरः । सौभाग्येन सह सज्जनानां सर्वसुखसाधिका सर्वसुखानां साधः साधनं यया सा ॥ २० ॥

(नखशिख)—कमलोंपर हंसकी तरह चरणोंमें हीरेके कड़े और कमरमें धारण किये हुए बिजलीकी तरह पीले और चमकीले पीताम्बरकी

शोभाको निहारिये । वक्षःस्थलमें विशाल वनमाला शोभित है और (कानोंमें) रत्नोंकी कान्ति धारण करनेवाले कुण्डलोंकी ओर दृष्टि डालिये । भ्रमरोंकी भाँति अलकावलि शोभित है, जिसपर बहुमूल्य मणियोंका मुकुट देखते ही बनता है । सौभाग्यके साथ-साथ सज्जनोंके सब सुखोंको सदा सिद्ध करनेवाली राधारमणकी यह रूपमाधुरी निरखने ही योग्य है ॥ २० ॥

---

[४]

मनःप्रबोधना

मन्ये महिमानं यस्य गोवर्द्धनधारणेन
सव्रीडे मघोनि नमतीह नतापीडेऽहम्
पापिनोऽपि पूताः पुरा लब्ध्वा क्षणच्छायां यस्य
यायां किं न शान्तिं हृदि प्राप्तपूर्णपीडेऽहम् ।
शुक इव गीर्णगिरा राजपदरूढोन्मदान्
मूढो वर्द्धयामि कियद् गूढो गृहनीडेऽहम्
मानसमिलिन्दमोदिमञ्जुमकरन्दवहं
श्रीगोविन्दसुन्दरपदारविन्दमीडेऽहम् ॥२१॥

गोवर्द्धनगिरिधारणेन सव्रीडे सलज्जे अतएव नतापीडे नम्रमुकुटे मघोनि इन्द्रे इह नमति सति अहं यस्य चरणारविन्दस्य महिमानं मन्ये जानामि । यस्य चरणस्य क्षणं छायां लब्ध्वा पापिनोऽपि पूताः ! अतः प्राप्तपूर्णा पीडा येन ईदृशे हृदये अहं शान्तिं किं न यायाम्—अपि त्ववश्यं शान्तिं प्राप्नुयाम् । गृहरूपे नीडे गूढः निलीनः मूढोऽहं शुक इव गीर्णया अभिभूतया वाण्या राजपदरूढान् अतएव उन्मदान् जनान् कियद् उत्कर्षयामि । मानसरूपभ्रमरस्य मोदकं मञ्जुं मकरन्दं वहति तादृशं गोविन्दस्य पदारविन्दम् ईडे स्तवीमि ॥ २१ ॥

(कानी उँगलीपर) गोवर्द्धन उठा लेनेके कारण लज्जित हुए इन्द्रके मुकुट झुकाकर प्रणाम करनेसे मैंने जिन चरणोंकी महिमाको कुछ समझा

—नहीं-नहीं, जिन चरण-कमलोंकी क्षणभर छाया पाकर पापी भी पवित्र हो गये हैं, पूर्णतया पीडित इस हृदयमें उनका ध्यान करके क्या मैं शान्ति नहीं पाऊँगा ? घररूपी घोंसलेमें दुबका हुआ मैं तोतेकी तरह मूढ़ हुई वाणीसे राजपदारूढ इन अभिमानियोंकी कहाँतक बड़ाई करता रहूँगा । मनरूपी भ्रमरको मोद देनेवाला सुन्दर मकरन्द जिसमें भरा हुआ है, ऐसे श्रीगोविन्दपदारविन्दकी ही अब तो मैं स्तुति करूँगा ॥ २१ ॥

साधनबलेन या विमुक्तेर्जिह्मजल्पनास्ति
कष्टकरकल्पना करालेऽस्मिन् कलौ कासौ ?
भूरिभवबन्धविनिकन्दनस्य शक्तिरहो
नीतबहुयूपे यागरूपेऽप्यप्रभौ कासौ ?
मञ्जुनाथ दूरमन्यसाधनानि मुञ्चेः सखे
चेतनाद्य संचेतति ते प्रमावनौ कासौ ?
पारं भवसिन्धोरनिबन्धनेन नूनं नये-
न्नन्दनन्दनेति नामनिष्कीर्तननौकासौ ॥२२॥

सत्कर्मादिसाधनबलेन मोक्षस्य या जिह्मा कुटिला जल्पना कथनम् अस्ति, कराले अस्मिन् कलौ असौ कष्टकरकल्पना का ? कलिकाले इयं कष्टकल्पना अकिंचित्करीत्यर्थः । नीतबहुयूपे बहुतरयज्ञस्तम्भसहिते अपि अप्रभौ भवबन्धच्छेदनासमर्थे यागरूपे असौ खड्गे बहुजन्मबन्धच्छेदनस्य का शक्तिः ? अपि तु न काचित् । यज्ञरूपः खड्गो भवबन्धच्छेदने अशक्त इत्याशयः । प्रमावनौ यथार्थज्ञानस्य भूमिभूते ते तव असौ प्राणे अद्य का चेतना बुद्धिः संचेतति ? 'यथार्थज्ञानभूमौ ते आत्मनि ज्ञानादिभिरन्यसाधनैर्मुक्तिर्भवेत्' इति केयं बुद्धिर्जातेत्याशयः । नन्दनन्दनेत्यादि नामसंकीर्तनरूपा नौका अप्रतिबन्धेन भवसिन्धोः पारं नयेत् ॥ २२ ॥

यज्ञ-यागादिक साधनोंके बलसे मोक्ष-प्राप्तिकी जो यह कपटभरी (थोथी) कथा है, इस कराल कलिकालमें यह कष्टकर कल्पना कहाँतक ठीक है ? अर्थात् साधनोंके बलसे मुक्ति पानेकी आशा दुराशामात्र है;

क्योंकि बहुत-से यूपों (यज्ञ-स्तम्भों) से युक्त होनेके कारण बन्धन छुड़ानेमें सर्वथा असमर्थ (यूपसे तो पशु उलटे बाँधे जाते हैं, फिर यूपबहुल यज्ञोंसे बन्धन-मोक्षकी आशा कैसे की जा सकती है ।) यज्ञरूपी इस खड्गमें भव-बन्धन काटनेकी शक्ति कहाँ है । मित्र मञ्जुनाथ ! यथार्थ ज्ञानकी आधार-भूमि तुम्हारी आत्मामें आज यह क्या बुद्धि समायी है ! अब तो तुम्हारे लिये उचित यह है कि सब साधनोंको दूर फेंक दो । नन्दनन्दन इत्यादि नामोंके संकीर्तनकी यह नौका ही बिना रोक-टोक तुम्हें भव-सिन्धुके पार ले जायगी ॥ २२ ॥

मञ्जुनाथ पार्थिवपुरादिकं प्रशंसस्येव
निर्भरनृशंस ! निम्ननामान्यपि नित्यं शंस
केशव कलिन्दजाविहारिन् कृष्ण केलिकन्द
कैटभनिकन्द बलकीलितकरालकंस ।
वासुदेव वृन्दावनवासिन् वनमालिन् विधो
वेणुवाद्यशालिन् विश्वरूप वृष्णिजावतंस
मारवदमन्द मुरलीधर मुराभिकन्द
माधव मुकुन्द मुनिमानसमनोज्ञहंस ॥ २३ ॥

केलिकन्द आनन्दकन्देत्यर्थः । विधो विष्णो ! वृष्णिजावतंस यादवेषु भूषणायित । मारवदमन्द कामदेववत् सुन्दर । मुनिमानसरूपस्य मानसस्य सरोवरस्य हंस ॥ २३ ॥

मञ्जुनाथ ! तुमने राजा-राजनगरादिका गुणगान तो किया ही है; अब तो अरे निष्ठुर ! नीचे लिखे (केशव इत्यादि) नामोंको ही सदा रटा करो ।

नामोंके अर्थ इस प्रकार हैं—
केशव=ब्रह्मा एवं शंकरके भी स्वामी;
कलिन्दजाविहारिन्=यमुनामें विहार करनेवाले;
कृष्ण=सबको अपनी ओर खींचनेवाले;
केलिकन्द=आनन्दकन्द, सुखकी वर्षा करनेवाले मेघ;
कैटभनिकन्द= कैटभ नामक दैत्यका संहारके मिषसे उद्धार करनेवाले;

बलकीलितकरालकंस=बलपूर्वक कराल कंसको कील देने (सदाके लिये धराशायी कर देने) वाले;

वासुदेव=महामना वसुदेवजीके पुत्र, सर्वव्यापी वासुदेव;

वृन्दावनवासिन्=वृन्दावनमें (नित्य) निवास करनेवाले;

वनमालिन्=वन्य पुष्पोंकी माला धारण करनेवाले;

विधो=विष्णुके अवतार;

वेणुवाद्यशालिन्=वेणुवादनशील;

विश्वरूप=विश्व ब्रह्माण्डके रूपमें अभिव्यक्त रहनेवाले;

वृष्णिजावतंस=वृष्णिवंशियोंके शिरोमणि;

मारवदमन्द=कामदेवके समान सुन्दर;

मुरलीधर=वंशी धारण करनेवाले;

मुराभिकन्द=मुर दानवका संहारके बहाने उद्धार करनेवाले, मुरारि;

माधव=लक्ष्मीपति;

मुकुन्द=मोक्ष एवं प्रेमका दान करनेवाले;

मुनिमानसमनोज्ञहंस=मुनियोंके मनरूपी मान-सरोवरमें विहार करनेवाले मनोहर हंस ॥ २३ ॥

माधुर्यातिमुग्धमुनिमानसमिलिन्दे यत्र
मोदमधिविन्देदिन्दिरापि लग्नलालसम्
साभिलाषमाश्रितममन्दमकरन्देच्छया
वृन्दारकवृन्देनापि यस्य पदसारसम् ।
मञ्जुनाथ जीवसि जनानां स्तुतिनिन्दे गृण-
न्नुत्तरं तु किं देक्ष्यसि देवाग्रे ससाहसम्
गोविन्दे गिरापतिगवेष्यचरणारविन्दे
मन्युमील्यमानमभिनन्देन्मम मानसम् ॥ २४ ॥

यत्र पादसारसे लग्ना लालसा यस्मिन् कर्मणि साभिलाषम्, इन्दिरा लक्ष्मीः अपि मोदं प्राप्नुयात् । सारसम् कमलम् । देवाग्रे भगवत्समक्षम् (अन्ते) साहसमवलम्ब्य किमुत्तरं देक्ष्यसि दास्यसि ? मन्युना दुःखेन मील्यमानं दूयमानं मानसम् अभिनन्देत् हृष्येत् ॥ २४ ॥

मञ्जुनाथ ! लोगोंकी स्तुति-निन्दा करते हुए जीवन बिता रहे हो, (अन्तमें) भगवान्‌के समक्ष किस साहससे उत्तर दोगे ? माधुर्यके कारण मुनियोंका मनरूपी भ्रमर भी जिसपर मुग्ध रहता है—यही नहीं, जहाँ साक्षात् लक्ष्मीको भी लालसा-पूर्तिके साथ-साथ आनन्दकी प्राप्ति होती भी है; देवता लोग भी सुखरूप मकरन्दकी इच्छासे जिसके चरण-कमलका बड़ी लालसासे आश्रय लेते हैं, जिनके चरणारविन्दको वाणीके पति (ब्रह्मा) भी ढूँढ़ते रहते हैं (परंतु पाते नहीं) दुःखसे खिन्न यह मेरा मन उन्हीं श्रीगोविन्दमें रमण करे ॥ २४ ॥

[५]

सौन्दर्य-सुषमा

(भ्रुकुटी)

यस्याः क्षणवल्गनेन गोपीनिवहाय निजे
चापे शररोपी स्मरोऽसूयेद् गृहराजते
यस्याः किंचिदञ्चनेन वञ्चितहृत्पङ्केरुहा
लेभे शर्म पर्यङ्केऽपि रुक्मिणी न राजते ।
शक्तिं भ्रुवो मञ्जुनाथ मोहिनीमुदीरयामि
मोहिनीस्वरूपे मृडो मुह्येद् व्रजराज ! ते
मानिनीसमाजमौलिमुकुटीकृताज्ञा हरे !
भ्रुकुटीच्छलेन कामसुकुटी विराजते ॥ २५ ॥

यस्याः भ्रुकुट्याः क्षणं वल्गनेन चलनेन गृहराजते गृहे शोभमानाय (शत्रन्तस्य चतुर्थी) गोपीनिवहाय स्वचापे शररोपी शरसंधायकः स्मरः असूयेत् कुप्येत् (क्रुधद्रुहेति चतुर्थी) । अञ्चनेन चलनेन । राजते रजतनिर्मिते पर्यङ्के । हे मञ्जुनाथ ते भ्रुकुट्याः शक्तिं मोहनशीलां वदामि, यतः हे व्रजराज ! ते मोहिनीस्वरूपे मृडः शिवः मुह्येत् । मोहिनीरूपे त्वद्भ्रुकुटिचलनेन शिवोऽपि मोहितस्ततस्ते भ्रुवः शक्तिं मोहनशीलां वदामी-

त्याशयः। मानयुक्तानामपि महिलानां समाजेन मौलेः मुकुटवद् भूषणीकृता आज्ञा यस्याः सा, कामस्य सु सुभगा कुटी निवासस्थानम्। 'राजते' पदस्य चतुर्धा निर्वाहः प्रेक्ष्यः॥ २५।

जिस भ्रुकुटीके थोड़े ही चालनसे, अपने गृहमें सुशोभित गोप-ललना-वृन्दके प्रति कामदेव धनुषपर बाण चढ़ाये क्रुद्ध हो जाते हैं, जिस (भ्रुकुटी) के किंचित् चलनेसे हृदयसे ठगी श्रीरुक्मिणी चाँदीके पलंगपर भी चैन नहीं पाती, हे व्रजराज ! आपकी उस भ्रुकुटीकी शक्तिको इसीलिये मैं मोहिनी (मोहित कर देनेवाली) कहता हूँ; क्योंकि आपके 'मोहिनी' स्वरूपपर साक्षात् शिव भी मोहित हो गये, दूसरे किसीकी तो बात ही क्या। हे हरि ! मानवती नायिकाओंने भी जिसकी आज्ञाको माथेका मुकुटमणि बनाया—सिर चढ़ाया, वह आपकी भ्रुकुटी क्या है, कामदेवकी सुन्दर कुटी (निवासस्थान) है॥ २५॥

(लोचने)

मध्यगमिलिन्दमपि मन्दीभवेत् कुन्दमिह
दीनमिदमिन्दीवरमुपमां न विन्दते
लज्जितमिव मज्जति पयस्सु मीनयुग्ममहो
हीनकान्ति खञ्जनमिथुनमवक्रन्दते।
दनुजकुलानि विकलानि ययोः शोणरुचा
कोणमप्यवाप्य ययोर्मुक्तिरपि वन्दते
मञ्जुमृगरोचनेऽप्यलभ्यरुचिरोचनेन
लोचने कुरङ्गमदमोचने मुकुन्द ते॥ २६॥

मध्यगतो मिलिन्दो यस्य ईदृशमपि कुन्दपुष्पं ययोर्लोचनयोरग्रे मन्दीभवेत्। श्वेतं कुन्दं मध्ये भ्रमरश्च कनीनिकास्थानीयः, तथापि इदं नेत्राग्रे पराजितं भवतीत्याशयः। इन्दीवरमपि उपमां साम्यम् न लभते अवक्रन्दते पराजितत्वात्क्रन्दति। क्रोधवशात् ययोः (नेत्रयोः) शोणकान्त्या दैत्यकुलानि व्याकुलानि भवन्ति। ययोर्नेत्रयोः कोणपाते मुक्तिरपि मनुष्यं

वन्दते । भगवत्कृपापाङ्गेन मुक्तिरपि मनुष्यस्य वशगा भवतीत्याशयः । श्यामवर्णे मृगरोचने कस्तूर्याम् अपि अलभ्यया रुच्या कान्त्या रोचनेन शोभया । मृगरोचनतोऽप्यधिकश्यामशोभाकारणात् हरिणगर्वमोचने ते लोचने ॥ २६ ॥

जिन नेत्रोंके आगे भ्रमरसे संयुक्त कुन्द (पुष्प) भी फीका दिखायी देता है; विचारा नीलकमल भी जिनकी समता नहीं पाता; मीनयुगल भी जिन्हें देखकर लज्जाके मारे पानीमें डूब जाता है; खञ्जनयुगल भी पराजित होकर बिलखने लगता है; जिनकी थोड़ी-सी ललाईसे (अर्थात् क्रोधसे) दैत्यकुल व्याकुल हो जाते हैं; मनुष्यपर जिनका कटाक्ष-मात्र पड़ जानेसे मुक्ति भी उसके सम्मुख हाथ बाँधे खड़ी रहती है; हे मुकुन्द! मृगरोचन (कस्तूरी) में भी दुर्लभ श्यामकान्तिके कारण आपके लोचन कुरङ्ग (हिरन) के भी मदमोचन (गर्वहारी) हैं ॥२६॥

वंशीरवः

निर्भरं निशम्य गृहे प्रणयिपुलिन्दीगणो
मन्दीकृतमोहो जहौ कान्तादिककामनाम्
यं श्रुत्वैव कालिन्दीयकच्छे व्रजधेनवोऽपि
निःस्पृहं नियच्छेयुः स्वभोज्यादिकभावनाम् ।
मञ्जुनाथ मूर्च्छनासनाथो व्यश्नुवानो व्योम्नि
यो वै वनमालिन् वितनोति सुखसाधनाम्
नाथ ! तदयं शीलितहर्षस्तव वंशीरवो
निभृतनिरंशीकुरुस्तान्मे भववासनाम् ॥ २७ ॥

यं रवम् निशम्य गोपीगणो निजवल्लभादिकामनां त्यक्तवान् । स्वभोज्यादेः तृण-भक्ष्य-जलपानादेः भावनां नियच्छेयुः निरुन्ध्युः । मूर्च्छनाभिः स्वरसंतानविशेषैः सनाथः व्यश्नुवानः व्याप्नुवन् यः रवः शीलितः (लोकानां) हर्षः प्रमोदनम् येन सः । निभृतं यथा तथा निरंशीकुरुतात् निःशेषीकुरुतात् ॥ २७ ॥

जिस वंशीध्वनिको अपने घरमें सुनकर प्रेमी गोपिकागणने दुनियाका

मोह और पति आदिकी कामना छोड़ दी, यमुनाके तटपर जिसे सुनकर व्रजकी गायोंतकने खाने-पीनेकी सुधि भुला दी, हे वनमाली ! मूर्च्छनाओं (तानों) के साथ व्रजके गगनमें व्याप्त जो (ध्वनि) सबका सुख-साधन करती थी, हे भगवन् ! हर्षोत्पादक आपका वह वंशीरव हमारी संसार-वासनाओंको निःशेष करे ॥ २७ ॥

---

[६]

आशंसा

भक्तभविकाय व्रजभूमौ यो विहारमयन्
दीनानुज्जहार स हि कृष्णः केलिकारी मे
यो वै गोपशावानवति स दीप्तदावानला-
च्चिन्तयेत्स किं न भवचिन्तां चित्तचारी मे ?
मञ्जुनाथ कस्माद् विमनायसे विमूढतया
दैन्यमवयाति स हि गोवर्द्धनधारी मे
नीरदानुहारी पापपुञ्जपरिहारी वृन्दा-
विपिनविहारी स हि भूयाद् भयहारी मे ॥ २८ ॥

भक्तानां भविकाय कल्याणाय विहारम् अयन् गच्छन्, विहरन्निति यावत् । मे केलिकारी आनन्दकारी गोपशावान् गोपबालकान् । स चित्तचारी नित्यं मनसि वसन्नपि मे भवजनितचिन्तां किं न चिन्तयेत् ? अपि त्ववश्यं विचारयेदित्यर्थः । अवयाति जानाति । नीरदम् अनुहरति अनुकरोति सः ॥ २८ ॥

भक्तोंके कल्याणके लिये व्रजभूमिमें विहार करते हुए जिन्होंने अनेक दीनोंका उद्धार किया, वे ही श्रीकृष्ण मुझे भी आनन्द देनेवाले हैं । जिन्होंने प्रदीप्त दावानलसे गोपबालकोंको बचाया था, मेरे चित्तमें विराजनेवाले वे भगवान् क्या मेरी सांसारिक चिन्ताकी सुधि नहीं करेंगे ? मञ्जुनाथ ! अपनी मूढ़तावश क्यों उदास होते हो ? वह गोवर्धनधारी मेरी दीनताको जानता है । मेघ-सदृश वर्णवाले, पापपुञ्जका परिहार करनेवाले वे वृन्दावन-विहारी मेरे भयहारी हों ॥ २८ ॥

गोवत्सापहारात्स स्वयं भूमनि दार्ढ्यमयन्
लज्जितः स्वयम्भूरप्यपप्तत् पद्सारसे
साक्षाल्लोकलक्ष्मीः पादसंवाहनशीलाभव-
च्छेषोपरि यस्मिन् स्वापलीलालवलालसे।
मञ्जुनाथ लीलयैव नन्दाङ्गनचारी यो हि
कल्मषापहारी नृणां कीर्तनकथारसे
स्वेच्छयावतंसीकृतचारुबर्हिपिच्छो मम
कंसकुलध्वंसी सोऽनिशं सीदतु मानसे ॥ २९ ॥

गोवत्सानामपहरणात् (हेतोः) भूमनि महत्त्वे स्वयं दृढतां गच्छन् अत एवं लज्जितः स्वयम्भूः ब्रह्मापि यस्य पद्सारसे पदकमले अपप्तत् पपात। यस्मिन् (कृष्णे) शेषस्योपरि स्वावलीलालवलालसे शयनेच्छांशवशीभूते सति लोकलक्ष्मीः पादसंवाहनशीला अभवत्। कीर्तनकथारसे कीर्तनकथाया आनन्दे भवति सति यः नृणां कल्मषापहारकः। सीदतु तिष्ठतु ॥ २९ ॥

ब्रह्मा भी गाय-बछड़ोंको चुरानेके कारण जिनकी महिमाको दृढ़तापूर्वक जानते हुए (क्योंकि चुराकर ले जानेपर भी व्रजमें गोप और बछड़े आदि वैसे-के-वैसे थे) लज्जित होकर जिनके चरण-कमलोंमें आ पड़े थे; जिस समय आप शेष-शयन-लीला प्रारम्भ करनेकी तनिक भी इच्छा करते हैं, उस समय साक्षात् लोक-लक्ष्मी भी जिनकी चरण-सेवा करती हैं; लीलासे नन्दके आँगनमें खेलनेवाले जो अपनी चरित्र-कथाके रससे लोगोंके पातक दूर करते हैं, अपनी इच्छासे मयूरपिच्छका मुकुट धारण करनेवाले वे कंस-विध्वंसक भगवान् मेरे मनमें निरन्तर विराजमान रहें ॥ २९ ॥

[७]

कारुण्यम्

गाढोन्मदगोत्रभिदो गर्वं गञ्जयिष्यन् भवान्
ग्रावपतिगोवर्द्धनमग्रहीन्न किंतमाम्

गोकुलानि गोपान् गजगामिनीश्च गोपितवान्
गालितवान् गीर्वाणेशगौरवगतिं समाम् ।
गोपायसि गाढमनुग्राही गजराजं गुरो !
गृध्रगुहगणिकास्वपीह गाहसे क्षमाम्
गहनगभीरभवगर्तगृह्यमाणमिमं
श्रीगोविन्द ! गीतगुणगरिमन्न गर्ह माम् ॥ ३० ॥

अत्यन्तोन्मदस्य गोत्रभिदः इन्द्रस्य । ग्रावपतिं गिरिराजं गोवर्द्धनं भवान् किंतमाम् किम् न अग्रहीत् ? अपि त्ववश्यमग्रहीदित्यर्थः । गजगामिनीः गोपस्त्रियः । गीर्वाणेशस्य इन्द्रस्य समां सर्वां गौरवगतिं गौरवसरणिम् गालितवान् ध्वस्तवान् गलधातोर्णिजन्तात् क्तवतुः । गाढमनुग्राही सुभृशं दयाकारी गहनेन कलिलतया दुर्निर्गमेन गभीरेण च भवगतेन गृह्यमाणं निगडितम् इमं माम् । गीतं गुणगरिमा यस्य तत्संबुद्धौ, हे गोविन्द ! मां न गर्ह निन्द, किंतु दयया उद्धरेत्यर्थः ॥ ३० ॥

अतिगर्विष्ठ इन्द्रके गर्वको गञ्जन करनेके लिये क्या आपने गिरिराज गोवर्धनको धारण नहीं किया था और इस प्रकार गो-समूह एवं गोप-गोपियोंकी रक्षा नहीं की । देवराज इन्द्रकी सम्पूर्ण गर्वगतिको नहीं गलित किया । हे लोकगुरु ! अति दयालु आपने गजराजकी रक्षा की । गृध्र (जटायु), निषाद (गुह) और गणिकापर भी आपने अनुकम्पा की । आपकी गुण-गरिमाका लोग निरन्तर गान करते हैं । अतः हे गोविन्द ! गहन-गँभीर भवगर्त (संसाररूप खड्ड) में पड़े हुए मेरा तिरस्कार (उपेक्षा) न करिये ॥ ३० ॥

माधव मुकुन्द मधुसूदन मुरारे हरे
दामोदर देव दनुजारे न जहाहि माम्
कीर्तिसुताकान्त कंसकालियविमर्दिन् कृष्ण
कैटभनिकन्दिन् कमलापतेऽनुयाहि माम् ।

गोपीनाथ गोकुलेश गौर गरुडध्वज हे
श्रीगोविन्द गोवर्द्धनधारिन्नवयाहि माम्
पीताम्बर पद्मनाभ पूतनानुकम्पिन् प्रभो
पुण्डरीकनेत्र भवभोगात् परिपाहि माम् ॥ ३१ ॥

माम् अवयाहि जानीहि ॥ ३१ ॥

दनुजारे—दैत्योंके शत्रु हे भगवन् ! मेरा त्याग न करिये । कैटभ-निकन्दन—हे कैटभको मारनेवाले मेरी सहायता करिये । प्रभो, मैं कैसा दीन हूँ—मुझे आप जान लीजिये और इस संसाररूपी नरकके भोगसे मुझे बचाइये ॥ ३१ ॥

वृन्दावनमेत्य नित्यनन्दाङ्गनवासी यो हि
भूरिभक्तवृन्दानामसाधयत् सहायताम्
गोपप्रमदालिं दीप्तमदनामपास्य ययौ
कालिन्दीतटेऽस्याः परिचेतुं वीतमायताम् ।
मञ्जुनाथ नित्यं मुनिमानिनामलभ्योऽप्यभूद्-
यो वै सुखलभ्यो भूरिभक्त्या गुणं गायताम्
नीलजलदालीसममञ्जुमूर्तिशाली सदा
सोऽयं वनमाली प्रतिपाली मम जायताम् ॥ ३२ ॥

नित्यं नन्दाङ्गने नन्दगृहे वसति तच्छीलः । कालिन्दीतटे उद्दीप्तकामां गोपप्रमदालिं गोपीमण्डलीम् अपास्य विहाय अस्याः गोपीमण्डल्याः वीतमायतां निष्कपटतां परिचेतुं परीक्षितुं ययौ अन्तर्दधौ । आत्मानं मुनिं मन्यमानानां साधकानां नित्यम् अलभ्योऽपि यः भक्त्या गुणं गायतां भक्तानां सुखलभ्यः अभूत् प्रतिपाली प्रतिपालकः, पातेर्णिनिः ॥३२॥

वृन्दावनमें आकर नन्दके आँगनमें निवास करते हुए जिन्होंने बहुत-से भक्तगणोंकी सहायता की, यमुनातटपर प्रेम-परवश गोपिकासमूहको छोड़कर उनके प्रेमकी निश्छलताकी परीक्षा करनेके लिये जो अन्तर्धान हो गये तथा अपने-आपको मुनि माननेवालोंके लिये अप्राप्य होकर भी जो भक्ति-

पूर्वक गुण-गान करनेवालोंके लिये सुलभ हो गये, नीलमेघपंक्तिके समान सुन्दरमूर्तिशाली वे वनमाली मेरे सदा प्रतिपालक हों ॥ ३२ ॥

नीरधौ निमज्जन्तं जुगोप गजराजं यो हि
येन गुहराजं प्रति दत्ता दृग् विमायिनी
करुणा कृताभून्महामलिनेऽप्यजामिलेऽपि
गृध्रे दुरिताविलेऽपि यत्कृपा ह्युपायिनी ।
पूतनापि पूता पुण्यकणिकापि नासीद्यत्र
गणिकापि क्लृप्ता कापि दैवतातिशायिनी
निस्सहायनिर्बलनिरीहजनाधारे मम
देवकीकुमारे रतिरास्तामनपायिनी ॥ ३३ ॥

विमायिनी निष्कपटा दृक् कृपादृष्टिः । दुरितैः आविले मलिने गृध्रेऽपि, यस्य कृपा हि उपायिनी उपगन्त्री । दैवतातिशायिनी देवेभ्योऽपि उत्कृष्टा । क्लृप्ता कृता । अनपायिनी अव्यया रतिः प्रीतिः अस्तु ॥ ३३ ॥

जलाशयमें डूबते हुए गजराजकी जिन्होंने रक्षा की और निषादराज गुहपर जिन्होंने निश्छल कृपादृष्टि की; महापापी अजामिलपर भी जिन्होंने करुणाकी वृष्टि की तथा पापमलिन गृध्र भी जिनकी कृपासे वञ्चित नहीं रहा, उसे भी जिनकी कृपाने सँभाल लिया; जिसमें पुण्यका कणमात्र भी न था, ऐसी पूतना भी जिनके स्पर्शसे पवित्र हो गयी तथा जिन्होंने गणिकाको भी देवताओंसे बढ़कर पवित्र बना दिया—निस्सहाय, निर्बल और निःस्पृह दीनजनोंके आधार उन देवकीकुमारमें मेरा दृढ़ प्रेम हो ॥ ३३ ॥

---

[८]

जीवन-संध्या

ज्ञानमक्षराणां किंचिदासीद्दयया ते पुरा
जीवनप्रभाते यतो ज्योतिरुद्भवेद् विभो !
तदनु कवित्वकला प्रौढिर्ग्रन्थनिर्माणादि
यस्मात्साधुसम्मानादि सर्वं सम्भवेद्विभो !

साम्प्रतं त्वजानन्नुपरामसमयं मे जनाः
किं मे लोकरञ्जनादिदम्भैः सम्भवेद्विभो !
केवलं पदाब्जे तव नित्यमिदं संध्यायामि
जीवनस्य संध्या मम वन्ध्या न भवेद्विभो ॥ ३४ ॥

जीवनस्य प्रभाते आरम्भे यतो ज्योतिः प्रकाशः कर्तव्याकर्तव्यबोधः उद्भवेत् तादृशम् अक्षराणां ज्ञानं ते कृपयाभवत् । यस्मात् काव्यकला-प्रौढताग्रन्थनिर्माणादिकर्तव्यात् । जना मे उपरामस्य कार्यविश्रमस्य समय-मजानन् । अहं कदाचिन्न जाने किंतु जना मां कार्यतो विश्रामस्य योग्य-मजानन् । लोकरञ्जनादिरूपैर्दम्भैः पाखण्डैः । संध्यायामि ध्यानं कृत्वा निवेदयामि ॥ ३४ ॥

हे प्रभो ! आपकी दयासे पहले कुछ अक्षरोंका ज्ञान हुआ, जिससे जीवनके प्रभातमें कुछ ज्योति जगती है । उसके बाद कविताकला, उसमें प्रौढ़ता, ग्रन्थ-निर्माण आदिकी क्षमता प्रकट हुई, जिससे सज्जनोंके द्वारा सम्मानकी सम्भावना होती है । किंतु अब जब मनुष्योंने मेरे विश्रामका— कार्यसे विराम लेनेका समय जान लिया, लोगोंका अनुरञ्जन करनेके ढोंगसे क्या लाभ । अब तो आपके चरणोंमें यही नित्यप्रति प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभो ! मेरे जीवनकी संध्या निष्फल न चली जाय ॥ ३४ ॥



[९]

मनः-प्रमोदः

दीनोद्धारहेतोर्यो हि भूमिमभ्युपेतोऽभवत्
तस्यैव च चेतो वद दीनान् वर्जयेत किम् ?
येन परिपूताः पुरा विमुखविरोधिनोऽपि
दीनोद्धरणोऽपि स कठोरतां श्रयेत किम् ?
आपामरमेष पर्यचायि कृपासिन्धुरिति
सोऽयं दीनबन्धुरिति विरुदं हरेत किम् ?

कर्मपराधीनां मम दृष्ट्वापि च दीनां दशां
दीनानां दयालुर्मयि दीने न दयेत किम् ॥ ३५ ॥

तस्यैव दीनोद्धारकस्य चेतः किं दीनान् वर्जयेत दूरीकुर्यात् न कुर्यादित्यर्थः । विमुखविरोधिनः अजामिलपूतनादयः । एषः कृपायाः सिन्धुरिति आपामरं पर्यचायि परिचितः । विरुदं निजमहिमानम् हरेत त्यजेत्किम्, अपि तु न त्यजेत् । कर्मपराधीनां कर्मणां कारणात्परतन्त्राम्, दीनां दशाम् । दीने मयि किं न दयेत ? अपि तु अवश्यं दयां कुर्यात् ॥

दीनोंके उद्धारके लिये जो इस भूमिमें पधारे—अवतीर्ण हुए, उन्हीं दयालु भगवान्‌का चित्त क्या दीनोंका त्याग कर देगा ? जिन्होने पूर्वकालमें अपने विमुखों एवं विरोधियों (कंसादि) को भी पवित्र कर दिया, क्या वे दीनोद्धारक भगवान् भी कठोरता धारण कर लेंगे ? जिनको नीचजनतक दयासिन्धुके रूपमें जानते हैं, वे क्या दीनबन्धुरूप अपनी उपाधिको छोड़ देंगे ? अपने कर्मोंके कारण अनिवार्यरूपमें प्राप्त मेरी इस दीनदशाको देखकर भी क्या दीनदयालु भगवान् मुझ दीनपर दया नहीं करेंगे ? ॥३५॥

नित्यं निगमागमनिरूपितस्वरूपमपि
वाचं न स्पृशन्तं मनोनीतं श्रयसे न किम् ?
लीलयैव लोकसृष्टिमाविर्भावयन्तं पुन-
स्तामेतां भरन्तं संहरन्तं बुध्यसे न किम् ।
गूढं विलसन्तं दृढभक्त्यानुसरन्तं स्वयं
दिव्यद्युतिमन्तं तं ह्यनन्तं कवसे न किम्
सकलचराचरादिचक्रं चालयन्तं चिरा-
च्चेतसि चरन्तं भगवन्तं भजसे न किम् ॥ ३६ ॥

वेदादिभिर्वर्णितमपि वाचं न स्पृशन्तं वागगोचरम् । मनोनीतं मनोद्वारा ध्यातम् । तामेतां सृष्टिम् । सर्वत्र गूढं वर्तमानमपि भक्तिबलात् स्वयं भक्ताननुसरन्तम् । कवसे कविताभिर्वर्णयसि ॥ ३६ ॥

अरे मन ! निगम और आगमोंके द्वारा नित्यरूपमें वर्णित किंतु

फिर भी वाणीमें न आनेवाले किंतु केवल मनसे ध्यान करनेयोग्य उन भगवान्का आश्रय क्यों नहीं लेते ? लीलासे ही जो लोकसृष्टिको उत्पन्न करते, पालन करते तथा संहार करते हैं, उनका परिचय क्यों नहीं प्राप्त करते ? सब जगह गूढ़रूपसे वर्तमान रहकर भी जो दृढ़भक्ति होनेपर भक्तका स्वयं अनुसरण करते हैं, दिव्यकान्तिसम्पन्न उन अनन्त भगवान्का कविताद्वारा क्यों नहीं वर्णन करते ? सकल चर, अचर आदिके चक्रको चिरकालसे चलानेवाले तथा प्रत्येकके चित्तमें विचरण करनेवाले उन भगवान्का भजन क्यों नहीं करते ? ॥ ३६ ॥

पश्य पयःपान एव पूतना प्रयाता दिवं
धाता[1]पि च पात्रीकृतो विस्मयप्रतोदानाम्
कालियफणालिरुपयाता यस्य नृत्यपदं
जाता यमुनापि खनिर्नित्यं निर्विषो[2]दानाम् ।
दावानलपा[3]ता यो हि पा[4]ता गोपगोष्ठगवां
विपिने विधाता वेणुवादनविनोदानाम्
पुलिने पुलि[5]न्दीनां प्रसादसंविधाता स हि
रासर[6]ङ्गराता सम्प्रदाता मे प्रमोदानाम् ॥ ३७ ॥

१ वत्सादीन् हरन् ब्रह्मापि नानाविस्मयरूपाणां प्रतोदानां तीक्ष्णलोहाग्रचालनदण्डानाम् (हार्दिकपीडाजननात्) पात्रीकृतः । २–यमुना निर्विषाणां जलानां खनिः आकरः जाता । ३–पानकर्ता । ४–रक्षकः । ५–आभीरयोषितां प्रसादस्य प्रसन्नतायाः संविधानकर्ता । ६–रासक्रीडायाः रङ्गस्थलस्य राता लोके प्रख्यापकः ॥ ३७ ॥

जिनके दुग्धपान करते ही (दुग्धपानका अभिनय करते ही) पूतनाका उद्धार हो गया, बछड़े-गोपबालक आदिका हरण करनेवाले ब्रह्मा भी जिनके द्वारा आश्चर्यरूप पीडाके पात्र बनाये गये (अलौकिक माया दिखाकर ब्रह्माको भी जिन्होंने कड़ी शिक्षा दी), कालिय-सर्पकी फणमण्डली जिनकी नृत्यस्थली बनी, जिससे यमुना भी विषरहित जलकी

ग्नान (स्थान) बन गयी, जिन्होंने दावानलका पान किया, जो गोपोंके गोष्ठ (गोशाला) की गायोंके रक्षक हैं, जिन्होंने व्रजके वनोंमें वंशी बजानेकी क्रीडा की, यमुनातटपर (रासके द्वारा) गोपियोंके जो मनोरथपूरक हैं, वे रास-क्रीडाके कर्ता श्रीकृष्ण मेरे आनन्दके दाता हैं ॥३७॥

घोरसंकटेषु परियाता यो निरीहनृणां
सम्मुखेऽभियाता हेलयैव दुष्टदुर्हृदाम्[1]
लोकपरित्राता दीर्घदैत्यदुरुपद्रवेभ्यो
दाता दीनदुर्गतेभ्यो लक्ष्मीणां निरापदाम् ।
भुवनभरेऽस्मिन् नित्यनिर्मातावतारान्[2] बहून्
ध्याता दीनदुःखान्यभिवीक्ष्य धरां[3] निर्मदाम्
धाता धर्मसेतोः संविधाता जगन्नाटकस्य
विश्वेषां विधाता मे निधाता सर्वसम्पदाम् ॥ ३८ ॥

१—दुष्टानां क्रूरहृदयानां च सम्मुखे निर्भयमाक्रमिता। २—अवतारान् निर्माता, अवताराणां कर्ता, तृन्। ३—दीनां धरां वीक्ष्य दीनजनानां दुःखानि ध्याता, दुःखानां विचारकः, तृन् ॥ ३८ ॥

घोर संकटोंमें जो प्रतीकारकी चेष्टा न करनेवाले—निर्भर भक्तोंके रक्षक हैं, क्रूर हृदयवाले दुष्ट दैत्योंके सम्मुख जो निर्भीक होकर प्रयाण करनेवाले हैं, बड़े-बड़े दैत्योंके दुष्टतापूर्ण उपद्रवोंसे जो लोकोंकी रक्षा करते हैं तथा जो दीन-दुर्दशापन्न जनोंको आपत्तिरहित सम्पत्तियोंके देनेवाले हैं, इन भुवनोंमें जो नित्य नाना तरहके अवतार लेते रहते हैं, इस भूमिको दीन देखकर जो दीन भक्तोंके दुःखोंपर विचार करते हैं (विचारकर भूमिपर आते हैं), धर्मसेतु(मर्यादा) के स्थापक, जगत्‌रूपी नाटकके सूत्रधार, सम्पूर्ण विश्वोंके विधाता वे प्रभु मेरे लिये सब प्रकारकी सम्पत्तियोंके दाता हैं ॥ ३८ ॥



[१०]

सान्त्वना

देवघनाक्षरी

कुत्रचन कर्मसु प्रवृत्तिमनुमोदयसे
क्वचन निवृत्तिमुपदिशसि मनसि मनसि
रात्रिंदिवं गेहधनधान्यसुखलिप्सापरः
सर्वं जगन्मिथ्येति प्रगल्भसे वचसि वचसि ।
मञ्जुनाथ जाने तव शास्त्रकथाकन्थामिमां
चेतयसे किं मां स्वयं मुह्यसि रहसि रहसि
नूनमवधानं देहि संदेहे न मज्ज मनाक्
गोविन्दे निरस्तसर्वसंदेहो भवसि भवसि ॥ ३९ ॥

१—अहरहः संध्यामुपासीत, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः इत्यादिना । २—कर्माणि बन्धकराणि अतएव तेभ्यो निवर्तेत इति मनसि मनसि प्रत्येकजनस्य मनसि उपदिशसि । अहर्निशं स्वयं गृहादिसुख-लालसोऽपि, आदितः जगदिदं मिथ्येति प्रत्येकवचने प्रगल्भसे धार्ष्ट्यं दर्शयसि रहसि रहसि प्रत्येकगुह्यस्थले स्वयं मुग्धो भवसि, मां च चेतयसे प्रबोधयसि । गोविन्दं प्राप्य ते सर्वेऽपि संदेहा निरस्ताः स्युः । निरस्तसंदेहो भवसि, पुनर्भवसि इति दार्ढ्यसूचनाय ॥ ३९ ॥

कहीं तो तुम 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' अर्थात् वेदविहित कर्मोंको करता हुआ ही पूरी आयु बितानेकी इच्छा करे—इत्यादि वेदवाक्यों-द्वारा कर्मोंमें प्रवृत्तिका अनुमोदन करते हो और कहीं प्रत्येकके मनमें कर्मोंसे निवृत्तिका बीजारोपण करते हो । घर, धन, धान्य, सुख आदिके लाभके लिये रात-दिन लालायित रहते हुए भी 'सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है' इस सिद्धान्तकी बात-बातमें दुहाई देते हो । मञ्जुनाथ ! तुम्हारी शास्त्रकथारूपी इस जीर्ण कन्था 'गुदड़ी' को मैं जानता हूँ । तुम मुझे क्या चेतावनी देते हो जब कि स्वयं प्रत्येक गुह्य प्रसङ्गमें चकरा जाते हो ? तनिक ध्यान दो, संदेहमें रंच-

मात्र भी मत डूबो। मैं जानता हूँ, गोविन्दके चरणोंमें पहुँच जानेपर तुम्हारे सारे संदेह अवश्य दूर हो जायँगे ॥ ३९ ॥

[११]

प्रार्थना

जानीमस्तमेतमिति वेदज्ञा विदन्ति हृदा
यज्ञाः स्वस्य घोषयन्ति यत्प्राप्तावुपायताम्
सोऽस्माभिर्निबोध्य इति वेदान्तिप्रगल्भगिरो
यान्ति मुदं योगिनो वदन्तो यदभिज्ञताम् ।
यत्प्राप्तेर्वहन्ति मदं तन्त्रमन्त्रसक्ता बुधाः
किंतु सर्वमेतन्मुधा यस्य विनोदारताम्
सर्वजगन्मोहनैकमायामन्त्रशाली महा-
नद्भुतेन्द्रजाली वनमाली प्रतिभासताम् ॥ ४० ॥

'तमेतं भगवन्तं वयं जानीमः' इति वेदज्ञा हृदयेन जानन्ति, वस्तुतस्तु नैवमित्यर्थः। यज्ञाः यस्य भगवतः प्राप्तौ स्वस्य उपायतां घोषयन्ति, यज्ञैर्भगवान् लभ्य इति। वेदान्तिनां प्रगल्भाः साहसपूर्णाः गिरः, न तेऽपि बुध्यन्ते । यस्य ब्रह्मणः अभिज्ञतां ज्ञातृताम् । यस्य उदारतां दयालुतां विना उपर्युक्तं सर्वं मुधा। स एव स्वयं यदा कृपां दर्शयति तदैव वेदादिभिरपि गम्यः 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' । अस्माभिर्ज्ञातः, अस्माभिर्लब्ध इति सर्वजगतां मोहने एकः अद्वितीयो मायामन्त्रसम्पन्नः। प्रतिभासतां नः प्रकाशताम् ॥ ४० ॥

वेदवेत्तालोग मनमें यह समझते हैं कि 'हम परमात्माको जानते हैं'; इसी प्रकार यज्ञ भगवान्की प्राप्तिमें अपनेको उपाय बताते हैं। वे हमारे द्वारा जाने जाते हैं, यह वेदान्तियोंकी गर्वित वाणी है । योगी इस बातको कहते हुए प्रसन्न होते हैं कि हमीं उसके जाननेवाले हैं। तन्त्र-मन्त्रोंमें लगे पण्डित उन (भगवान्) की प्राप्तिका गर्व रखते हैं; किंतु यह सब उनकी दयाके बिना व्यर्थ है; क्योंकि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'—जिसे वे चाहते हैं, उसीको मिलते हैं—इस प्रकार समस्त संसारको मोहित करनेके लिये

जादूका मन्त्र धारण करनेवाले अद्भुत इन्द्रजाली वे वनमाली हमारे नयन-गोचर हों ॥ ४० ॥

प्रेमविवशो यो न विषेहे हन्त दीनां दशां
नन्दप्रभृतीनां सुतस्नेहात् स्मरतां सदा
दीनपालकेन बत येन विनिवर्तितानि
सर्वसंकटानि भक्तिभावाद् भजतां सदा ।
यो वै रघुवंशे लोकरक्षणाय रेमे पुरा
सोऽद्य धृतक्षेमे हृदये मे वर्ततां सदा
बाणीकृतरोषदृशा द्राणीकृतदैत्यगणो
वाणीविसरे मे चक्रपाणी रमतां सदा ॥ ४१ ॥

पुत्रस्नेहात् स्मरतां नन्दप्रभृतीनां दीनां दशाम् । धृतं क्षेमं कल्याणं येन ईदृशे मम हृदये । बाणत्वेन प्रयुक्तया कोपदृष्ट्या, पलायितीकृताः द्राविता इत्यर्थः दैत्यगणाः येन सः । चक्रपाणिर्मे वाणीविसरे वाचां प्रवाहे रमताम् । चक्रपाणिः रमताम्, रेफलोपदीर्घौ ॥ ४१ ॥

प्रेमाधीन जो प्रभु पुत्रभावसे स्नेहपूर्वक सदा स्मरण करनेवाले नन्दादिकी दीन दशाको नहीं सह सके थे; यही नहीं, दीनोंकी रक्षा करनेवाले जिन प्रभुने भक्तिभावसे भजन करनेवालोंके सम्पूर्ण संकट सदा टाले हैं तथा लोकरक्षाके लिये जिन्होंने रघुके वंशमें लीला की—श्रीरामरूपसे अवतार लिया; वे (भगवान्) कल्याणमार्गको पकड़नेवाले मुझ दीनके हृदयमें सदा निवास करें । अपनी रोषपूर्ण दृष्टिका ही बाणोंके रूपमें प्रयोग करके जिन्होंने दैत्यगणोंको भगा दिया, वे चक्रपाणि भगवान् मेरी वाणीमें सदा विहार करें ॥ ४१ ॥

भूमिवलयं तं दुष्टदैत्यैर्भारवन्तं वीक्ष्य
लोकेऽवतरन्तं शक्तिमन्तं शीलयामहे
शकटं हरन्तं पावयन्तं पूतनां तामथ
दावाग्निं पिबन्तं बलवन्तं चिन्तयामहे ।

कालियफणासु नृत्यवन्तं विहरन्तं वने
कंसमुद्धरन्तं केशवं तं कामयामहे
सर्वतो लसन्तं विलसन्तं व्रजगोपिकासु
पीताम्बरवन्तं भगवन्तं भावयामहे ॥ ४२ ॥

शीलयामहे, सेवामहे। पावयन्तं पवित्रां कुर्वन्तम्। भावयामहे निरन्तरं ध्यायामः ॥ ४२ ॥

भूमण्डलको दैत्योंसे भारयुक्त देखकर इस लोकमें अवतार लेनेवाले शक्तिशालीकी हम सेवा करते हैं। जिसने शकटासुरका संहार किया तथा पूतनाका उद्धार किया, दावानलको पीनेवाले उस बलवान्‌का हम ध्यान करते हैं। कालियके फणोंपर नाचनेवाले, वनमें विहार करनेवाले तथा कंसका उद्धार करनेवाले उन केशवकी हम कामना करते हैं। सब ओर प्रकाशित रहते हुए भी व्रज-गोपिकाओंमें विहार करनेवाले पीताम्बरधारी उन भगवान्‌का हम (निरन्तर) ध्यान करते हैं॥ ४२ ॥

दूरीकृतदानवेषु मानवेषु जन्माभवत्
तत्रापि च जातिः शान्तिशीलशरणा प्रभो !
विद्याविपुलेऽस्मिन् राजमान्यकुले मान्यताभूद्
यत्र नाश्रयेत दृप्तदृष्टिररुणा प्रभो।
सर्वविधं सौख्यं यथा लौकिकं मे दत्तं तथा
पारलौकिकं च त्वया कल्पतरुणा प्रभो
कोऽन्यो मयि तन्यात्सदा स्तन्यावधि रक्षाकृपां
वत्सलताजन्या तव धन्या करुणा प्रभो ॥ ४३ ॥

दानवा हिंसकाः पुरुषाः, मानवाः किल बुद्धिमाहात्म्याद् हिंसकपुरुषेभ्यो रक्षिताः शान्तिः शुचिचरित्रं च शरणं यस्याः ईदृशी जातिर्ब्राह्मणाख्या। मदवशात् अरुणा दृप्ता गर्विता दृष्टिर्यत्र न पतेत्, माननीयताकारणात् अधिकारिणामपि मदगर्विता दृष्टिर्न पतेदित्याशयः। स्तन्यावधि स्तनदुग्धपानमारभ्य ॥ ४३ ॥

बुद्धिबलसे दानवोंको दूर भगा देनेवाले मानवों (मनुष्यों) में मेरा जन्म हुआ । उनमें भी शान्ति एवं शुद्ध चरित्रका आश्रय लेनेवाली ब्राह्मणजातिमें मैं उत्पन्न हुआ । राजाओंसे सम्मानित, विद्याशाली कुलमें मेरा सम्मान है, जहाँ कि अभिमानियोंकी लाल-लाल आँखें नहीं पहुँचती। कल्पवृक्षकी भाँति आश्रितोंका मनोरथ पूर्ण करनेवाले आपने जिस तरह मुझे सब प्रकारका लौकिक सुख दिया, उसी प्रकार पारलौकिक सुख भी प्रदान किया (क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मृत्युके अनन्तर भी मुझे उत्तम लोक मिलेंगे) । माताके स्तनपानसे लेकर अन्तकालतक रक्षाकी कृपा और कौन करेगा ? हे प्रभो ! भक्तवत्सलताके कारण प्रकट हुई यह आपकी दया धन्य है ॥ ४३ ॥



[१२]

भगवान् हयग्रीवः

(अनङ्गशेखरः)

क्रियापरेषु शासनेष्वियाय यन्मतिर्भ्रमं
भियाढ्ययापि वादिनां धिया न संव्रियामहे
न या विवेकवर्त्मनि प्रयाति गर्वसंश्रया
तयापि भूभुजां श्रिया न विक्रियां भजामहे ।
श्रयाय तत्त्वसम्पदां चयाय चारुसंविदां
भयाय भूरिदुर्धियां दयालुमाद्रियामहे
जयाय जिह्मवादिनां नयाय निह्नवस्पृशां
दयादृशां समीहया हयाननं श्रयामहे ॥ ४४ ॥

बन्धककर्ममात्रबोधकेषु शास्त्रेषु येषां वादिनाम् मतिर्भ्रमम् इयाय प्राप । भयशालिन्या वादिनां तया बुद्ध्यापि न संव्रियामहे संवृता आच्छादिता न भवामः । गर्वयुक्ता या भूभुजां राज्ञाम् श्रीः विवेकमार्गे न याति

तथापि विकारं न प्राप्नुमः । तत्त्वभूतानां विज्ञानादिसम्पदाम् । आश्रयणाय । चारुलंविदाम् उत्तमानां बुद्धीनां चयाय संचयनाय । दयालुम् हयाननम् । जिह्मानां कुटिलानां वादिनाम् । निह्नवस्पृशां सत्यापलापपराणां नयाय नीतिबोधनाय ॥ ४४ ॥

जिनकी बुद्धि बन्धनकारक कर्मकाण्डका उपदेश देनेवाले शास्त्रोंके चक्करमें पड़ी हुई है, ऐसे वादियों (शास्त्रार्थियों) की भयभीत बुद्धिसे भी हम नहीं चकराते। अभिमानमें चूर जो (राजलक्ष्मी) विवेक (कर्तव्या-कर्तव्यबुद्धि) के रास्तेपर भी नहीं जाती, उस राजलक्ष्मी (के लोभ) से भी हम विचलित नहीं होते। सत्त्वसम्पत्ति (विज्ञानादि) का आश्रय लेने, उत्तम बुद्धिका संचय करने तथा दुष्टोंको भयभीत करनेके लिये परम दयालु भगवान्‌का ही हम आदर करते हैं। कुटिल प्रतिवादियोंकी विजयके लिये, सत्यको छिपानेवालोंको नीतिके मार्गपर लाने तथा दयापूर्ण दृष्टि प्राप्त करनेके लिये श्रीहयग्रीव भगवान्‌का हम आश्रय लेते हैं ॥ ४४ ॥

नूनमुद्यन्ते रसनिर्भरमनोज्ञा गिरो
विमुखविरोधिनो निरीक्ष्य स्वयमेजन्ते
कीर्तिमावहन्ते काव्यकोविदकवीनां गणे
तेषामङ्गणेषु सर्वसम्पदः समेधन्ते ।
नानानिगमागमनिबद्धनित्यवाङ्मयजं
जगति भजन्ते ज्ञानशेवधिमनन्तं ते
लोकेऽस्मिँल्लभन्ते ते हि नित्यनिरुपाख्यं यशो
हयवदनाख्यं ब्रह्म येऽनिशं निषेवन्ते ॥ ४५ ॥

रसनिर्भराः रसपरिपूर्णाः मनोज्ञाश्च । स्वयम् एजन्ते कम्पन्ते । नित्य-वाङ्मयम् वेदाः । शेवधिर्निधिः । नित्यं निरुपाख्यं निरूपमम् ॥ ४५ ॥

उनकी वाणीसे रसपूर्ण सुन्दर कविताएँ निश्चय ही प्रस्फुटित होने लगती हैं, विमुख हुए विरोधी उन्हें देखते ही अपने-आप काँपने लगते हैं, काव्यरचनामें चतुर कवियोंके समाजमें कीर्ति मिलती है, उनके आँगनमें

सब प्रकारकी सम्पदाएँ बढ़ती रहती हैं, नाना निगम और आगमरूप नित्य वाङ्मयसे प्रकट हुई ज्ञानकी अक्षय निधि उन्हें मिलती है तथा इस लोकमें नित्य निरुपम यश उन्हें प्राप्त होता है, जो हयानन नामधारी परब्रह्म-की निरन्तर उपासना करते हैं ॥ ४५ ॥

उन्मीलत्प्रसन्नमुखमुद्यन्मणिसद्मान्तरे
पद्मासनासीनमृजुका यतमाशासेऽहम्
हस्तेष्वक्षमालाज्ञानमुद्रापुस्तकानि तमो-
विद्रावकशङ्खमावहन्तमनायासेऽहम् ।
निगमविलासावनिं नासापुटनिःश्वसितै-
र्यत्पन्नखभासा साधुसूरिषु समासेऽहम्
वाचामधिपेन समासेव्यपादपङ्केरुह-
मुक्तीनां विकासे हयवदनमुपासेऽहम् ॥ ४६ ॥

उद्यतः प्रकाशमानस्य मणिसद्मनः रत्नगृहस्यान्तरे पद्मासनेन आसीनम् । ऋजुकः सरल आयतश्च तम्, ध्यानमुद्रायां मेरुदण्डस्य ऋजुस्थापनात् । ईदृशं हयास्यम् आशास्यत्वेन अभिप्रैमि । तमसो दूरीकारकं शङ्खं च धारयन्तम् । अनायासे सहजाभिलाषेण सर्वं साधयन्तमित्याशयः । श्वासपवनैर्वेदस्यो-त्पादकम् । यत्पादनखकान्त्या (कृपया) पण्डितेषु अहं समासे (तिष्ठामि) ॥ ४६ ॥

प्रसन्न मुखवाले जो मेरुदण्डको सीधा रखकर आयत भावसे अर्थात् शरीरको सीधा और लंबा रखते हुए मणिगृहमें पद्मासनसे विराजे हैं, उन (भगवान् हयग्रीव) को मैं अभीष्टदायक मानता हूँ । जिनके चार हाथोंमें अक्ष-माला, ज्ञानमुद्रा, पुस्तक और शङ्ख हैं; जो अनायास ही भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करते हैं, जिनके नासापुटोंके श्वाससे वेद निकले हैं तथा जिनके चरणनखोंकी कान्तिमात्रसे मैं आज अच्छे पण्डितोंमें बैठा हूँ, वाणीके अधिष्ठाता श्रीगणेश-के द्वारा सेवनीयचरण उन हयग्रीव भगवान्‌की सूक्ति-विकासके लिये मैं सेवा करता हूँ ॥ ४६ ॥



[१३]

श्रीधन्वन्तरिः

प्रत्यक्षं विभाति पाणिपङ्केरुहे यस्य सुधा
सोऽयं वसुधायाः किं न रोगराशिशोषी स्यात्
चक्रादिकचिह्नांश्चतुर्बाहून्निदधानो ह्यसौ
दानोचितचारुचतुर्वर्गपरिपोषी स्यात् ।
मञ्जुनाथ नित्यं निर्जराणाममरत्वकरो
दुरितहरोऽसौ मानवीयामयमोषी स्यात्
रोगाम्बुधिमग्ने जने तन्वंस्तरितुल्यदयां
धन्वन्तरिरेष नृणां नन्वन्तरतोषी स्यात् ॥ ४७ ॥

दानाय उचितो यः चतुर्वर्गः धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयम् तस्य परिपोषकरः । चतुर्बाहुधारकोऽसौ भगवानवश्यं चतुर्वर्गपरिपोषकरः स्यादित्याशयः । मानवीयाः मानवसम्बन्धिनो ये आमया आधयो व्याधयश्च तेषां मोषकः हारकः । रुजापीडितं लोकं दयां कृत्वा नौकावत् रोगाम्बुधेस्तारयन्नित्यर्थः । ननु निश्चयेन अन्तःकरणसंतोषकः ॥ ४७ ॥

जिनके हस्तकमलमें अमृतकलश प्रत्यक्ष शोभित है, वे पृथ्वीके रोग-समूहके नाशक क्यों नहीं होंगे । जो शङ्ख-चक्र आदिसे शोभित चार भुजाएँ धारण करनेवाले हैं, वे दानके योग्य धर्म-अर्थादि चार पुरुषार्थोंके पोषक हों अर्थात् चारों पुरुषार्थ दें । जो देवताओंको अमर करनेवाले तथा पापोंको हरनेवाले हैं, वे मनुष्योंके रोगोंको दूर करनेवाले हों । रोग-समुद्रमें डूबते हुए लोगोंके लिये नौकाके समान दया करनेवाले ये धन्वन्तरिभगवान् मनुष्योंके अन्तःकरणको संतोष देनेवाले हों ॥ ४७ ॥

विषयविलासैः सर्वमायुर्मे व्यतीतं हन्त
तदपि न भीतं मां नु किं मर्षयसे मुधा
भोगेष्वपि भग्नो भूरि कायिककदर्यतया
मायिकमरीचिकाभिः किं मोहयसे मुधा ।

दीननाथ जाने दयां दर्शयसि दीनजने
सर्वतोऽपि हीनजने किं तर्कयसे मुधा
नो चेत् प्रभवामि भवच्चरणावलम्बनाय
विषयविडम्बनाय किं जीवयसे मुधा ॥ ४८ ॥

मां किं मर्षयसे, अनुकम्पावशात् मे अपचारान् किं सहसे इत्याशयः। कायिककदर्यतया शारीरिकदुर्बलतया। सर्वेभ्योऽपि हीने मयि दया-प्रकाशनसमये किं मुधा तर्कनां करोषि? त्वं प्रभुः, अतएव त्वच्चरणाव-लम्बने मे शक्तिर्यदि न स्यात्तर्हि विषयद्वारा विडम्बनायै मां मा जीवय। समापय मे जीवनकालम् ॥ ४८ ॥

प्रभो! विविध विषय-विलासोंमें मेरी सम्पूर्ण आयु बीत गयी, तो भी आपसे भय न माननेवाले मुझ निर्लज्जके अपराधोंको अब क्यों सहते हो? शारीरिक दुर्बलताके कारण भोग भोगनेमें भी सफलता नहीं मिलती। ऐसी दशामें मायाकी प्रतारणाओंसे मुझको नाहक क्यों मोहते हो? दीनानाथ! मैं जानता हूँ, आप दीनोंपर दया दिखाते हैं; फिर सब तरहसे हीन इस अधमके विषयमें व्यर्थ क्या सोचते हो? यदि मैं आपके चरणोंका आश्रय लेनेमें समर्थ नहीं तो विषयोंके द्वारा विडम्बनाके लिये निष्प्रयोजन मुझे क्यों जिला रहे हो? ॥ ४८ ॥

निविडघनौघैर्व्याप्तमेतद् व्योम सर्वतोऽपि
वहति समन्ततोऽपि वात्या पांसुपीनेयम्
अस्तमुपयातो मन्दभाग्यैर्मम भास्करोऽपि
दृश्यते न दूरतोऽपि वेला जललीनेयम्।
जानन्नपि किं पश्यसि निस्सम्भ्रमं दीननाथ
तरला तरिर्मे पश्य नाविकविहीनेयम्
दीनस्यास्य कालरजनौ का गतिरन्या भवेद्
भवसलिलौका जीर्णनौका त्वदधीनेयम् ॥ ४९ ॥

घनौघैः मेघघटाभिः। पांसुपीना धूलिव्याप्ता। जललीना वेला,

जलतरङ्गान्तर्हितं तटं न दृश्यते इत्याशयः । कालरात्रौ मम का दशा भवेत् ? अतएव भवसलिलम् ओकः स्थानं यस्याः भवार्णवपतिता इयं जीर्णा नौका भवदधीना ॥ ४९ ॥

यह आकाश गहरी घनघटाओंसे चतुर्दिक् व्याप्त है, धूलिको लिये हुए यह आँधी चारों ओर चल रही है । मेरे मन्दभाग्यसे सूर्य भी अस्ताचलको चले गये । जलमें डूबा हुआ तट दूर-दूरतक दिखायी नहीं देता । यह सब जानते हुए भी हे दीनानाथ ! अविचल भावसे क्या देख रहे हो ? देखो, नाविकविहीन मेरी यह नौका डगमगा रही है । इस कालरात्रिमें इस दीनकी विनाशके अतिरिक्त दूसरी क्या गति होगी ? भवसागरमें पड़ी हुई यह पुरानी नाव एकमात्र आपके अधीन है ॥ ४९ ॥

कुत्रचिन्निरुक्तो नाथ ! नित्यनिराकारो भवान्
साकारोऽथ कुत्रचिद् गृहीतो वाक्यविस्तरे
कुत्रचित्तटस्थः काप्यजल्पि जगत्कर्ता भवान्
कुत्रचिदगम्यः क्वचिद् गम्यश्चित्तमन्दिरे ।
नूनं वेदवाणीष्वपि दार्ढ्यं करवाणि कथं
दुर्धराणि वाक्यान्यपि केन त्वयि संचरे
अर्वाचामुदेतु बत का चालीकशक्तिस्त्वयि
प्राचामपि प्राचामुच्चवाचामप्यगोचरे ॥ ५० ॥

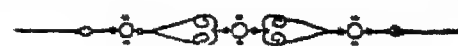
कुत्रचित् कस्मिंश्चन वेदवाक्ये निरुक्तो निरूपितः । कुत्रचिद् वाक्यसमूहे साकारो गृहीतः । सांख्यादिषु तटस्थः उदासीनतया क्रियाशून्यः अजल्पि । अगम्यः अबोध्यः । भक्तिभावनया चित्तमन्दिरे ग्राह्यः । वेदवाक्यान्यपि दुर्धराणि दुःखेन ग्रहीतुम् बोद्धुम् शक्यानि । अतएव केन उपायेन भवन्तं प्राप्नोमि । समस्तृतीयायुक्तादित्यात्मनेपदम् । प्राचामपि प्राचां पुरातनानामपि पुरातनानां (महर्षीणाम्) उदारवाणीनामगोचरे त्वयि अर्वाचाम् एतत्कालिकपुरुषाणां का वा आलीका शक्तिः उदेतु ? त्वां बोद्धुं न कापि नवीनानां शक्तिरित्याशयः ॥ ५० ॥

हे नाथ ! कहीं आप नित्य निराकाररूपमें वर्णित हुए और किसी वाङ्मय (शास्त्र) में आप साकार माने गये हैं। कहीं आप तटस्थ (उदासीन) होनेसे किसी भी क्रियासे रहित कहे गये हैं, तो कहीं जगत्के कर्ता बताये गये हैं। कहीं आप अगम्य—सर्वथा अबोध्य, तो कहीं चित्त-मन्दिरमें ले जाकर ध्यान करने योग्य बताये गये हैं। हे नाथ ! वेद-वाक्योंपर भी दृढ़ विश्वास मुझे कैसे हो, वे वाक्य ही दुर्गम—दुर्बोध्य हैं। तब आप ही बताइये, किस उपायसे आपतक पहुँचूँ । पुरानी-से-पुरानी वाणी—वेदवाणीके भी जो अगोचर हैं, उन आपके प्रति नवीनोंकी झूठी शक्ति क्या चल सकती है ॥ ५० ॥

रात्रिंदिवं दारुणदुरन्तचिन्तयाहं वृतो
भुवने भ्रमामि कोऽपि दैन्यं न्यक्करोतु किम् ?
जानन्नपि नित्यं कर्मबन्धे गूढमापतामि
मूढमनुजस्य कोऽपि दुःखं विधुनोतु किम् ?
सर्वमहं मानसेन सत्यमिदं जाने नाथ
किंतु भवानेवास्योत्तरं मे वितनोतु किम्
शरणागतोऽपि यदि गुरुणाऽऽमयेन धृतः
करुणानिधान ! तव करुणा करोतु किम् ॥ २ ॥

मम दैन्यं कोऽपि किं न्यक्करोतु दूरीकरोतु। किन्तु वक्ष्यमाणस्य प्रश्नस्य भवानेव मे किमुत्तरं दद्यात् ? स चायं प्रश्नो यत्—'शरणा०'। गुरुणा आमयेन सांसारिकरोगेण ॥ ५१ ॥

मैं दिन-रात भयंकर चिन्तासे घिरा जगत्में घूम रहा हूँ, मेरी दीनता कोई क्या दूर करेगा। जानता हुआ भी जो कर्मोंके बन्धनमें चुपचाप आ पड़ता है, उस मूर्ख मनुष्यके दुःखोंको कोई क्या दूर करे। यह सब मैं मनसे सत्य जानता हूँ; किंतु हे नाथ ! इसका उत्तर आप मुझे क्या देंगे कि 'शरणागत भी यदि भयंकर सांसारिक रोगसे घिरा रहा तो फिर हे करुणानिधान आपकी करुणा क्या करेगी—किस काम आयेगी ?' ॥ ५१ ॥



[१४]

दैन्यनिवेदनम्

विपिने निपत्य भृशं भ्रान्तो मन्दमायारतो
दूरदूरतोऽपि सुखच्छाया न निभाल्यते
हेलयावकृष्टो बाढमिन्द्रियैरितस्ततोऽयं
धावन् व्यथितोऽपि पुनः पशुरिव काल्यते ।
नियतिनियोगात् कर्मभोगाननुभावयसे
चालयसे जीवजगत् प्रभुतां प्रपाल्य ते
किंतु किणस्कन्धो भवबन्धोषितो जीर्णवृषो
ब्रूहि दीनबन्धो ! कर्मचक्रे कियच्चाल्यते ॥ ५२ ॥

विपिने भवाटव्याम् मन्दा दुष्टा या माया अविद्या तद्रतः अयं जीर्णवृषो भृशं भ्रान्तः भ्रमणदुःखमनुभूतवान् । निभाल्यते दृश्यते । धावनेन व्यथायुक्तोऽपि यज्ञियपशुरिव पुनः काल्यते प्रेर्यते । हे दीनबन्धो ! त्वं नियतेः अदृष्टस्य अनुरोधात् यस्य जीवस्य यादृक् अदृष्टं तद्वशात् ते प्रभुतां स्वामित्वं प्रपाल्य पालयन् इदं जीवजगत् परिचालयसे । प्रभुस्त्वं यस्य जीवस्य यादृग् अदृष्टं तदनुसारं तत्तत्कर्मभोगाननुभावयन् सर्वमिदं जीवजातं परिचालयसीत्यर्थः । एवं च जगच्चक्रे भ्रमणं यद्यपि स्वाभाविकं तथापि—भारवहनजाताः किणाः क्षतचिह्नानि स्कन्धे यस्य, भवबन्धे च पतितः सोऽयं वृद्धो वृषभः चक्रे कियत् परिचाल्यते । वृद्धत्वान्मुमूर्षोः अस्य चक्रभ्रमणे अधुना का शक्तिः, अतएव दयावशात् सोऽयं विमोचनीय 'एवेत्याशयः' ॥ ५२ ॥

इस भवाटवीमें पड़कर दुष्ट मायामें फँसा बहुत भटक चुका । दूर-दूर भी कहीं सुखकी छाया नहीं दीख पड़ती । इधर इन्द्रियाँ जबरदस्ती मुझको इधर-उधर खींच रही हैं। दौड़ते-दौड़ते दुखी हो जाता हूँ तो भी पशुकी तरह फिर जोता जाता हूँ । मेरे भाग्यके कारण ही आप मुझे कर्मोंके भोग भुगतवाते हैं तथा अपनी प्रभुताका पालन करते हुए आप इस जीव-जगत्का

संचालन करते हैं । किंतु हे दीनबन्धु ! जिसके कंधोंपर बोझा ढोते-ढोते घट्टे पड़ गये हैं, भव-बन्धनमें पड़े इस बूढ़े बैलको इस कर्मके कोल्हूमें कहाँतक चलाया जायगा ? ॥ ५२ ॥

प्रत्यक्षं प्रवृत्तिर्वत शास्त्रविपरीते पथि
जानीते जनोऽयं मम कुटिलकुकार्यताम्
गूढं दुश्चरामि भग्नविश्रम्भो जनेषु विभो !
सोऽयं मम दम्भो नाथ मनसि विचार्यताम् ।
पातकनिकेतने न चास्ति गुणगन्धो मयि
निस्सहायबन्धो ! कथमाशा हृदि धार्यताम्
कियन्महापापी पूर्वपापिनामपेक्षयेति
पातकपरीक्षयैव तार्यते चेत् तार्यताम् ॥ ५३ ॥

कुटिलतां कुकार्यतां च । भग्नविश्वासोऽहं जनेषु गुप्तं यथा तथा दुराचरणं करोमि सोऽयं दम्भः उपरितः साधुताडम्बरः मनसि नाथेनैव भवता विचार्यताम् उद्धारयोग्यता सर्वथापि नास्तीत्याशयः । पूर्वोद्धृतानां पापिनामपेक्षया अयं कियत्परिमाणपातकशाली इति पातकपरीक्षाकौतुकेनैव यदि त्वं मां तारयसि तर्हि तार्यतामयं जनः अन्यथा नास्ति मे सर्वथा तादृशी योग्यतेत्याशयः ॥ ५३ ॥

शास्त्रसे विपरीत मार्गमें मैं प्रत्यक्ष लगा हूँ, संसारके लोग मेरी कुटिलता और कुचालोंको जानते हैं । प्रभो ! विश्वासघाती मैं लोगोंमें छिपकर दुराचरण करता हूँ। मेरा ढोंग आप मनमें विचार लें । मै पापोंका घर हूँ । मुझमें गुणोंकी गन्ध (लेश) भी नहीं है । हे निस्सहायोंके बन्धु ! ऐसी दशामें मैं किस मुँहसे अपने उद्धारकी आशा रखूँ ? किंतु 'अबतक मैंने जितने पापियोंका उद्धार किया है, उनकी अपेक्षा यह कितना महापापी है !' यों पापोंकी परीक्षाके कौतुकसे यदि मुझको तार सकें तो अवश्य तार दीजिये ॥ ५३ ॥

सेवकस्तवेति कथं वक्तुं प्रभवामि विभो !
शरणं तवेति वचो वक्तुं क कपालो मे

दीनदुर्गतोऽहमिति किं वाच्यं दयानिधये
त्वन्नामाश्रयोऽहमिति वक्तुं नाद्य कालो मे ।
पापः केन साहसेन याचे दयाभिक्षामहं
'रक्षाजामिलादिवत्' प्रवक्तुं किमु भालो मे
किमिव निवेदयामि लब्धुं ते दयार्द्रदृशं
तदिदं त्वमेव दरं दर्शय दयालो ! मे ॥ ५४ ॥

१—भवत्सेवायोग्यत्वाभावात् । २—शरणागतियोग्यभाग्याभावात् । ३—दयासागरः प्रार्थनां विनैव सर्वं जानीयात् । ४—तव नामस्मरणमेव मे आश्रय इति विमुखस्य मे वक्तुं नाद्य कालः, अग्रे स्याच्चेदन्या वार्ता । ५—'अजामिलादिपूर्वपातकिवत् मामपि रक्ष' इति कथयितुं किमु मे भालः भाग्यम् ? तथाविधयोग्यताभावान्नास्ति तादृग् भाग्यमित्याशयः । ६—किंचित् ॥ ५४ ॥

'मैं आपका सेवक हूँ' यह कैसे कह सकता हूँ । आपकी सेवाकी योग्यता मुझमें कहाँ । 'मैं आपके शरण हूँ' यह कहनेका भी मेरा भाग्य कहाँ—मुझ-सरीखे क्या आपकी शरणागतिके योग्य हैं ? 'मैं दीन और दुर्दशापन्न हूँ' यह दयासागर आपसे कहनेकी क्या आवश्यकता—आप बिना कहे भी सब कुछ जानते हैं । 'तुम्हारे नामस्मरणका मुझको आसरा है' यह भी कहनेका अभी मेरा समय नहीं । मैं पापी ऐसी स्थितिमें किस हिम्मतपर दयाकी भिक्षा माँगूँ । 'अजामिल आदि पापियोंकी भाँति मेरी भी रक्षा कीजिये' यह कहनेका भी क्या मेरा भाग्य है ? हे दयालु ! आपकी दयादृष्टिको पानेके लिये मैं क्या निवेदन करूँ, यह तनिक आप ही दिखा (सिखा) दीजिये ॥ ५४ ॥

मनसि कदाचिन्नात्मचिन्ता पदमादधाति
शास्त्रं नोपयाति नित्यनिर्भरसमाधि माम्
कुर्वे मन्दकर्मा कथं शास्त्रोदितकर्माण्यहं
भ्रंशयति भक्तेरपि लोकप्रेम वाधि माम् ।

किमधिकमीरयामि मङ्क्षु मन्त्रजापेष्वपि
स्थिरता दुरापेयं दुनोति द्रवदाधि माम्
नाथमवलोके लुप्तसाधनबलोऽपि केन
नूनं नरलोकेऽखिललोकेश्वर ! शाधि माम् ॥ ५५ ॥

आत्मचिन्तनं न मनसि तिष्ठति । नित्यगहनम्, अगाधि दुर्ग्राह्यं शास्त्रं मां प्रति न प्राप्नोति । अगाधि इति स्थायि–हारि-इतिवत्केवलात् णिनिः । बाधि बाधकं लौकिकं प्रेम भक्तेः सकाशादपि मां भ्रंशयति निपातयति । मन्त्रजपसमयेऽपि दुरापा दुर्लभा इयं मनःस्थिरता द्रवन् आधिः मानसव्यथा यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा मां दूनोति पीडयति । मन्त्रजपेष्वपि मनःस्थिरता न, तस्मिन् समये नानाविधा मानसव्यथा-श्चेतसि यातायातं कुर्वन्तीति मे मनःक्लेशः । एवं च आत्मचिन्तादीनां भवद्दर्शनसाधनानां बलं मे लुप्तम् । ततश्च केनोपायेन नाथ त्वामवलोके इति त्वमेव मामनुशाधि ॥ ५५ ॥

आत्मचिन्तनकी बात मेरे मनमें कभी नहीं आती । नित्य गहन एवं दुर्बोध शास्त्र मुझतक नहीं पहुँचता । फिर हीन कर्म करनेवाला मैं शास्त्रोक्त कर्म कैसे कर सकता हूँ । सच्चे हितमें बाधा देनेवाला लौकिक प्रेम मुझको भगवान्की भक्तिसे भी गिरा देता है । अधिक क्या कहूँ, मन्त्र-जपके समय भी मेरे लिये स्थिरता दुर्लभ है । विविध चिन्ताओंके मनमें सदा दौड़ते रहनेके कारण मुझे यह अस्थिरता बहुत ही पीड़ा देती है । इस तरह सब साधनोंका बल लुप्त हो जानेसे मैं इस नरलोकमें आपको किस उपायसे देखूँ, यह आप ही मुझे उपदेश दीजिये ॥ ५५ ॥

विषयविलासैर्विप्रलभ्य पथि लुण्ठितोऽस्मि
कुण्ठितोऽस्मि काम्यकर्मबन्धैर्लोभलीनोऽयम्
अश्रान्तं भ्रमामि नावयामि रागवश्यतया
किं पश्यसि भूरि भवमार्गो मे नवीनोऽयम् ।
नाथ ! तवास्मीति बत यो हि सकृदुच्चारयेत्
तं वै तारयेयमिति भावस्तावकीनोऽयम्

किं पुनः पराङ्मुखोऽसि पङ्गुपराधीनोपरि
सर्वोपायहीनो द्वारि दुस्सीदति दीनोऽयम् ॥ ५६ ॥

विप्रलभ्य प्रतार्य मार्गे चलन्नहं लुण्ठितः अपहृतः, सर्वं सुकृतमपहृतमित्याशयः । लोभलीनः अयमहं काम्यैः कर्मबन्धैः कुण्ठितो मूर्खीकृतः । नावयामि भ्रमन्नपि संसारभ्रमिं नावगच्छामि । भवमार्गोऽयं मे भूरि नवीनः । भावः अभिप्रायः । दुस्सीदति दुःखेन सीदति ॥

विषय-विलासोंने धोखा देकर मार्गमें मुझको लूट लिया। लोभमें फँसा मैं कामनाओंके लिये किये गये कर्मोंके बन्धनसे कुण्ठित (दुखी) हो गया हूँ। निरन्तर चक्कर लगाते रहनेपर भी रागसे अंधा होनेके कारण मुझे इस बातका पता ही नहीं चलता। आप क्या देख रहे हैं? यह संसारका मार्ग मेरे लिये बिल्कुल नवीन है। 'हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ—यों एक बार भी कोई बोल दे तो मैं उसका उद्धार कर दूँ' यह आपकी भावना है। तब फिर आप मुझ पङ्गु एवं पराधीनसे विमुख क्यों हो रहे हैं? सभी उपायोंसे हीन यह दीन आपके द्वारपर दुखी होकर पड़ा है ॥ ५६ ॥

यद्यपि धनस्य लोभलालसां परित्यजामि
भुवने भजामि शान्तिशीलनेऽद्वितीयताम्
किंतु हृदि चिन्तयामि चारुचित्रबन्धैरिह
कविताप्रबन्धैर्मार्मिकेषु महनीयताम् ।
इत्थमहोरात्रं यशोलिप्सालवलीनस्यास्य
दीनस्यार्थनाऽसौ नाथ सफला विधीयताम्
चारुचमत्कुर्वन्नवकाव्यकलोल्लासनाय
कीर्तिवासनापि तवोपासनासु लीयताम् ॥ ५७ ॥

शान्तिपरिशीलनेऽयमद्वितीय इति कीर्तिं भजामि। धनलोभं परित्यज्यापि—चारुर्विचित्रश्च बन्धः गुम्फः येषु एवंविधैः काव्यप्रबन्धैः कवितामर्मज्ञेषु पूजनीयतां हृदि चिन्तयामि । ततश्च यशोलिप्सालवमात्रेऽपि लीनस्य अस्य दीनस्य मम प्रार्थना एवं सफला क्रियतां यत् काव्यकलाया

उल्लासनाय या कीर्तेर्वासना सा तवाराधनासु सम्मिलतु । अर्थात् तवोपासनापरेषु काव्यनिर्माणेष्वेव मे कीर्तिलालसा पूर्यतामित्याशयः ।५७।

यद्यपि मैं धनके लोभ-लालचको छोड़ देता हूँ और शान्तिके सेवनमें अद्वितीय स्थान प्राप्त कर लेता हूँ अर्थात् सब लोग मुझे शान्तप्रकृति पुरुषोंमें श्रेष्ठ मान लेते हैं, तो भी मेरे हृदयमें विचार हुआ करता है कि सुन्दर और विचित्र पदरचनावाले कविता-निबन्धोंसे मार्मिक लोगोंमें मैं सम्मान प्राप्त करूँ। इस तरह रात-दिन यश पानेकी आशामें लगे हुए इस दीनकी प्रार्थनाको सफल कर दीजिये कि चमत्कृत कर देनेवाली नयी-नयी काव्यकला-को दरसाकर कीर्ति कमानेकी वासना भी आपकी उपासनामें लीन हो जाय। अर्थात् आपकी भक्तिसे पूर्ण काव्योंके निर्माणसे ही मेरी कीर्ति-लालसा पूर्ण हो जाय ॥ ५७ ॥

अविदितयामं याति फल्गुकृतौ कालो मम
किमिह कृपालो ! विस्तरेण वर्णयामि ते
भूपभवनेषु भृशमाशापाशबद्धो यामि
मार्गयामि मानं महिमानं विस्मरामि ते ।
विषमभवेऽस्मिन् भवेद्भाग्यं किं तदेतदपि
देव दीनदुर्गतदयालो ! दर्शयामि ते
भवदवलोकनादुदीर्णघनस्नेहं येन
पुलकितदेहं चरणेऽहं विलुठामि ते ॥ ५८॥

फल्गुकृतौ निरर्थककार्ये । मानं सम्मानं मार्गयामि अन्विष्यामि, इतस्ततः सम्मानप्राप्तये पर्यटामि, किंतु वास्तवगौरवप्राप्तेरुपायं ते महिमानं माहात्म्यं गुणगानं विस्मरामि । हे दीनदरिद्रेषु दयालो ! विषमसंसारे किं मे एतदपि भाग्यं भवेत्, अहं त्वां दर्शयामि । किं तद् भाग्यमित्याह— येन यद्भाग्यकारणाद् उद्वेलितस्नेहं तथा पुलकितदेहं ते चरणे अहं विलुठामि ॥ ५८ ॥

निरर्थक कामोंमें मेरा समय जा रहा है, जिसके पहर जाते हुए

लक्षित नहीं होते। हे कृपालो ! विस्तारसे इस विषयमें क्या निवेदन करूँ ? आशाकी डोरीसे जकड़ा हुआ राजभवनोंमें जाता हूँ और सम्मान खोजता हूँ, किंतु आपकी महिमाको भूला रहता हूँ। हे दीनदयालो ! आपको दिखाता हूँ—आपसे निवेदन करता हूँ कि क्या इस विकट संसारमें मेरा कभी यह भी भाग्य होगा कि आपके दर्शनसे मेरा अनुराग उमड़ा हो, देह रोमाञ्चित हो और मैं आपके चरणोंमें लोटता होऊँ ? ॥ ५८ ॥

रात्रिंदिवं देहधनधामसुखलिप्सापरो
यत्कार्यं करोमि किल तत्ते किमावेद्यताम्
तर्कणां तनोमि तन्त्रमन्त्रोदितकर्तव्येषु
निभृतमकर्तव्येषु साधयाम्यभेद्यताम् ।
शनैः शनैरित्थं संचितानि दुरितानि मया
तदिह दयायै स्वयं स्वामी किमु खेद्यताम्
सोऽहं संकुचामि पुण्यपुञ्जपरमात्मान्तिके
पुञ्जीभूतपाप्मा कथमात्मा मे निवेद्यताम् ॥ ५९ ॥

तत्कार्यं ते किम् आवेद्यतां, निरर्थककार्यनिवेदनं व्यर्थमेवेत्यर्थः। अकर्तव्येषु सांसारिककार्येषु अभेद्यतां सत्यतां समर्थयामि, बुद्धिकल्पनाबलेन। तत् तस्माद् इह अस्मिन् स्वहस्तोपार्जितभवसंकटे दयायै दयां दर्शयितुम् स्वयं स्वाम्येन न तु कश्चन तत्सेवकोऽपि किमु खेद्यतां खेदं प्राप्यताम् ? स्वामिने परिश्रमदानं नोचितमित्यर्थः। पुण्यपुञ्जरूपस्य परमात्मनः समीपे राशीभूतपातकः मे आत्मा कथं निवेद्यताम्, आत्मनिवेदनेऽपि मत्साहसं नास्तीत्याशयः ॥ ५९ ॥

रात-दिन देह-धन-घर-सुख आदिके लालचमें लगा जो काम करता हूँ, उसका क्या बखान करूँ। (बुद्धिकी कल्पनासे) तन्त्र-शास्त्र एवं मन्त्रशास्त्रोंमें कहे हुए कर्मोंके सम्बन्धमें तर्कणा—ऊहापोह करता हूँ और सांसारिक अकर्तव्योंमें सत्यता सिद्ध किया करता हूँ। यों धीरे-धीरे मैंने अनेकों अपराध बटोरे हैं, ऐसी दशामें दया करनेके लिये स्वामीको कैसे कष्ट दूँ। मुझे संकोच

होता है कि पुण्यराशि परमात्माके समीप पापराशि इस मेरे आत्माको कैसे निवेदन करूँ ॥ ५९ ॥

शय्योत्थायमेव धनिकालयेषु धावं धाव-
मनिशमशान्तिमेव निर्भरमिहादधे
चक्षुषोः समक्षमहमुत्थानं निपातं नृणां
नित्यमवलोके बत लोके दूरदुर्विधे ।
अहह तथापि साधुसङ्गकथाहीनं वृथा-
यत्नैर्विनिलीनं ग्रहे लोभलालसाभिधे
सर्वतो निरुद्धगतिमभितो विरुद्धकृति-
मुद्धतमबुद्धिमिममुद्धर दयानिधे ॥ ६० ॥

शय्यातः उत्थायैव (वीप्सायां णमुल्) । आदधे धारयामि । दूरदुर्विधे— दूरम् अत्यन्तं दुर्विधा दुर्दशा यस्य तस्मिन् । लोभलिप्सारूपे ग्रहे आग्रहे अभिनिवेशे लीनं लग्नम् । निरुद्धा गतिः प्रसारो यस्य । विरुद्धा धर्मसदाचारादिभ्यो विपरीता कृतिः कार्यं यस्य । उद्धतम् अबुद्धिम् ॥ ६० ॥

नित्य सबेरे शय्यासे उठते ही धनियोंके घरोंमें दौड़ते-दौड़ते मैं यहाँ भरपूर अशान्तिका ही निरन्तर अर्जन किया करता हूँ। अत्यन्त दुर्दशापन्न इस लोकमें आँखोंके सामने प्रतिदिन लोगोंका उत्थान और पतन देखता हूँ। अहो! तो भी साधुओंके सङ्ग और भगवत्कथासे हीन तथा लोभ-लालचरूपी चक्करमें निष्फल यत्नोंके द्वारा रात-दिन लगे हुए सब ओरसे गतिहीन तथा धर्म-सदाचारादिसे विरुद्ध आचरणवाले, उद्धत और निर्बुद्धि इस जनका आप ही उद्धार करें; क्योंकि आप दयाके सागर हैं ॥ ६० ॥

[१५]

छायावादः

वाति विश्वतोऽपि घोरनिर्घोषी प्रचण्डमरुद्
भूरिरयरोषी वर्द्धतेऽब्धिरुत्तरोत्तरम्

यातो रविरस्तं कालजलदावलिप्तं वियद्
गुप्तं गमनीयवर्त्म लुप्तं धैर्यमान्तरम्।
पर्वतवितुङ्गाः संग्रसन्तेऽमी तरङ्गाः पुनः
पोतं निरुद्योतं भयाद् भ्रमति निरन्तरम्
सम्प्रति भवन्तमेकमाधारं प्रधारयामि
हंहो कर्णधार ! तव धारय भुजे भरम्॥ ६१ ॥

पश्चिमादिदेशेभ्यः प्रचारकोलाहलमुखरं विज्ञानं तथा प्रसृतं येन हि दृढश्रद्धालूनामपि हृदयमितस्ततो बलाद्विक्षिप्यते । अब्धिः०—सर्वतो निमज्जकाः सांसारिकप्रपञ्चा उत्तरोत्तरं वृद्ध्युन्मुखाः। यातो रवि०—मार्ग-प्रकाशका गुरवः शास्त्राणि च मत्कृते लुप्तप्रायाणि। सर्वतोऽन्धकारः। आत्म-कल्याणमार्गश्छन्नः। अतएव निराशस्य हृदयस्य धैर्यं तिरोहितम्। पर्व०—महामहान्तो लोभनीयविषया मामाकर्षन्ति। इतो मत्समीपे अज्ञानदूरी-कारको न कश्चित्प्रबोधः। अतएव किंकर्तव्यविमूढतया इतस्ततो भ्रमामि। सम्प्रति ममोद्धारभारो भवदायत्त एव ॥ ६१ ॥

चारों ओर घोर शब्द करनेवाली प्रचण्ड आँधी चल रही है (जिसके कारण कोई दूसरा शब्द नहीं सुन पड़ता)। यह समुद्र भी दूना-दूना रोष करके उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। सूर्य अस्त हो गया है, काले-काले बादलोंसे आकाश ढँका है। आगे जानेयोग्य मार्ग छिप गया है। (इसी कारण) अन्तःकरणका धैर्य जाता रहा। ये देखो पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे तरङ्ग मुझे ग्रास करनेको तैयार हैं। नौकामें अँधेरा है और भयसे यह चक्कर खा रही है। हे कर्णधार (नौकाके खेनेवाले) ! इस समय आपका ही आधार मैं समझ रहा हूँ। अब आप ही अपनी भुजापर इसका बोझ ले लीजिये ॥६१॥

---

[१६]

सप्तवाराः

नित्यं रविवारे रवितनयातटस्थो लसे-
च्चारुचन्द्रवारे बर्हिचन्द्रकचकासी भातु

भूरि भौमवारे भवेद् भौमासुरहारी सखा
बुद्धिं बुधवारे बलभद्रानुजो मेऽनुयातु ।
गाढं गुणयामि गुरुवारे गोपगोपीपतिं
श्यामः शुक्रवारे शौरिरेष शनिवारे पातु
संसारे ह्यपारे भ्रमन्नेतदेव याचे प्रभो
ध्यानं ते मुरारे ! सप्तवारेष्वपि मा जहातु ॥ ६२ ॥

बर्हिचन्द्रकाः मयूरपिच्छाग्रभागाः, तैः चकासी शोभमानः । गुणयामि गुणकीर्तनद्वारा भजामि । वारंवारं कीर्तयामि वा ॥ ६२ ॥

प्रतिरविवारको रवितनया यमुनाके तटपर विहार करते हुए श्रीकृष्ण (मेरे हृदयमें) शोभित हों, शोभन चन्द्रवारको मयूरचन्द्रिकासे सुशोभित होकर प्रकाशित हों । भौम—मंगलवारको भौमासुरके संहारी मेरे रक्षक हों और बुधके दिन बलरामके छोटे भाई बुद्धिमें विराजें । गुरुवारको गोप-गोपियोंके स्वामीका गाढ़ अनुरागसे गुणगान करूँ । शुक्रके दिन श्याम और शनिवारको शूरसेन-वंशज वासुदेव मेरी रक्षा करें । हे प्रभो ! इस अपार संसारमें भटकता हुआ आपसे यही माँगता हूँ कि हे मुरारे ! सातों ही वारोंमें आपका ध्यान मुझे न छोड़े । 'ध्यान मुझे न छोड़े' कहनेका यही गूढ भाव है कि मैं अपराधी हूँ, आपके ध्यानको छोड़ देता हूँ; किंतु दयालो ! आप ऐसी दया करें कि आपका ध्यान मुझे न छोड़े ॥ ६२ ॥

[१७]

द्वादशमासाः

चैत्रे चित्रचर्यो वरवैशाखे विशाखासखो
ज्येष्ठे जलक्रीडो भृशमाषाढे चलन् वनाय
श्रावणे तु हिन्दोलानुलासी भ्रमन् भाद्रपदे
ह्याश्विने च चन्द्रिकाचकासी चित्तरञ्जनाय ।

कार्तिके सुरासबन्धी मार्गे मृगनाभिगन्धी
पौषे पुष्टिवश्यो व्रजन् माघे व्रतिकावनाय
फाल्गुनेऽनुरज्यन् रङ्गहोलिकाविलासे हरि-
र्द्वादशसु मासेष्वस्तु दासेप्सितपूरणाय ॥ ६३ ॥

चित्रचर्यः वसन्तवैभवादद्भुतचरित्रः । विशाखा श्रीराधिकायाः सखी । चन्द्रिकाचकासी शरच्चन्द्रिकया शोभमानः । सुरासबन्धी शोभनां रासक्रीडां बध्नाति करोति । मृगनाभिः कस्तूरी तद्गन्धशाली । पुष्टिवशः पुष्टिः अनुग्रहभक्तिः तद्वश्यः। व्रतिकावनाय माघव्रतधारिणीनां व्रजकुमारीणां मनोरथपूरणाय ॥ ६३ ॥

चैत्रमें वसन्तके कारण मनोहर लीला करनेवाले, वैशाखमें विशाखा (श्रीराधिका-सखी) के सहचर, ज्येष्ठमें जल-क्रीड़ा करते हुए, आषाढ़में वन-विहारके लिये पधारते, श्रावणमें हिंडोलेमें झूलते, भाद्रपदमें भ्रमण करते और आश्विनमें अपनी प्रियतमाके मनोरञ्जनके लिये चाँदनीमें सुशोभित होते हुए, कार्तिकमें श्रीगोपीजनोंके साथ रास रचानेवाले, मार्गशीर्षमें मृगनाभि (कस्तूरी) की सुगन्ध फैलानेवाले, पौषमें 'पुष्टि' (अनुग्रह-भक्ति) के वशीभूत, माघमें माघव्रत करनेवाली व्रजकुमारियोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये पधारते हुए, फाल्गुनमें रङ्गभरी होली खेलते हुए—यों श्रीहरि बारहों महीनोंमें इस दासके मनोरथ पूर्ण करें ॥ ६३ ॥

[१८]

षड्तवः

सरसवसन्ते फुल्लमल्लिकाविलासी गुरु-
ग्रीष्मे यमुनाम्भःकेलिभासी हृदयेऽनुयातु
प्रावृषि कदम्बमाल्यहारी रमणीषु लसन्
शरदि सुरम्यरासकारी प्रमदं दधातु ।

हेमन्तेऽथ गोष्ठान्तर्हसन्तीमुपसेवमानो
शिशिरे दधानोऽमन्दकुन्दस्रजमुत्पृणातु
वृन्दावनमञ्जुलनिकुञ्जपुञ्जचारी चिरं
सर्वर्तुषु सोऽयं सुखकारी गिरिधारी पातु ॥ ६४ ॥

हसन्ती शीतनिवारणाय अङ्गारधानिका, वस्त्रविशेषः तूलभृता 'मिर्जई', हसन्ती गोपिका वा। उत्पृणातु प्रीणयतु ॥ ६४ ॥

रसपूर्ण वसन्तमें खिले हुए चमेलीके पुष्पोंसे सुशोभित एवं कठोर गर्मीमें यमुनामें जल-क्रीडा करनेवाले श्रीहरि हृदयमें विराजें। वर्षामें कदम्बमाला धारण करके गोपियोंमें विलास करनेवाले तथा शरद्‌में रमणीय रास रचानेवाले प्रभु हमें आनन्दित करें। हेमन्तमें गोष्ठके भीतर 'हसन्ती' (रूईदार मिर्जई, अँगीठी अथवा हँसती हुई गोपी) का सेवन करते हुए तथा शिशिरमें सुन्दर कुन्दकी मालासे विभूषित हरि हमें हर्षित करें। यों वृन्दावनके मञ्जु निकुञ्जोंमें चिरकालतक विहार करनेवाले गिरिधारी सभी ऋतुओंमें (हमारे लिये) सुखकारी हों ॥ ६४ ॥

[१९]

नामसंकीर्तनम्

कृष्णं कीर्तयामि व्रजवल्लभं विभावयामि
गोविन्दं गृणामि नन्दसूनुं नन्दयाम्यहम्
श्रीपतिं श्रयामि चक्रपाणिं चिन्तयामि चिरं
पद्मापतिं पूजयामि शौरिं शीलयाम्यहम्।
यज्ञेशं यजामि वर्णयामि गिरा विश्वपतिं
मानयामि माधवं रमेशं राधयाम्यहम्
भूतिदं भजामि भूतभावनं निभालयामि
भक्तेशं भणामि भगवन्तं भावयाम्यहम् ॥ ६५ ॥

गृणामि गायामीत्यर्थः। शीलयामि मननविषयीकरोमि। निभालयामि पश्यामि ॥ ६५ ॥

मैं कृष्ण-नामका कीर्तन करता हूँ, व्रजवल्लभका निरन्तर चिन्तन करता हूँ, गोविन्दका गुणगान करता हूँ तथा नन्दनन्दनका अभिनन्दन करता हूँ। श्रीपतिका आश्रय लेता हूँ, चक्रपाणिका चिरकालतक स्मरण करता हूँ, पद्मापतिका पूजन करता हूँ और शौरि (शूरसेनवंशज श्रीकृष्ण) का निरन्तर ध्यान करता हूँ। यज्ञपतिका यजन और विश्वपतिका वाणीसे वर्णन करता हूँ। माधवका सम्मान और रमेशकी आराधना करता हूँ। भूतिप्रदका भजन, भूतभावनका दर्शन, भक्तभावनकी स्तुति और भगवान्‌की भावना करता हूँ ॥ ६५ ॥



[२०]

नवधा भक्तिः

श्रीपतेः शृणोमि गुणान् कृष्णकथां कीर्तयामि
सीतापतेः स्मेरमुखं सस्पृहं स्मराम्यहम्
सेवे पादपङ्केरुहं देवेन्द्रावलेपहनः
काममेतदेवेच्छामि शौरिमर्चयाम्यहम् ।
वन्दे नन्दसूनुमभिनन्देयं च दास्यं तस्य
सीरभृत्सखास्तु निजमात्मानं ददाम्यहम्
दैत्यानामराते ! मम भाग्यसुप्रभाते भवे-
न्नूनं नवधा ते भक्तिरिति वरयाम्यहम् ॥ ६६ ॥

स्मेरं मन्दहासयुक्तं मुखम्। देवेन्द्रस्य शक्रस्य अवलेपं गर्वं हन्ति तस्य (क्विप्)। सीरभृत् हलधारी बलभद्रः मे सखा अस्तु, ततश्च अनुजे श्रीकृष्णे स्वत एव सख्यं भवेदेवेति तात्पर्यम्। दैत्यानाम् अराते शत्रो ! वरयामि वरं याचामि। अत्र 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यादिर्नवधा भक्तिः क्रमेण सूचितेति रत्नावली ॥ ६६ ॥

मैं श्रीपतिके गुणोंको सुनता रहूँ, कृष्णकथाका कीर्तन किया करूँ, सीतापतिके मन्दस्मितयुक्त मुखारविन्दका सतृष्ण होकर स्मरण करूँ तथा

इन्द्रके गर्वका गञ्जन करनेवाले गोवर्द्धनधारीके चरण-कमलका सेवन करूँ। मेरी यही इच्छा है कि शौरिकी पूजा करूँ, नन्दनन्दनकी वन्दना करूँ और उनकी यथेष्ट दासता स्वीकार करूँ। बलराम मेरे सखा हों (फिर तो श्रीकृष्णमें अपने-आप सख्यभक्ति हो जायगी) और उनके श्रीचरणोंमें मैं आत्मसमर्पण कर दूँ। हे दैत्यारि ! मेरे भाग्यके सुप्रभातमें आपकी नवधा भक्ति हो—यही वर माँगता हूँ ॥ ६६ ॥

---

[२१]

विश्वात्मा

सूर्ये संनिविश्य भूरि भुवनानि भासयसे
पाताले प्रविश्य सर्वलोकानवष्टम्भसे
दशसु दिशासु दिव्यभूतिभिर्विभासितमां
भूमिमिमां विश्वम्भर सर्वदावलम्बसे।
स्तूयसेऽथ सर्वैरिह सर्वस्थलशायी विभो !
नूनं जलशायीति त्वमेव किल कीर्त्यसे
दृश्यसे यतो यतोऽपि तत्त्वतस्ततस्ततोऽपि
सर्वतोऽपि सर्वात्मा त्वमेव समवेक्ष्यसे ॥ ६७ ॥

सूर्ये०—'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः इति। अवष्टम्भसे अवष्टम्भकशक्तिरूपेण सर्वान् लोकान् धारयसि। दिव्यभूतिभिः०—ये लोकपाला इन्द्रादयस्ते सर्वेऽपि तवैवांशकलारूपा विभूतयः। भूमिम् अवलम्बसे विश्वभरणसामर्थ्यशाली त्वमेव भूम्यै अवलम्बनं ददासीत्यर्थः। सर्वस्थल०—'जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके' इत्यादिना। 'जलशायी विश्वरूपो मुकुन्दः' इत्यमरः॥

सूर्यमें संनिविष्ट आप इन चतुर्दश भुवनोंको प्रकाशित करते हैं। पातालमें रहकर आपने सब लोकोंको धारण कर रखा है। दिक्पालरूप अपनी दिव्य विभूतियोंसे आप ही इन दसों दिशाओंमें शोभित

हैं। हे विश्वम्भर ! इस भूमिको आपने ही टेक दे रखी है। हे सर्वव्यापी प्रभो ! सब लोग आपको सब स्थानोंमें रहनेवाला कहकर स्तुति करते हैं। इसीलिये 'जलशायी'—जलमें रहनेवाले भी आप ही कहे जाते हैं। जिधर-जिधर आप देखे जाते हैं; उधर-उधर यथार्थतः आप-ही-आप हैं। सब ओर सर्वात्मा आप ही देखे जा रहे हैं ॥ ६७ ॥

त्वामेवाभितोषयति सोऽयं शिवसेवी जनो
देवीसेवकेऽपि दयां तामेवावलम्बसे
नूनं नरसिंहहयग्रीवदत्तवेङ्कटादि-
नामभिः प्रकीर्तयतस्त्वं वै परित्रायसे* ।
नानाविधयागैर्यजतोऽपि फलैः पूरयसे
करुणारसेन तापसेऽपि सदा दयसे
भावनानुसारं साधकेच्छापरिपूर्तिकरो
नानानाममूर्तिधरो भक्तानुकम्पसे ॥ ६८ ॥

शिवोपासनातत्परो जनः त्वामेव परितोषयति । यां कृपां कृष्णोपासके धारयसि, तामेव दयां देवी (शक्ति) सेवकेऽपि अवलम्बसे स्वीकरोषि। दत्तः दत्तात्रेयः । वेङ्कटपदेन दक्षिणापथप्रसिद्धविट्ठलरङ्गेशादयोऽन्यान्येऽपि भगवद्विग्रहाः सूच्यन्ते । नरसिंहप्रभृतिनामजपेन (करणभूतेन) त्वामेव कीर्तयतः तवैव कीर्तनकारकान् भक्तान् त्वमेव रक्षसि। यजतः यागद्वारा भवदुपासकान् अपि । फलैः—अभीष्टफलप्रदानेन पूरितान् कृतार्थान् करोषि । तापसे तपश्चर्याकारकेऽपि दयसे दयां करोषि । भावनानुसारमिति०—साधकः स्वभावनानुसारं यादृशैर्नामभिः यां मूर्तिं ध्यायति त्वं तादृशमूर्तिधर एव सन् तस्येच्छापरिपूर्तिं कृत्वा भक्तेषु दयां करोषीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

शिवकी सेवा करनेवाले भक्त आपको ही प्रसन्न करते हैं। देवी-सेवकपर भी आप वैसी ही कृपा करते हैं। नृसिंह-हयग्रीव-वेङ्कट-दत्तात्रेय

* करुणायसे—दयादृष्टिसे देखते हैं।

आदि नामोंसे कीर्तन करनेवालोंकी भी आप ही रक्षा करते हैं। नाना यज्ञ करनेवालोंको भी आप ही उनके अभीष्ट फल देते हैं। तपस्या करनेवालोंपर भी आप ही दया करते हैं। भावनाके अनुसार साधकोंकी इच्छा-पूर्ति करनेवाले आप नाना मूर्तियाँ धारण करके भक्तोंपर दया करते हैं ॥ ६८ ॥



[२२]

श्यामघन-प्रार्थना

वियति विजृम्भमाणविद्युच्छटाविस्फुरितां
श्यामघटामाविष्कृत्य धीरतां न धर्षय मे
घोरघोरगर्जनेन तर्जयन् वियोगिजनान्
विरहविवर्द्धनेन मा मा मनस्तर्षय मे।
मन्दमन्दबिन्दुक्रमधीरैर्यमुनान्तचरैः
शिशिरसमीरैरिह तप्तं वपुः स्पर्शय मे
दर्शयसि काममविरामदुःखमेव कथं
हंहो घन श्याम ! घनश्याममिह दर्शय मे ॥ ६९ ॥

आकाशे विजृम्भमाणया परितो विवर्द्धमानया विद्युच्छटया (तडित्कान्त्या) विस्फुरितां चमत्कुर्वतीं श्यामघटाम्। मम धैर्यं न विलोपय। मम मनः मा तर्षय तृष्णा (उत्कण्ठा)-तुरं मा कुरु। मन्दमन्दो यो बिन्दुनिपतनस्य क्रमः तेन धीरैः। विन्दवो मन्दमन्देन क्रमेण निपतन्तीति पवनानां धीरता सूच्यते इत्याशयः। यमुनासमीपचारिभिः शीतलपवनैः मम वपुः स्पर्शय, यतो हि तद् विरहतापात्संतप्तम्। समीराः वपुः स्पृशन्ति, तान् घनः प्रेरयति इति घनः समीरैः वपुः स्पर्शयति इति णिच्। तस्य लोटो मध्यमपुरुषस्यैकवचनम्। हे श्याम मेघ ! अविरामं दुःखमेव कथं दर्शयसि हन्त घनवत् श्यामं श्रीकृष्णमपि तु मह्यं दर्शय। तमपि उत्कण्ठयित्वा मम समीपागमनार्थं प्रेरयेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

आकाशमें फैलती हुई बिजलीकी कान्तिसे उल्लसित इस श्यामघटाको दर्शनपथमें लाकर मेरे धैर्यको चूर्ण मत करो। इस घोर-घोर गर्जनासे विरही

लोगोंको तर्जन करते हुए तुम विरहाग्निको बढ़ाकर मेरे मनको मत तरसाओ। (अपितु) मन्द-मन्द (छोटी-छोटी) फुहारोंको लिये हुए, यमुनातटचारी इन धीर और शीतल पवनोंसे मेरे तपाये हुए शरीरका स्पर्श कराओ। हे श्यामघन ! निरन्तर दुःख-ही-दुःख क्यों दिखा रहे हो, घनश्याम (श्रीकृष्ण) को भी तो दिखाओ!—उनकी मनमें भी ऐसी उत्कण्ठा उत्पन्न करो कि वह इधर आ जायँ, उनसे मुझ विरहीको दर्शन दिये बिना न रहा जाय ॥६९॥



[२३]

संसाराद् वैराग्यम्

क०—**आसंस्तेऽपि पार्थिवाः पृथिव्यां बलभारभृतो**
व्याप्नुते स्म येषामनुभावतो भयं न किम् ?
श्रेष्ठिनो वदान्या भूरिजाता लोकमान्याः पुन-
र्याता रूपशालिनो धरायामुदयं न किम् ?
मञ्जुनाथ पुंसां हन्त कोऽयमभिमानोऽधुना
नश्वरे शरीरे वेत्सि विधिसमयं न किम् ?
आयाता धरायामद्ययावद् भूरिसंख्या नरा-
स्ते किल धरायामेव याता विलयं न किम् ?॥ ७० ॥

येषाम् अनुभावतः प्रभावात् भयं किं न व्याप्नुते स्म, अपि तु लोकेषु भयं व्याप्तमभूत्, बलभारधारकाः पार्थिवाः राजानः तेऽपि पृथिव्यामासन्। वदान्याः दानशीलाः। लोकैः मान्याः विद्वांसः (धरायाम्) भूरि जाताः। रूपशालिनः पुरुषाश्च धरायाम् उदयं किं न याताः ? अपितु बहव उत्पन्नाः। विधेः (विधातुः दैवस्य) समयं मर्यादां किं न जानासि ? विलयं विलोपम् ॥ ७० ॥

विपुल पराक्रम अथवा विपुल सेनाका भार ढोनेवाले वे प्रसिद्ध राजा भी इस पृथिवीपर हो गये हैं, जिनके प्रभावसे चारों ओर भय व्याप्त हो जाता था। दानशील (दाता) बड़े-बड़े धनकुबेर तथा लोकोंद्वारा

सम्माननीय बड़े-बड़े विद्वान् भी बहुत हो चुके हैं। फिर सुन्दरताके लिये प्रख्यात वे सुरूपशाली भी क्या इस भूमिपर पैदा नहीं हुए ? हे मञ्जुनाथ ! तब एक-न-एक दिन नाश होनेवाले इस शरीरपर तुझे यह कैसा अभिमान है ? हाय ! क्या तू विधाताकी मर्यादाको नहीं जानता ? जिसने शरीर लेकर यहाँ जन्म लिया है, उसे एक-न-एक दिन यहाँसे जाना ही होगा। यह स्पष्ट बात है कि आजतक इस धरामें प्रचुर संख्यावाले जितने मनुष्य आये (पैदा हुए), क्या वे इस धरामें ही लीन नहीं हो गये ? ॥ ७० ॥

बाल्यादेव विषयमरीचिकासु रमसे
पाल्याभूत् प्रणाली कर्मगहनाप्यमुष्य ते
दारा धनधामपरिवारास्तव बन्धकरा
हन्त तदमीभिस्तव समयो विमुष्यते।
मञ्जुनाथ मन्ये उपदेशास्तव सर्वे वृथा
यद् वै कामलाभलवलेशात् परितुष्यते
कामनामजस्रमयि ! धेहि सखे ! तावत् सुखं
'रामनाम सत्य'मिति यावन्न विघुष्यते ॥ ७१ ॥

विषयरूपासु मरीचिकासु (मृगतृष्णासु) रमसे। तदुपरि नानाविधैः कर्मभिः गहना (बन्धनकारिणी) प्रणाली (इयं लोकपद्धतिः) अमुष्य (अस्य) ते (तव) पालनीया अभूत्। विषयासक्तस्तु आसीः एव, तदुपरि कर्मभिर्बन्धकरः प्रवृत्तिमार्गः सेवनीयोऽभूदित्याशयः। अमीभिः एतैः तव समयः विमुष्यते अपत्रियते याप्यते यस्मात् त्वया कामनालाभस्य लवलेशात् लवस्यापि लेशात् संतुष्यते। हे सखे ! कामनां त्वं तावत्कालं धेहि धारय यावत् तव शववाहिभिः 'रामनाम सत्यम्' इति न विघुष्यते। ततश्च स्वल्पसमयार्थं कामनाभिः किमिति कदर्थितो भवसि इति गूढं सूच्यते ॥ ७१ ॥

बाल्यावस्थासे ही इन विषयोंकी मृगतृष्णा*में तुम रम रहे हो। इसपर भी नाना तरहके कर्मोंसे गहन (बन्धन करनेवाले) प्रवृत्तिमार्ग (लोक-प्रणाली) का तुमको पालन करना पड़ा । स्त्री, धन, मकान, कुटुम्ब-परिवार—ये सब तुमको बन्धनमें फँसानेवाले हैं; इनके फेरमें ही तुम्हारा सारा समय बीतता है। किंतु मञ्जुनाथ ! ये सब उपदेश तुम्हारे लिये व्यर्थ हैं; क्योंकि जहाँ इच्छापूर्तिका लेशमात्र भी दिखायी देगा, वहीं तुम फिर लुब्ध हो जाओगे (रम जाओगे)। अच्छी बात है, इन कामनाओंको मित्र ! आरामसे वहींतक लिये फिरो, जहाँतक तुम्हारे पीछे 'रामनाम सत्य है' यह घोषणा न हो [थोड़े-से इस जीवनकालमें इन कामनाओंसे क्यों कदर्थित होते हो ?]॥ ७१ ॥

[२४]

शनैः शनैर्भगवति†रतिः

कुटिलकुतर्कभरकर्कशनिशितशरै-
निर्दय ! भवसि यदि हृदयविदारी मे
दुर्भरकुटुम्बभरजर्जरशरीरभृतो-
ऽप्यहह निरर्थमसि तात ! तापकारी मे ।
मञ्जुनाथ नापरो विलोक्यते नृलोकतले
तापं यो विलोपयन् भवेद्धि भयहारी मे
केवलमखिललोकचित्तान्तरचारी सैष
बर्हिपक्षधारी ननु तर्हि पक्षधारी मे ॥ ७२ ॥

हे निर्दय ! कुटिलकुतर्कसमूहरूपैः कर्कशैः निशितैः तीक्ष्णैः बाणैः यदि

---

* रेतीली मरुभूमिमें बालूके टीले हवाके कारण लहरमें पड़े हुए ऐसे दीखते हैं जैसे आगे जल लहरा रहा हो। दौड़कर हिरन वहाँ पहुँचता है, तो आगे फिर वैसा ही दृश्य दीखता है। यों दौड़ते-दौड़ते मृगका अन्त हो जाता है, किंतु इस दृश्यका अन्त नहीं होता । इसीको मृगतृष्णा या मरुमरीचिका कहते हैं।

† सत्सङ्गके कारण धीरे-धीरे भगवान्में प्रेम ।

मम हृदयविदारको भवसि। दुःखेन पूरयितुं शक्येन कुटुम्बभारेण जर्जरशरीरधारकस्य। शरीरं बिभर्तीति क्विप्, ततः षष्ठी। अपि मे यदि व्यर्थमेव संतापदायकोऽसि। तर्हि मनुष्यलोके अन्यः कोऽपि न दृश्यते यो मे संतापं दूरीकुर्वन् सन् मम सर्वविधभयहारको भवेत्। लोकानां हृदयान्तःस्थितः अन्तर्यामी स एव मयूरपिच्छधारी एव केवलं मम पक्षपोषकोऽस्ति। 'सोऽचि लोपे' इति सुलोपात् 'सैष' इति ॥ ७२ ॥

हे निर्दयी ! कुटिलतासे किये गये कुतर्क (निकृष्ट और झूँठी दलील) रूपी कठोर या पैने बाणोंसे यदि मेरे हृदयको भेदन करते हो तो कठिन कुटुम्बभारको चलाते रहनेके कारण जर्जर शरीरवाले मुझको व्यर्थ ही तुम संताप देते हो। मञ्जुनाथ ! इस मनुष्यलोकमें ऐसा दूसरा कोई दिखलायी नहीं देता, जो मेरे संतापको दूर करके मेरा समस्त भयोंसे छुटकारा कर दे। केवल सकल प्राणियोंके हृदयमध्यमें रहनेवाला यह मयूरपक्षधारी (श्रीकृष्ण) ही मेरा पक्षधारी पक्षपोषक (तरफदारी करनेवाला) है ॥ ७२ ॥

सेवसे रसेन किमु सम्पदभिमानिनोऽमून्
स्वामी किल निखिलनृलोकभयहारी मे
भ्रमसि विलासिनीविलासरसलालसया
नन्दति हृदन्तरेऽत्र नन्दधेनुचारी मे ।
मञ्जुनाथ नाथसि किमन्यमयि ! दीनगिरा
सकलसुराधिपतिरस्ति सुखकारी मे
शरणमुपैषि यदि धरणिधुरीणमये
बर्हिपक्षधारी ननु तर्हि पक्षधारी मे ॥ ७३ ॥

सम्पत्तेः अभिमानयुक्तान् अमून् इमान् लोकान् आनन्देन प्रेम्णा किं सेवसे ? सकलमनुष्यलोकानां भयहारकः हरिः मम स्वामी। विलासरसस्य लालसया इच्छया मम हृदन्तरे हृदयमध्यभागे नन्दराजस्य धेनुचारकः श्रीकृष्णः नन्दति क्रीडति। हे मञ्जुनाथ ! अन्यं पुरुषं दीनवाण्या किं नाथसि याचसि ? सकलदेवेशः भगवान् मम सुखकारकः। त्वं यदि धरणेः पृथिव्याः भारधारकं राजादिकम् आश्रयसि तर्हि ॥ ७३ ॥

जिनको (थोड़ी-सी) सम्पत्तिका (भी इतना) अभिमान है, ऐसे इन संसारी धनिकोंका बड़े चावसे क्या सेवन करते हो ? मेरा स्वामी वह है, जो सम्पूर्ण मनुष्यलोकके भयको स्वभावसे ही दूर कर देनेवाला है। तुम विलासिनियों (हाव-भावयुक्त नारियों) के विलास-रसकी लालसासे (रात-दिन) घूमते हो, किंतु मेरे इस हृदयमें नन्दरायकी गौओंको चरानेवाला (व्रजराजकुमार) विचरता है। अरे मञ्जुनाथ ! और-और धनिकोंसे दीन स्वरमें क्या याचना करते हो ? समस्त देवताओंके भी स्वामी—देवाधिदेव मेरे सुखकारी हैं। (यहाँके धनिक अपनी शक्तिके अनुसार धनमात्र दे सकते हैं, किंतु मेरे स्वामी तो मुझको सब प्रकारका सुख देनेवाले हैं। सुखका साधन केवल धन ही नहीं है।) यदि तुम पृथ्वीका भार चलानेवाले राजा आदिकी शरण लेते हो तो याद रखो, मयूरपक्षधारी (मोरमुकुट धारण करनेवाले श्रीकृष्ण) मेरे भी पक्षपोषक हैं ॥ ७३ ॥

[२५]

भगवतः कारुण्यप्रार्थना

विषयविलासलवलालसमिदं मे मनो
मीलति प्रमोदं नाथ ! नैतन्नयसे न किम् ?
दारुणदुरन्ता पश्य चिन्ता परिपीडयते
संतापितमेनं दीनमलमवसे न किम् ।
मञ्जुनाथ किं वा बहुविकलविलापशतै-
र्मञ्जुना दृगन्तेनानुकम्पामयसे न किम् ?
गिरिवरधारण समस्तसुखकारण हे
दीनदुःखदारण दयालो दयसे न किम् ॥ ७४ ॥

विषयविलासानां लेशेऽपि लालसायुक्तं मम मनः सम्प्रति मीलति खेदान्मुकुलितं भवति, एतत् मनः प्रमोदं किं न नयसे ? संतापितम् एनं दीनं माम् अलं यथा स्यात् तथा किं न अवसे रक्षसि ? बहुविकलताजनितैः

विलापशतैः किं फलम् ? मञ्जुना कृपामधुरेण दृगन्तेन नेत्रकोणेन दयां किं न करोषि ? समस्तसुखानां कारणहेतुभूत ! ॥ ७४ ॥

विषय-विलासोंके लेशमात्रकी भी प्रबल लालसा रखनेवाला यह मेरा मन इस समय उदास हो रहा है। इसको आनन्दित क्यों नहीं करते ? (प्राणिमात्रको अभय और आनन्द देनेवाले आपसे क्या आनन्दका लेशमात्र भी नहीं मिलेगा ?) भयानक और निरन्तर चलनेवाली यह सांसारिक चिन्ता मुझे पीडित कर रही है, इससे संतापित हुए इस दीनकी (अर्थात् मेरी) पूर्णरूपसे क्यों नहीं रक्षा करते ? विकलतापूर्वक अनेक विलाप कहाँतक करूँ ? अपने मनोहर दृष्टिकोणके द्वारा अनुग्रह (दया) क्यों नहीं करते ? गोवर्द्धन-को उठानेवाले, समस्त सुखोंके कारणस्वरूप, दीन-दुखियोंके दुःख दूर करनेवाले हे दयालो ! अब दया क्यों नहीं करते ! ('गिरिवर-धारण' पदसे सूचना की है कि आपने व्रजवासियोंपर आयी हुई प्रलयके समान विपत्ति गिरिराज पर्वत उठाकर दूर कर दी, तब क्या इस दीनपर कृपा नहीं होगी ?) ॥ ७४ ॥

लोकाः कलयन्ति वैरमनिशमहेतु मया
शोकाकुलमेतं मुधा रुजसि दयानिधे !
रोगदिग्धदेहो नाहमाविन्दामि विषयसुखं
मुक्त्वा दुःखगेहोषितं व्रजसि दयानिधे।
पश्यसि न मञ्जुनाथ किं वा मम दीनदशां
मादृशां सुखाशां बत भजसि दयानिधे !
चिन्ताव्याधिवेदनाः समन्ताद् व्यथयन्ति विभो !
किं तावद्दयार्हमिमं त्यजसि दयानिधे ॥ ७५ ॥

लोकाः मया सह अनिशं सर्वदा अहेतु निष्कारणं वैरं कुर्वन्ति। अतएव शोकव्याकुलम् एतम् माम् व्यर्थं रुजसि पीडयसि। रोगैः व्याप्त-शरीरः विषयसुखमपि नाहं प्राप्नोमि। दुःखरूपे गेहे स्थाने उषितं पतितं मां त्यक्त्वा व्रजसि ? दयानिधेस्तव दुःखपतितस्य मम त्यागो नोचित इत्यर्थः।

मादृशाम् (क्विप्) लोकानां सुखविषयामाशां त्वमेव भजसि । मत्सदृश-लोकानां सुखस्याशा त्वदधीनैवेत्याशयः । दयानिधे इत्यनेन दयासागरस्य दयनीयजनपरित्यागो नोचित इति सूच्यते । चिन्ताव्याधिवेदना येन क्रमेण चतुर्थचरणे प्रोक्ता । तेनैव क्रमेण तासां वर्णनमित्यालोचनीयम् । लोकाः वैरं कलयन्तीति प्रथमे चिन्ता । रोगकारणात्सुखं नाप्नोमीति व्याधिः, मम दीनदशां किमिति न पश्यसीत्यादिना वेदना । इति यथासंख्यमपि सूचितम् ॥ ७५ ॥

लोग बिना कारण ही निरन्तर मुझसे वैर रखते हैं, इसीलिये शोकसे व्याकुल इस दीनको आप नाहक क्यों पीडा देते हैं ? मैं विषय-वासनामें लिप्त होकर भी रोगादिके कारण वैषयिक सुखोंका आनन्द भी नहीं उठा पाता । इस तरह दुःखके स्थानमें पड़े हुए मुझको छोड़कर हे दयानिधि ! आप जा रहे हैं ? (रास्ते चलता हुआ पथिक भी किसीको दुखी देखकर उसके उद्धारकी चेष्टा करता है; आप तो 'दयाके सागर' हैं, मुझे दुःखमें पड़ा ही छोड़कर चले जायँगे ?) हे नाथ ! मेरी दीनदशाको क्या आप नहीं देखते ? मुझ-सरीखे लोगोंकी सम्पूर्ण सुखकी आशाएँ आपके ही अधीन हैं । हे प्रभो ! यों चिन्ता, व्याधि और पीड़ा मुझको सब ओरसे घेरे हुए हैं, फिर दयायोग्य इस दीनको आप 'दयासागर' होकर भी कैसे छोड़ते हैं ? ॥ ७५ ॥

---

[२६]

श्रीशिवः

अयि भुवनानां सकलानामभयंकर हे
करुणां कुरुष्व मयि शंकर जगत्पते
नानाविधतापपरितापितं तु दीनतमं
विभवविहीनमिममुद्धर जगत्पते ।

वैभवं ते मञ्जुनाथ वाचामपि दूरेभवं
नश्वरं न याचाम्यविनश्वर जगत्पते
विषमयमेतद्दुरितामयमखिलमेव
शमय शशाङ्कशोभिशेखर जगत्पते ॥ ७६ ॥

सकलानां लोकानाम् अभयं करोति तच्छील ! विभवेन धन-सम्पत्त्यादिना, पुण्यवैभवेन च हीनम्, इमम् माम्। हे मञ्जुनाथ (शिव !) ते वैभवं महिमा वाचामपि दूरेभवम्, वागपि तत्र प्राप्तुं न प्रभवतीत्याशयः। अथवा मञ्जुनाथस्यास्य वाचां दूरगतम्। एष मञ्जुनाथस्ते महिमानं न वक्तुं शक्नोति। अविनश्वर अव्यय शाश्वत अहं भवत्सकाशात् नश्वरं सांसारिकं पुत्रकलत्रादिकं न याचे। किं वाञ्छसि, तदाह 'हे चन्द्रशेखर ! विषवत् अति भयंकरम् एतं दुरितरूपम् विषयेभ्यो जातं कश्मलरूपम् आमयं रोगम् अखिलमेव शमय दूरीकुरु ॥ ७६ ॥

सम्पूर्ण भुवनोंको अभय देनेवाले, जगत्के स्वामी शंकर ! मेरे ऊपर दया करिये। मैं सांसारिक नानाविध संतापोंसे पीड़ित हूँ तथा धन-सम्पत्त्यादि किंवा पुण्य-वैभवसे हीन हूँ। सुतरां सब प्रकारसे दीन हूँ। अतएव हे जगत्स्वामी ! प्राणिमात्रका कल्याण करनेवाले आप मेरा भी उद्धार करें। हे प्रभो ! आपकी महिमा वाणीसे भी नहीं कही जा सकती, उसकी पहुँचसे दूर है, उसकी इयत्ता (परिमाण) करना तो दूर रहा। अथवा मञ्जुनाथकी वाणीसे तो वह दूर है। हे नित्य अविनाशी भगवन् ! मैं आपसे ऐसी वस्तु माँगता हूँ, जो नाशशाली एवं सांसारिक नहीं। वह यही है कि हे चन्द्रशेखर ! विषकी तरह अत्यन्त भयंकर, विषयोंसे पैदा हुए इस पातकरूपी रोगको निःशेषरूपसे शान्त कर दीजिये ॥ ७६ ॥

[२७]

शंकरात्कारुण्यप्रार्थना

केन पथा यामि तद्धि जाने बत नाद्यावधि
हे गिरिजाजाने ! सानुकम्पमुपयाहि माम्

त्वयि दयमाने दीनलोकोऽपि प्रयाति सुख-
मेतावता ज्ञानेनैव हृष्टमवयाहि माम् ।
किं मे निवेदयाम्यवस्थां त्रिपुरान्तक ते
तापयते दुःखं हन्त गुरु परिणाहि माम्
विषयविलासरसरङ्गाकुलं नित्यमेव
दुरितानुषङ्गादयि गङ्गाधर ! पाहि माम् ॥ ७७ ॥

'केन मार्गेण गच्छामि' तद्धि अद्यावधि न जाने । सानुकम्पं सदयम् उपयाहि मम रक्षणार्थमागच्छेत्याशयः । हृष्टं प्रसन्नम् अवयाहि जानीहि । गुरु गभीरम्, परिणाहि विशालं दुःखं मां तापयते पीडयति । परिणाहो विशालता । विषयाणां विलासरसरङ्गैः आकुलं व्यग्रमतिं मां दुरितस्य अनुषङ्गात् पातकसम्बन्धात् पाहि रक्ष ॥ ७७ ॥

मैं इस संसारमें किस रास्ते चलूँ, यह अभीतक मैं नहीं जानता । हे पार्वतीपते ! आप ही दया करके मेरी रक्षाको पधारिये । आपकी दया होनेपर गरीब-से-गरीबको भी सुख मिलता है । इतने मात्र ज्ञानसे मैं प्रसन्न हो रहा हूँ । हे त्रिपुरासुरके नाश करनेवाले ! मैं अपनी हालत क्या निवेदन करूँ, गम्भीर और चारों ओर फैला हुआ यह दुःख मुझको रात-दिन तपा रहा है । तो भी विषयोंके विलास (क्रीडा) रूपी रङ्गमें रँगा, अतएव रात-दिन व्याकुल मुझको हे गङ्गाधर ! इस पापके सम्बन्धसे (पापोंके फंदेसे) बचाइये । ('गङ्गाधर' पदसे सूचना है कि आपके समीप रहनेवाली गङ्गा-के स्पर्शमात्रसे मनुष्यके पातक दूर हो जाते हैं; फिर साक्षात् आपकी ही जब मेरे ऊपर कृपा होगी, तब पातकोंसे मेरी रक्षा क्यों नहीं होगी ?) ॥७७॥

कर्पूरावदाते सर्वसुषमानुयाते यस्य
वपुषि बिभर्ति नागराजिराभरणताम्
तरुणशशाङ्कशोभमाननिटिलस्य यस्य
कण्ठे क्ष्वेडचिह्नं याति मृगमदसमताम् ।

रञ्जने समस्तभुवनानामपि ताण्डवेन
पापपुञ्जभञ्जने जनानामभिनमताम्
जाह्नवीतरङ्गचयसंगतकपर्दधरे
मानसमनङ्गदर्पदमनेऽभिरमताम् ॥ ७८ ॥

सुषमानुयाते सर्वशोभानुगते । निटिलो भालः । क्ष्वेडचिह्नं विषचिह्नम् । ताण्डवेन समस्तभुवनानां रञ्जने प्रीणके । तरङ्गचयेन तरङ्गसमूहेन संगतो मिलितो यः कपर्दः, तद्धारके ॥ ७८ ॥

कर्पूरकी तरह गौर, सम्पूर्ण शोभाओंसे युक्त जिनके शरीरमें सर्पपङ्क्तियोंके गहने हैं, बालचन्द्रमासे सुशोभित ललाटवाले जिनके कण्ठमें विषपानके समयका काला चिह्न कस्तूरीके समान प्रतीत होता है तथा जिनका जटाजूट श्रीगङ्गाकी तरङ्गोंसे सम्पृक्त है—प्रसिद्ध ताण्डवनृत्यके द्वारा समस्त भुवनोंको आनन्द देनेवाले, प्रणाम करते हुए भक्तोंके पापसमूहको हरनेवाले तथा मदनका दाह करनेवाले उन श्रीशंकरमें यह मन सदा रमण करता रहे ॥ ७८ ॥

---

[२८]

सरस्वती

करुणावलोकलेशमञ्जसाधिगम्य जना
मह्यन्ते महीपैः कृतमानना निरन्तरम्
शारदशशाङ्कशोभिसुघटितदेहलता
जडतां निहन्ति यार्थसाधना निरन्तरम् ।
मञ्जुनाथ वीणागुणरणननियुक्तकरा
तिमिरहरा या कमलासना निरन्तरम्
विबुधवतंसपरिशंसितगभीरगुणा
शंसतु शुभानि हंसवाहना निरन्तरम् ॥ ७९ ॥

करुणादृष्टिलवम्, अञ्जसा शीघ्रम् । सुघटिता शोभनाकारा देहलता यस्याः सा । अर्थसाधिका । वीणागुणानां तन्त्रीणां रणने वादने नियुक्तौ करौ यस्याः । शुभानि शंसतु सूचयतु ददातु ॥ ७९ ॥

जिनकी कृपादृष्टिके लेशको भी पाकर राजाओंसे भी सत्कार पाये हुए लोग सम्पूर्ण लोकमें पूजित होते हैं, शरत्कालके चन्द्रमाके समान सुन्दर सुडौल शरीरवाली जो सेवकोंकी जडता (अज्ञान) को दूर करती हैं और सम्पूर्ण मनोरथ निरन्तर पूर्ण करती हैं, जिनके हाथ वीणाके बजानेमें लगे हैं, (अज्ञानके) अन्धकारको दूर करनेवाली जो कमलके आसनपर बैठी हैं तथा जिनके गम्भीर गुण श्रेष्ठ मुनि तथा विद्वानोंके द्वारा गाये गये हैं, ऐसी वे हंसवाहना सरस्वती देवी हमारा निरन्तर मङ्गल करती रहें ॥७९॥

[२९]

चरणम्

यस्य हि रजोऽधिभालमालिम्पन्ति देवा अपि
के वा वयमस्य महिमानं श्लाघितास्महे
यस्य स्मृतिमात्रतोऽवबुद्धभूरिभावा वयं
कविताकलायां न हि जातुचिदुदास्महे ।
मञ्जुनाथ कुण्डलिकलितमञ्जुमञ्जीरक-
मेतत्सूक्तिसंजीवकमाराधयितास्महे
इन्दीवरशोभाभरहरणमुदूढभूरि-
करुणमुदारं चारुचरणमुपास्महे ॥ ८० ॥

यस्य चरणस्य रजः धूलिम् । अधिभालं भाले ललाटे । अस्य चरणस्य माहात्म्यं वयं के श्लाघितास्महे, किं प्रशंसिष्याम इत्यर्थः । अवबुद्धभूरिभावाः जागृतनवनवभावाः । कवित्वशिल्पे कदाचिदपि न उदास्महे, न उदासीना भवामः । कुण्डलिभिः कलिता मञ्जवः मनोहराः मञ्जीराः नूपुराः यस्मिन् । सूक्तीनां संजीवकम् जीवनदायकम् । उदूढाधारि भूरिकरुणा येन तत् । उदारं वरदाने वदान्यम्, दानशीलं चरणम् ॥ ८० ॥

जिसके तलवेमें लगी हुई धूलिको देवता भी अपने ललाटपर लगाते हैं, उन भगवान् शिवके चरणकी महिमा भला, हम क्या कहेंगे । जिसके ध्यानमात्रसे हमारे हृदयमें कवितानुकूल नये-नये भाव जाग्रत् होते हैं, जिससे हम कविताकलामें कभी मन्द नहीं रहते, भुजङ्ग-भूषणोंसे भूषित, सूक्तियोंके लिये संजीवनरूप उस चरणकी हम पूजा करेंगे और नील-कमलकी शोभाको हरनेवाले करुणाशाली उसी उदार चरणका हम आश्रय लेते हैं ॥ ८० ॥

---

[३०]

* आम्बेरे विराजमाना शिलामयी *

अम्बरधराधिपतिपूज्यपादपङ्केरुहा
तुङ्गे शैलशृङ्गे स्थिता राजहर्म्यधामिनी
चिबुकनिषण्णहारिहीरकविमण्डिता या
भूषणैर्विभाति मेघगेव दिव्यदामिनी ।
मञ्जुनाथ मानमहीपालमनोवाञ्छितदा
चेतसि चकास्ति भावुकानां भवभामिनी
नूनं नरदेवीयति यस्याः पदसेवी पुमान्
सेयं शिलादेवी भातु मे वीक्षणगामिनी ॥ ८१ ॥

अम्बरधराधिपतिः आम्बेरमहाराजः । राजहर्म्याणि धाम यस्याः सा तथा च आम्बेरराजहर्म्यमालायाः प्रमुखभागे स्थितेति सूच्यते । चिबुके निषण्णो यो मनोहारी हीरकः तेन विभूषिता । मेघगेव दिव्य०—श्याम-शिलामय्या यस्याः शरीरे स्वर्णहीरकादिभूषणानि दामिनी (विद्युत्) इव विराजन्ते इति भावः । मानमहीपाल०—वर्तमानमहाराजस्य मनोरथ-पूरिका, तथा इतिहासप्रसिद्धस्य प्राक्तनमानसिंहमहाराजस्य वरदा तत् प्रतिष्ठापिता च सेयमिति सूच्यते । यस्याः पदसेवी पुरुषः नरदेवीयति नरदेवं राजानमिव आत्मानमाचरति, धराधीशायते इत्याशयः ॥ ८१ ॥

आम्बेरनरपालोंकी आराधनीया जो (देवी) ऊँचे पर्वतशिखरपर राजमहलमें विराजती हैं, ठोढ़ीपर चमचमाते दिव्य हीरेसे विभूषित जो भूषणोंकी चमकसे श्याम मेघमें स्थित बिजलीकी तरह शोभित होती हैं, मानमहीपतिकी मनोवाञ्छाओंको पूर्ण करनेवाली जो भावुक भक्तोंके हृदयमें विहार करती हैं तथा जिनकी चरणसेवासे मनुष्य राजा बन जाता है, वे श्री'शिलादेवी' हमारे दर्शनपथमें आयें ॥ ८१ ॥

[३१]

अन्तसमये भगवतः प्रार्थना

लीना देहशक्तिरपि हीना सुखवासना मे
तनुरनधीना नाथ ! कियदिव नीयताम्
चक्षुषोरुपैति घनतिमिरमिवाद्य नाथ
श्रवसोरपैति शक्तिरलमवधीयताम् ।
मञ्जुना त्वदङ्घ्रिकअलम्बनेन मञ्जुनाथ
धृतिरुपयाति हृदि करुणा विधीयताम्
एतस्मिन्नमन्दपुण्यसमयेऽरविन्द-
समलोचन ! मुकुन्द ! नेत्रगोचर उदीयताम् ॥ ८२ ॥

अस्मिन् समये देहशक्तिः लीना नष्टा । मम सुखवाञ्छापि हीना नष्टा । सुखेष्वपि मे मनो न गच्छति । सम्प्रति एषा तनुः शरीरम् अनधीना, मम वशे नास्ति । यथाहं वाञ्छामि तथा ममाङ्गानि कार्यं न कुर्वन्तीति भावः । अतएव एषा तनुः कियत्पर्यन्तं नीयताम्, बलाद् आकृष्यताम् तदेवाह—चक्षुषोः नेत्रयोर्मध्ये घनं तिमिरमिव अन्धकारः उपैति । श्रवसोः कर्णयोः शक्तिः अपैति गच्छति । अलं यथा स्यात्तथा अवधीयताम् । इदानीं मम गमने विलम्बो नास्ति । अतएव सावधानं स्थीयतामित्याशयः । हे मञ्जुनाथ ! मञ्जुना सर्वापेक्षया उत्कृष्टेन त्वच्चरणारविन्दाश्रयणेन हृदि धृतिः धैर्यम् उपयाति । सुखादीनां वाञ्छा गता । शरीरशक्तिरपि क्रमशः

मां त्यजति । इदानीं केवलं त्वच्चरणध्यानेनैव शान्तिर्भवति अतएव करुणा क्रियताम् । का सा दया ? तदाह—हे अरविन्दसमलोचन ! मुकुन्द ! एतस्मिन् अमन्दे पुण्यसमये मम नेत्रयोः समक्षे उदीयताम् आगम्यताम् ।'त्वया आगम्यताम्' इत्यनेन अहं तु उत्क्रमणसमयनिकटत्वात् लुप्तदृष्टिर्न सम्यक् द्रष्टुं शक्नोमि । अतएव श्रीमतैव यथाहं पश्यामि तथा मद्दृशोर्गोचरे आगम्यताम् इति आत्मव्यापारं त्यक्त्वा भगवदालम्बनमात्रमभिव्यज्यते । पुण्यसमयोऽप्यस्मादधिकः कीदृशो भविष्यति, यन्मम आत्मनः उत्क्रमणं भवति अहं च त्वां दिदृक्षुः सम्बन्धिभिर्भूमौ अवतारितः, निःस्पन्दं पतितोऽस्मि । अतएव केवलं त्वद्दर्शनमात्रेणैव ममोद्धारः । एवंविधादनुग्रहसमयादन्यः पुण्यसमयः को भवेत् ? 'कमललोचन' इत्युक्त्वा 'मम दृष्टिस्तु लुप्ता, किंतु आयतलोचनस्त्वं तु मामवश्यं द्रक्ष्यसीति' भावो ध्वन्यते ॥ ८२ ॥

हे प्रभो ! इस समय मेरे देहकी शक्ति नष्ट हो चुकी है। सुखकी इच्छा भी, जो अबतक प्रबल रहती थी, कम हो चली—किसी भी सुखके भोगमें मेरा मन ही नहीं चलता। यह शरीर मेरे अधीन नहीं रहा—मैं जिस अङ्गसे जो काम लेना चाहता हूँ, वह कार्य वे अङ्ग नहीं करते। अतएव इस शरीरको कहाँतक घसीटूँ ? देखिये—मेरे नेत्रोंमें घोर अन्धकार-सा छा रहा है। कानोंसे सुननेकी शक्ति भी जवाब दे गयी है। इसलिये इस समय बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। हे नाथ ! इस समय सबको आश्रय देनेके कारण सबसे उत्कृष्ट आपके चरणारविन्दका ध्यान (अवलम्बन) करनेसे ही हृदयमें धैर्य होता है । सुख आदिकी इच्छा जाती रही। शरीरकी शक्तिने भी जवाब दे दिया। अब आपके चरण-चिन्तनसे ही न जानें क्यों शान्ति मिलती है । इसलिये एक दया कीजिये कि इस महान् पुण्यकालमें हे कमलदललोचन श्यामसुन्दर ! मेरे नेत्रोंके अत्यन्त समीप पधार आइये। 'आप पधारिये !' कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरे उत्क्रमण-समयके अतिनिकट होनेके कारण मैं तो अच्छी तरह देख नहीं सकता। अब तो आपको ही यह कृपा करनी पड़ेगी कि जिस तरह मैं आपका दर्शन कर सकूँ, वैसे मेरे नेत्रों-

के समीप पधार आयें। भला, इससे अधिक पुण्यकाल क्या होगा कि इस समय मेरा यह जीवात्मा देहबन्धनको छोड़ रहा है। मुझको मेरे सम्बन्धियोंने अब गङ्गाजलसे धोयी हुई जमीनपर उतार लिया है और मैं निश्चल पड़ा हूँ। केवल आपके दर्शनकी उत्कण्ठा लगी हुई है। बस, केवल आपके दर्शनमात्रसे मेरा बेड़ा पार हो जायगा। ('कमललोचन' इस विशेषणसे ध्वनि है कि मेरी दृष्टि तो इस समय लुप्त है, किंतु आपके तो कमलोंके समान विशाल लोचन हैं। आपको तो यह दीन अवश्य दिख रहा है) ॥ ८२ ॥

[३२]

* शान्तरसः *

भूमिः स्वस्तरोऽस्ति महदम्बरं वितानमिद-
मेता मदयन्ति दिशा नन्दितनिशाकराः
पर इव कोऽपि न प्रतीयतेऽद्य पर्यन्तेऽपि
दृश्यन्ते प्रमोदकराः सकलचराचराः।
मञ्जुनाथ चित्तमपि प्रीयते प्रसादोदया-
दन्तः प्रवहन्ति पुनरात्मरसनिर्झराः
निर्भरप्रमोदानात्मजन्याननुशीलयतो
ध्यानधियानन्या यान्तु धन्या मम वासराः ॥ ८३ ॥

स्वस्तरः आस्तरणम्। इदम् अम्बरम् आकाशम् महद् वितानम् चँदोवेति भाषायां प्रसिद्धम्। नन्दितः पूर्ण इति यावत् निशाकरः चन्द्रो यासु ताः। सूर्यस्याप्युपलक्षणमेतत्। एताः दिशः। 'दिशाः' अत्र भागुरेराप्। मदयन्ति हर्षयन्ति। कोऽपि जनः पर इव न प्रतीयते। सर्वेष्वात्मबुद्धिर्जातेत्याशयः। प्रसादस्य नैर्मल्यस्य, आत्मगतायाः प्रसन्नतायाः वा उदयात् चित्तं प्रसन्नं भवति। अन्तः हृदये आत्मनो रसस्य आनन्दस्य निर्झराः प्रवहन्ति। अतएव आत्मजन्यान् आत्मनि उद्भूतान् निर्भरप्रमोदान् अनिर्वचनीयानन्दान् अनुशीलयतः अनुभवतः मम। ध्यान-

धिया अनन्याः विचारे कृते नास्ति कोऽप्यन्यो येषु तादृशाः । परमार्थविचारेण द्वैतबुद्धिर्यत्र तिरोधीयते तादृशाः । अतएव धन्याः अभिनन्द्न याः मम दिवसाः गच्छन्तु । पूर्णचन्द्रप्रकाशे प्राकृतिकदृश्यावलोकनेन आत्मानन्दमग्नस्य योगिनः कस्यचिदुक्तिः ॥ ८३ ॥

नीचे यह भूमि ही लंबी-चौड़ी बिछायत (बिछावन, फर्श) है, ऊपर यह अनन्त आकाश महान् चँदोवा है । सूर्य-चन्द्रमा आदि जिनमें चमक रहे हैं, ऐसी ये दिशाएँ हृदयमें आनन्द पैदा करती हैं । आस-पास देखता हूँ तो कोई भी पराया (दूसरा) नहीं दिखायी देता । सम्पूर्ण चर (चेतन) और अचर (जड) जीव हृदयमें प्रमोद ही पैदा करते हैं । स्वच्छता और प्रसन्नताके उदय होनेसे यह हृदय अपने-आप प्रसन्न हो रहा है । अन्तःकरणमें आत्मानन्द-रसके निर्झर (झरने) बह रहे हैं । इस तरह आत्मासे पैदा हुए पूर्ण आनन्दोंका अनुभव करते हुए मेरे ये धन्य दिवस यों ही बीतते रहें, जिनमें ध्यान देनेसे कोई अन्य—दूसरा दिखायी ही नहीं देता, सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा—अभेद (अद्वैत) दिखायी देता है । ('धन्य' कहनेका तात्पर्य है कि जिस समय यह अद्वैतभावना और आत्माका वास्तव स्वरूप (आनन्द) प्रकट हो जाय, वही समय सम्पूर्ण जीवनमें अभिनन्दनीय है । आत्माका स्वरूप सत्-चित्-आनन्द (सत्ता, ज्ञान और आनन्द) माना गया है । उसमें चरम भूमिकाका आनन्द जिस समय जग आये, उससे अधिक चाहने और अभिनन्दनके योग्य और दूसरा समय भला, कौन-सा होगा) ॥ ८३ ॥

[३२]

कालस्य कुटिलता

पारमुपनीता पूर्वपद्धतिः प्रवीणैरद्य
चलिता चतुर्दिङ् नवशैली निरुपेहितम्
आडम्बरमात्रं वंशमर्यादामवैति जनो
वादायैव सम्प्रदायवृत्तमधुनेरितम् ।

मञ्जुनाथ मीलति मनस्वी निजमानसेऽद्य
कस्मै कथयेत निजवृत्तमिदमेधितम्
खेलत्खलजाले बत वर्तमानकाले कलौ
भद्रजनभाले भूतभर्तः! किमालेखितम्? ॥ ८४ ॥

चतुरैरपि नवैः पूर्वरीतिः पारं नीता, दूरीकृतेत्यर्थः। समन्ताद् नवीना परिपाटी निरुपाधि निर्निरोधं प्रचलिता। ईरितं कथितं वैष्णवशैवादिसम्प्रदायानां वृत्तं विवादायैव। मानी जनः निजमनस्येव मीलति विषादं गच्छति। एधितं वृद्धिं गतं दीर्घमिति यावत् निजं वृत्तान्तं कस्मै कथयेत? कः प्रतीकारं कुर्यात्? खेलन्तः प्रमोदमानाः खलसमूहा यत्र तस्मिन्। भद्रलोकानां ललाटे वेधसो हस्तेन किमिदं लेखितम्? भवान् हि भूतानां प्राणिनां भर्ता, अतएव प्रार्थ्यते ॥ ८४ ॥

ऊँचे वंशमें उत्पन्न अच्छे-अच्छे लोगोंने भी आज अपनी पहली रीति (चाल) छोड़ दी। चारों ओर बेरोक-टोक नयी रीति (रहन-सहन) चल पड़ी। आज लोग वंशकी मर्यादा (रीति-मरजाद) को केवल ढोंग समझते हैं। वैष्णव आदि सम्प्रदायोंकी बातें विवादके लिये हो गयीं, अर्थात् इस विषयके चलते ही लोग आपसमें झगड़ने लगते हैं। अपनी मर्यादाको रखनेवाले उन्नत मनके लोग अपने मनमें ही घुट रहे हैं—इतनी परिस्थितिको पहुँची हुई अपनी रामकथाको किससे कहें (और कौन इसपर ध्यान देकर इसका प्रतीकार करे)? हे प्राणिमात्रके स्वामी! जिसमें ओछे लोग आनन्दसे क्रीड़ा कर रहे हैं, ऐसे इस कलियुगके वर्तमानकालमें इन भद्रपुरुषोंके भालमें (विधाताके द्वारा) यह क्या लिखवा दिया? ॥ ८४ ॥

धार्मिका म्रियन्ते बत वैदिका विलीयन्तेऽथ
क्रन्दन्ते कुलीनाः क्वचित्कोणे कृतवेपितम्
दातारो दरिद्रा दुःखदग्धा दयावन्तो जना
वेपन्ते विनीता बुधा बध्यन्ते सहेलितम्।

साधवः सदुःखाः पुण्यवन्तो दम्भवन्तोऽभवन्
मञ्जुनाथ मार्मिकाः प्रयान्ति परिदेवितम्
खेलत्खलजाले बत वर्तमानकाले कलौ
भद्रजनभाले भूतभर्तः किमालेखितम् ? ॥ ८५ ॥

ध्रियन्ते निगृह्यन्ते । विलीयन्ते न्यूना भवन्ति । कस्मिन्नपि कोणे कृतकम्पं यथा स्यात्तथा कुलीनाः क्रन्दन्ति । सहेलितं सतिरस्कारम्, बध्यन्ते बद्धाः क्रियन्ते पुण्यं कुर्वन्तो जनाः दाम्भिकाः परिगण्यन्ते । मार्मिकाः मर्मवेदिनः तत्त्वपरीक्षकाः परिदेवनं प्रयान्ति, विलपन्तीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

प्राचीन धर्म-मर्यादासे चलनेवाले लोग पकड़े जाते हैं । वेदमार्गको माननेवाले वैदिक लोग धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं । कुलीन लोग किसी कोनेमें (कुटिल कुतर्कोंसे) काँपते हुए क्रन्दन (विलाप) कर रहे हैं । जिनमें दान-शक्ति है, वे दरिद्र हो गये, दयाशील (वर्तमान परिस्थितिको देख-देखकर) दुःखसे दग्ध हुए जाते हैं । गुण रहनेपर भी विनय (नम्रता) का बर्ताव करनेवालोंपर आफतें आती हैं, जिससे वे काँप रहे हैं । वास्तविक बुद्धिशाली (पण्डित) तिरस्कारके साथ बाँधे जाते हैं—उनपर कई तरहकी रोक-टोक, प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं । साधु-लोग दुखी हैं । सुकृत (पुण्य) करनेवाले ढोंगी समझे जाते हैं । मार्मिक विचार करनेवालोंको विलाप करना पड़ रहा है (उन्हें कोई नहीं पूछता) ॥ ८६ ॥

भूरिधनराशिं बिना विद्या दुर्लभैवाधुना
तत्रापि च विज्ञानं विनाद्य कियच्छिक्षितम् ?
लब्धभूरिविद्योऽपि च विन्दते न सद्यो धनं
यस्माद् धनवद्भिर्लोभवर्त्म समावेष्टितम् ।
एवं भूरिचिन्ताभिर्व्यतीतपुरुषायुषस्य
नूनमस्य भाग्ये सुखं कियदवरेखितम् ?
खेलत्खलजाले बत वर्तमानकाले कलौ
भद्रजनभाले भूतभर्तः ! किमालेखितम् ? ॥ ८६ ॥

वैदेशिकभाषाबहुला वर्तमानकालिकी विद्या बहुतरद्रव्यव्ययं विना दुर्लभैव। शिक्षायामपि विज्ञानं ('साइन्स') विना अद्य शिक्षा कियती ? न किमपीत्यर्थः। 'साइन्स'-पठनमेव सम्प्रति उत्तमशिक्षा। साइन्सादि-विद्यासमुपार्जनेऽपि शिक्षितः स्वल्पकाले एव धनं न विन्दति प्राप्नोति। यस्माद् ये हि धनवन्तः तैर्लाभस्य मार्ग आक्रान्तः। वैदेशिका अन्ये च ये प्रचुरधनस्वामिनः, तैर्व्यापारादीनां द्वाराणि रुद्धानि। तेषां प्रति स्पर्द्धायां द्रव्यार्जनस्य मार्गे व्यापारादौ सफलता सुतरां कठिनेत्याशयः। पूर्वं शिक्षणचिन्ता, तदनन्तरं परीक्षोत्तरणचिन्ता, तदनन्तरं द्रव्यार्जन-चिन्ता, एवमादिभिर्भूरिचिन्ताभिर्व्यतिगमितसमग्रायुषः अस्य (जनस्य) भाग्ये सुखं कियद् अवरेखितम् रेखाद्वारा अङ्कितम् ? न किंचिदपीत्यर्थः॥

आज दिन बहुत-सा धन खर्च किये बिना अंग्रेजी आदि वैदेशिक भाषाओंसे मिली विद्या ही प्रथम दुर्लभ है। (इतना जो धन खर्च कर सके, वही विद्या पढ़ सकता है।) फिर आज दिन विज्ञान (साइन्स) यदि नहीं सीखा तो शिक्षा ही कितनी ? फिर इस कठिनतासे बहुत विद्या भी प्राप्त हो गयी, तो भी शिक्षितको धन मिलना सहज नहीं; क्योंकि धन-प्राप्ति-के मार्ग (व्यापार, शिल्पके कारखाने आदि) धनवानों (पूँजीपतियों) ने रोक रखे हैं, उनके कम्पिटीशन (मुकाबले) में व्यापारादिके द्वारा द्रव्योपार्जन क्या सहज है ? यों शिक्षाकी चिन्ता, फिर परीक्षाओंमें सफल होनेकी चिन्ता, फिर व्यापारादिके द्वारा धनप्राप्तिकी चिन्ता—यों अनन्त चिन्ताओंसे जिसकी सम्पूर्ण आयु ही बीत जाती है, ऐसे इस भारतीय पुरुषके भाग्यमें सुख कितना-सा लिखा गया है॥ ८६॥

[३४]

शिक्षापरिपाटी

बाल्यादेव भूरि-भूरि पुस्तकानि घोषन्तोऽपि
शिक्षायां न संतोषं सृजन्ति जना मीयताम्
पूर्वजपरिचयाय पाठ्यमितिहासाद्यपि
देशभाषां त्यक्त्वा हूणभाषया ह्यधीयताम्।

सर्वमेतत् सोढ्वापि च भ्रम्यतां बुभुक्षावशा-
च्छिक्षाफलमाध्यात्मिकशान्तिः क्वोपनीयताम् ?
मन्दतममाटीकितविद्यावृक्षवाटीसुखा
वर्तमानशिक्षापरिपाटीयं निपीयताम् ॥ ८७ ॥

शिक्षाविषये संतोषं न सृजन्ति नाधिगच्छन्ति, मीयताम् अनुमीयतामित्यर्थः । पूर्वजानां परिचयाय पठनीयम् इतिहास-भूगोलाद्यपि । हूणभाषा अंग्रेजी-भाषा । एतं शिक्षापरिश्रमं सहित्वापि वेतनकार्यस्यालाभे बुभुक्षापरवशैर्भ्रम्यताम् । ततश्च शिक्षायाः फलं या आध्यात्मिकी शान्तिः सा क्व प्राप्यताम् ? शिक्षाप्राप्तावपि शिक्षायाः फलभूता आत्मनः शान्तिस्तु न प्राप्तेत्याशयः । अतिमन्दम् (अतिन्यूनं यथा स्यात्तथा) आटीकितं प्राप्तं विद्यारूपायाः वृक्षवाट्याः (उपवनस्य) सुखं यया । निपीयतां परिशील्यताम् ॥ ८७ ॥

बाल्यावस्थासे ही (प्रारम्भिक श्रेणियोंसे आरम्भ करके) ढेर-की-ढेर पुस्तकोंको घोखते (रटते) हुए भी छात्रगण शिक्षाके विषयमें संतोष नहीं पाते, यह आप अनुमान कर सकते हैं । पूर्वज पुरुषोंके परिचयके लिये (अर्थात् अपने पुरखोंके उत्तम मार्गका आदर्श ग्रहण करनेके लिये) पढ़ने योग्य इतिहास-भूगोल आदि विषय भी अपनी देशभाषाको छोड़कर अंग्रेजी आदि वैदेशिक भाषाओंमें अबतक पढ़े जाते रहे हैं (यद्यपि देश स्वतन्त्र हो जानेके बाद स्थिति कुछ बदली है) । यह सब शिक्षाका कठिन परिश्रम सहकर भी, जबतक नौकरी न मिले, तबतक भूखे पेट नौकरीकी तलाशमें घूमते रहिये । (यह वैदेशिक प्रणालीकी शिक्षा कार्यालयोंमें क्लर्कोंके पर्याप्त ही बनायी गयी है ।) अतएव शिक्षाका सच्चा फल जो आत्माका शान्ति-लाभ है, वह कहाँ मिलेगा । इसलिये जिसमें विद्यारूपी वृक्षवाटिकाका अत्यन्त न्यून सुख मिलता है, ऐसी इस नवीन शिक्षापरिपाटीका परिशीलन करिये ॥ ८७ ॥



[३५]

वर्तमाना स्त्रीशिक्षा

अन्यदीयदेशनारीशिक्षामनुकृत्य निज-
नारीभ्योऽपि दापयन्ति वैदेशिकशिक्षितम्
शिक्षिताश्च पारितपरीक्षिताश्च नार्य इमाः
सोल्लुण्ठं त्यजन्ति गृहकार्यमसमीक्षितम्।
पूर्वं किल पारतन्त्र्यमासीत् स्वस्य देश एव
साम्प्रतं स्वगेहेऽपि च पारतन्त्र्यमीक्षितम्
नूतनयुगेऽस्मिन् नवशिक्षितनराणामद्य
नारीशिक्षणेऽपि ननु नूतनत्वमीक्षितम् ॥ ८८ ॥

इंगलैंडाद्यन्यदेशस्य नारीशिक्षाया अनुकरणेन निजनारीभ्योऽपि आङ्ग्लभाषामयीं वैदेशिकीं शिक्षां दापयन्ति। पारितं समापितम् उत्तीर्णम् परीक्षितं परीक्षा याभिः परीक्षोत्तीर्णाः ता इमाः नार्यः, सावहेलनम् असमीक्षितम् पूर्वापरम् अविचार्यैव गृहकार्यं त्यजन्ति। एवं स्थितौ पूर्वं स्वदेशे एव अस्माकं परतन्त्रता आसीत्। साम्प्रतं स्वगृहेऽपि परतन्त्रता ईक्षिता वाञ्छिता। स्त्रीभिः स्वगृहकार्ये त्यक्ते वयं कर्मकराणां भृत्यानां वशगा भविष्याम इति भोजनाच्छादनविषयेऽपि स्पष्टं परतन्त्रता भवेदित्याशयः ॥ ८८ ॥

इँगलैंड आदि अन्य देशोंकी स्त्रीशिक्षाका अनुकरण करके हमारे देशवासी अपनी स्त्रियोंको भी आज वैदेशिक शिक्षा दिला रहे हैं और वे स्त्रियाँ भी शिक्षित और परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रोफेसरी, हाकिमी आदिके आगे इस घरके काम-काजको तिरस्कारके साथ छोड़ देती हैं, किंतु इसका परिणाम नहीं विचारतीं। यों पहले हमको परतन्त्रता मिली थी अपने देशमें ही, किंतु अब हम अपने घरमें भी परतन्त्रताका वातावरण सृजन कर रहे हैं। (घरकी स्त्रियोंके गृहकार्य छोड़ देनेपर हम नौकर-चाकरोंके वशीभूत हो जायँगे और इस प्रकार भोजनाच्छादनमें भी हम परमुखापेक्षी

बन जायँगे; इससे अधिक परतन्त्रता क्या होगी ?) इस नूतनयुगमें नवीन शिक्षित महोदयोंकी नारी-शिक्षामें भी निश्चित रूपसे यह नूतनता देखी जाती है। (युग नवीन, शिक्षित महोदय भी नवशिक्षित; फिर नारी-शिक्षामें भी नूतनता भला, क्यों नहीं आनी चाहिये) ॥ ८८ ॥

वेत्रदण्डमादायाद्य वाकीलत्वमेति वधू
राजकर्मचारितां च सेयमाप्यतेतमाम्
सुन्दरीसमाजेनाद्य स्वीयदलं संगृह्याथ
राजगृहद्वारे बलात् स्वत्वमीप्स्यतेतमाम्।
मञ्जुनाथ साम्प्रतं तु सैनिकत्वमाप्य सैव
शस्त्रास्त्रैः सुसज्जा समरार्थं नह्यतेतमाम्
या वै गृहलक्ष्मीः पुरा मामण्डीति गेहमिदं
साम्प्रतं तु सैव रणचण्डी चित्र्यतेतमाम् ॥ ८९ ॥

वाकीलतासूचकं वेत्रदण्डं हस्ते आदाय वधूः नारी वाकीलत्वं प्राप्नोति । ('अदालत' प्रभृतिशासनविभागे) सेयं नारी राजकर्मचारितां प्राप्यते (णिजन्तात्कर्मणि) । स्वीयं दलं संगृह्य संघटितं कृत्वा पुरुषवर्गसमानं स्वस्य स्वत्वम् अधिकारः याच्यते । युद्धार्थं नह्यतेतमाम् अतिशयेन बद्धपरिकरा भवतीत्यर्थः । पुरा पूर्वम् गृहं मामण्डीति अतिशयेन मण्डयति स्म सैव अस्माभिः रणचण्डीरूपे चित्रिता क्रियते । मामण्डीति 'मडि' धातोः णिज्विकल्पे यङ्लुगन्तस्य रूपम् । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति पुरायोगे लट् ॥ ८९ ॥

हाथमें बेंत लेकर आज नारी वकील बनती है। नारीको शिक्षित बनाकर अदालत आदि (कार्यालयों) में हम उसको राजकर्मचारी सजाते हैं। सुन्दरी-समाज आज अपने दलका संगठन करके राज-दरबारसे बलपूर्वक अपना स्वत्व, अपना अधिकार चाहता है। अब वही नारी सैनिक-शिक्षा प्राप्त करके, शस्त्र और अस्त्रोंसे सुसज्जित होकर सम्मुख युद्धके लिये कमर बाँधती है। जो गृहलक्ष्मी पहले इस घरको सब प्रकारसे मण्डित (शोभा-

सम्पन्न, श्रीसम्पन्न) बनाती थी, आज वही हमलोगोंके द्वारा 'रणचण्डी'के रूपमें चित्रित की जा रही है। (कोई बात नहीं, लक्ष्मी और चण्डी सनातन-धर्मियोंके यहाँ समानरूपसे आदरणीय तो हैं ही) ॥ ८९ ॥

षट्पदी (छप्पय)

पत्नी प्रियतममाप्य वन्दनं वचसा कुरुते।
पतिसुहृत्सु संयत्सु करोन्मर्द्दनमातनुते ॥
पतिर्व्यलीके कृते क्षमाशब्दं बत वहति।
पतिवस्तुनि दत्ते च धन्यवादानियमर्हति ॥
अर्द्धाङ्गिनीति गौरवपदं प्राणसमेति च सम्पदम्।
युक्त्यापहृत्य ददते नराः कृत्रिमोपचारापदम् ॥ ९० ॥

पत्नी प्रियतमं आसम्मुखे आप्य वचनेन 'गुडमोर्निङ्ग, नमस्ते' इत्यादिना वन्दनं करोति। पत्युः सुहृत्सु सम्मिलत्सु तैः सह करमर्द्दनम् ('शेक-हैण्ड') आतनोति करोति। किंचिद् अप्रिये कृते सति पतिः 'क्षमस्व' इति क्षमाशब्दम् उच्चारयति। इयं पत्नी भूमौ पतिते पतिवस्तुनि उत्थाप्य समर्पिते सति धन्यवादान् (थैंक्स्) अर्हति। प्रियतमस्य पत्नी 'अर्द्धाङ्गिनी' इति गौरवस्य पदम्, प्राणैः समा दयिता इति वाञ्छनीयां सम्पत्तिम् युक्त्या चातुर्येण अपहृत्य पुरुषाः स्त्रीभ्यः कृत्रिमोपचार (बाह्यशिष्टाचार) रूपाम् आपत्तिं ददते समर्पयन्ति। सम्पत्तिम् अपहृत्य आपत्ति-प्रदानेऽपि स्त्रीणां प्रसन्नता पुरुषाणां युक्तिकौशलमेवेत्यर्थः ॥ परिवृत्तिः ॥९०॥

पत्नी अपने प्रियतमको सम्मुख पाकर वचनसे 'गुडमौर्निङ्ग, नमस्ते' इत्यादि रूपमें नमस्कार करती है। पतिके मित्रोंके मिलनेपर उनसे 'कर-मर्द्दन' (शेकहैंड) करती है। पतिसे थोड़ी भी गलती होनेपर उसको 'क्षमा' माँगनी पड़ती है तथा जमीनपर पड़ी वस्तु आदिको उठाकर पतिको देनेपर उसको 'थैंक्स' (धन्यवाद) मिलते हैं। 'अर्धाङ्गिनी' यह बड़े गौरवका पद तथा 'प्राणसमा' (प्राणोंके समान)—इस अपूर्व सम्पत्तिको युक्तिसे छीनकर, कृत्रिम (ऊपरका शिष्टाचार, 'तकल्लुफ') रूपी आपत्ति-

को पुरुष दे रहे हैं, यह इनका चातुर्य है। सम्पत्ति छीनकर उसके स्थानमें आपत्ति देकर राजी कर देना क्या कम चातुर्य है ? ॥ ९० ॥

[३६]

श्रीमहालक्ष्मीः

यस्याः करुणालवेन जगति जघन्यो जनो
लोके धन्यधन्यो भाति परितः परीक्ष्यताम्
किं बहुना दैत्यदलनाय देवनायकोऽपि
यत्कृपां प्रतीच्छतीति कोऽपि कृती वीक्षताम् ।
सर्वविधसौख्यसर्वसम्पत्समवापनाय
सपदि समीपगता दीपाली प्रतीक्ष्यताम्
क्लेशनिकुरम्बादिह सम्बाधेत किं वा भयं
लक्ष्मीर्जगदम्बा कृपालम्बात्क्षणमीक्षताम् ॥

करुणालवेन दयालेशेन । जघन्यो नीचः, धन्यधन्यः श्रेष्ठादपि श्रेष्ठतरः। प्रतीच्छति प्रतीक्षते इति प्रत्येकः कृती शिक्षितः देववृत्तान्तेषु पश्यतु । समवापनाय प्राप्तये । क्लेशनिकुरम्बात् नानाविधदुःखसमूहात् किं भयं कीदृशं भयं बाधां कुर्यात् ? श्रीलक्ष्मीः कृपालम्बाद् दीनेषु कृपाम् अङ्गीकृत्य क्षणकालार्थं वीक्षताम् । लक्ष्म्याः कृपादृष्टौ जातायां क्लेशसमूहात् किंचिदपि भयं न भवतीत्यर्थः ॥

महालक्ष्मीकी कृपाके लेशसे नीच मनुष्य भी जगत्में श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ हो जाता है। इसकी इस लोकमें चारों ओर परीक्षा कर लीजिये। अधिक क्या, देवताओंके स्वामी भी दैत्योंके नाशके लिये उन्हींकी कृपाकी प्रतीक्षा किया करते हैं, यह प्रत्येक शिक्षित पुरुष देख सकता है। सब तरहके सुख और सब तरहकी सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये समीपमें आनेवाली दीपमालिकाकी प्रतीक्षा कीजिये (जो महालक्ष्मीका महान् उत्सव-दिवस है)। नाना प्रकारके दुःखोंसे भय क्या बाधा दे सकता है, यदि जगदम्बा लक्ष्मी एक क्षणभर भी कृपापूर्वक हमें निहार लें ॥

दो०—सदा संनिधिं विदधती भूरि भारतं पातु।
महितमहालक्ष्मीर्मुदं सुखसम्पदं ददातु॥

सर्वदा सामीप्यं दधती, सर्वदैव समीपे निवसन्तीत्यर्थः। महिता सवः पूजिता॥

सदा समीपमें निवास करती हुई श्रीमहालक्ष्मी इस भारतकी रक्षा करें और सर्वदा आनन्द तथा सुखसम्पत्ति प्रदान करें॥

[३७]

सवैयास्तबकः

ललितं ललनासु निभालयत-
स्त्वरितं हि शिरः पलितं पुरु मे
न दधामि पदे तव हृत् प्रमदेन
तदेतदहो दुरितं गुरु मे।
करुणं तव वीक्ष्य तु देव मनाक्
समुदेति हि धैर्यमुरस्युरु मे
मुनिमानसमोदविवर्द्धन हे
मुरमर्दन मोहमपाकुरु मे॥ १॥

स्त्रीषु ललितं विलासविशेषम् निभालयतः पश्यतः मे शिरः पुरु अधिकं यथा तथा पलितं जरया श्वेतमभवत्। तव पदे प्रमदेन हर्षेण हृत् हृदयं न दधामि। उरसि उरु बहु धैर्यम्॥ १॥

ललनाओंमें विलासकी भावना करते-करते शीघ्र ही मेरे मस्तकके केश सब-के-सब सफेद हो चले। अब भी आपके चरणोंमें हर्षपूर्वक हृदय नहीं लगाता, यह मेरा बड़ा अपराध है। फिर भी हे देव! आपकी दयाको देखकर मेरे हृदयमें बहुत धैर्य होता है। मुनियोंके चित्तमें आनन्द बढ़ानेवाले हे मुरारे! मेरे इस मोहको दूर कीजिये॥ १॥

सुचिरात् तव तल्पतलोपगतं
परिलोकय देव दृशा जितकुन्द !
भवदाश्रितमेतमपास्यसि किं
प्रविधास्यसि किं प्रचलन्मुचुकुन्द ।
किमु वच्मि मुखान्न वशोऽसि हि मे
परमत्यलसोऽसि करे धृततुन्द !
न विनिन्दय दीनदयालुपदं
भवदङ्घ्रितले नय नाथ मुकुन्द ॥ २ ॥

तव तल्पस्य शयनमञ्चस्य तले नीचैः उपगतं प्रार्थनार्थमागतं माम् । दृष्ट्या, श्वेततायां जितं कुन्दपुष्पं येन तत्सम्बुद्धौ । भवदाश्रितम् एतं माम् किम् अपास्यसि, त्यजसि त्यागो नोचित इत्यर्थः। प्रचलन् मुचुकुन्दः तन्नामको राजा यस्मात्ते तत्सम्बुद्धौ । मायया मुचुकुन्दोऽपि त्वया विचलितः, अतएव त्वत्तो बहुकालं शयनमेव स वृतवान् । एवंप्रभावशालिन् ! त्वं किं विधास्यसि ? मद्विषये का ते चिकीर्षेत्यर्थः । अहं मुखात् किं कथयामि, त्वं मे वशः वशीभूतः नासि । अवशत्वादहं तुभ्यं मुखागतमपि न वदामि । परं करे धृतः तुन्दः फुल्लमुदरम् येन तत्सम्बुद्धौ । त्वमत्यन्तमलसोऽसि । ममोद्धारार्थं विचारमेव कुर्वंस्त्वमत्यलसोऽसि । उपालम्भं वदन्नपि प्रकटं निषिध्यतीत्याक्षेपालङ्कारः ॥ २ ॥

नेत्रोंके द्वारा कुन्दपुष्पोंको जीतनेवाले प्रभो ! आपकी शय्याके पास बहुत देरसे प्रतीक्षा करनेवाले मुझपर दृष्टि दीजिये । मायासे राजर्षि मुचुकुन्दको भी विचलित करनेवाले भगवन् ! अपने आश्रित इस दीनका परित्याग क्यों कर रहे हैं और आगे क्या करना चाहते हैं ? अपने मुखसे क्या कहूँ, आप मेरे वशके तो हैं नहीं । तोंदपर हाथ रखे अत्यन्त आलस्यमें भी हैं (मेरी प्रार्थनाकी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं)। हे मुकुन्द ! अपने 'दीन-दयालु' पदकी निन्दा मत कराइये । हे नाथ ! अपने चरणतलमें मुझे भी रख लीजिये ॥ २ ॥

१–उपजातिः

धनजायाजनेषु निलीनमिमं
तव मायाविमोहैर्न चालय माम्
भवबन्धान्निवर्त्य निरीहतमं
त्वदमन्ददृशा त्वधिलालय माम्।
करुणामवकर्ण्य ते दीनजने
शरणागतमेतं प्रपालय माम्
विषयेषु रतिर्बत बधिका मे
ननु राधिकाकान्त ! निभालय माम् ॥ ३ ॥

त्वदमन्ददृशा तव कृपादृष्ट्या तु अधिलालय आह्लादय। दीनजने ते तव करुणाम् आकर्ण्य ॥ ३ ॥

धन, स्त्री और सम्बन्धिजनोंमें पहलेसे ही आसक्त मुझको अपनी माया-के मोह-जालसे विचलित न कीजिये। संसार-बन्धनसे छुड़ाकर इस गरीबको अपनी कृपापूर्ण दृष्टिसे आह्लादित करिये। दीनजनोंपर आपकी करुणाको सुनकर शरणमें आये मुझ दीनका विशेषरूपसे पालन करिये। हे राधाकान्त ! सांसारिक विषयोंमें प्रीति मेरे लिये बाधक है, अतः मेरी ओर दयादृष्टि कीजिये ॥ ३ ॥

वरवाग् वितता ललिते लुलिते
पलितेन शिरः सिततामनुयाति
नृपनागरनैगमनेतृनये
बत येन कृता कृतिता प्रतिभाति।
यदि मञ्जुलनाथ मतिर्न गता
जगतामधिपे तदपार्थकताति
परिशोचय तं बत यस्य दृशो-
र्व्रजराजकिशोरविभा न विभाति ॥ ४ ॥

वरवाक् श्रेष्ठा वाणी ललिते लुलिते शृङ्गारप्रधानकाव्ये एव वितता

व्याप्ता। नागराः पौराः। नैगमाः वणिजः। नेतारः प्रजाप्रमुखाः, एतेषां नये नीतौ यत्कृता कृतिता चातुरी भाति। जगतामधिपे ईश्वरे यदि मतिर्न गता, तन् तदा अति अपार्थकता निरर्थकता। यस्य नेत्रयोः श्रीकृष्णस्य विभा शोभा न भाति, तं जनं परिशोचय॥ ४॥

ललित काव्य-रचनामें श्रेष्ठ वाणी उलझी, बुढ़ापेसे सिर सफेद हो गया। राजा, नगरवासी व्यापारी, नेता—इनकी नीतिमें ही बुद्धिकी चतुरता प्रतीत हुई। यदि जगदीश्वरमें मति न गयी तो यह सब सर्वथा निरर्थक है। वह अत्यन्त शोचनीय है, जिसकी आँखोंको व्रजराजकिशोरकी शोभा नहीं भाती॥ ४॥

वनवीथिषु यो विहरन् व्यदधाद्
व्रजवासिमुदं वसुधाभरहारी
कटुकालियमौलिषु केलिमय-
न्नभवद्रमयन् यमुनातटचारी।
इह मञ्जुलनाथमनस्यभवद्
भयपुञ्जहरः स निकुञ्जविहारी
परिमार्ज्य मतिं मम मोहरतां
निजगोचरतां गमयेद् गिरिधारी॥ ५॥

कालियसर्पमस्तकेषु नृत्यकेलिं कुर्वन् यमुनातटचारी यः लोकान् मोदयन् अभवत्। 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' इति भूते शतृ। मोहलग्नां मे मतिं परिशोध्य गिरिधारी मां निजगोचरतां गमयेत् स्वकीयतां नयेदित्यर्थः॥५॥

पृथ्वीका भार हरण करनेवाले जिन्होंने व्रजवीथियोंमें विहार करते हुए व्रजवासियोंको आनन्द दिया, कालियनागके कठोर मस्तकोंपर क्रीडा करते तथा यमुनातटपर विचरते हुए जो लोगोंको आनन्द देते थे। मञ्जुनाथके मनमें यही आया कि वे कुञ्जविहारी ही समस्त भयपुञ्जको हरनेवाले हैं। मोहपरायण मेरी मतिको शुद्ध करके वे गिरिधारी इसपर अपना अधिकार कर लें॥ ५॥



नटवर-नागर

येन पुरा प्रतिपत्तिपरा वनवह्निभराद्विता पशुपाली
यो हि विपत्तिगते समभूद् द्विरदे दययैव पुरा प्रतिपाली।
वीक्ष्य हरेश्चरितानि मनागिह मञ्जुलनाथ उपाश्रयशाली
पङ्कजिनीसदृशा स दृशा मम हीनदशां विमृशेद्वनमाली॥ ६॥

प्रतिपत्तिः शरणागतिः। पशुपानां गोपानामाली पङ्क्तिः दावानलाद् अविता रक्षिता। द्विरदे गजे, प्रतिपाली प्रतिपालकः। उपाश्रयशाली आश्रयग्राहीत्यर्थः॥ ६॥

जिन्होंने पहले शरणमें आये गोपगणकी दावानलसे रक्षा की थी, जिन्होंने विपत्तिमें पड़े गजराजका दयावश उद्धार किया था, उन श्रीहरिके चरित देखकर इस मञ्जुनाथने अब उनका किंचित् आश्रय ग्रहण किया है। कमलसदृश अपने नेत्रोंसे वे वनमाली मेरी दीनदशाको देखें॥ ६॥

मायिकमोहमरीचिकया मथितं लघु मां व्यथितं परितर्पय
देव दयामृतपूर्णदृशा द्रुतमेतदहो दुरितं त्वपदर्पय।
मञ्जुलनाथमनाथमिमं निकटे तव नाथ मनागुपसर्पय
रङ्कजनस्य कलङ्कहरं पदपङ्कजमेतदशङ्कितमर्पय॥ ७॥

मायाजनितमोहसम्बन्धिन्या मृगतृष्णया मथितं व्याकुलीकृतं मां लघु शीघ्रं परितर्पय संतोषय। दुरितं तु अपदर्पय विगतगर्वं कुरु, दमयेत्यर्थः। उपसर्पय प्रापय। रङ्कजनस्य दीनजनस्य सर्वविधकलङ्कहरम्॥ ७॥

मायाजनित मोह-मृगतृष्णासे पीड़ित मुझको शीघ्र संतुष्ट करिये। कृपामृतपूर्ण दृष्टिसे मेरे पातकका शीघ्र दमन करिये। हे नाथ! इस अनाथ मञ्जुनाथको तनिक अपने निकट तो बुलाइये और दरिद्रजनोंकी कलङ्क-कालिमाको दूर करनेवाले इस चरणपङ्कजका निर्भय आश्रय दीजिये॥

गणिकागुहगृध्रगजादिषु किं
कलिता न कृपा वद दृप्यदपोहन
किमु दुर्बलदुष्कृतिदीनजनान्
विजहासि वदेरयि दोहददोहन।

अयि मञ्जुलनाथ चिरान्मृगये
तदये मम मानसतो ह्यवरोह न
मयि सम्प्रति ते तरुणाब्जसखीं
करुणादृशमर्पय मन्मथमोहन ॥ ८ ॥

दृप्यतां गर्वं कुर्वतां जनानाम् अपोहन बहिष्कारक ! त्वं वद । दोहद-दोहन कामपूरक ! किमुदुर्बल दुष्कृत्यादीन् विजहासि ? अपि तु न विजहासि । तर्हि मामेव किं त्यजसीत्याशयः । मृगये अन्विष्यामि । न अवरोह न गच्छ ॥ ८ ॥

अभिमानियोंका नाम-निशान मिटा देनेवाले प्रभो ! क्या आपने गणिका, गुह, गीध, गज आदिपर कृपा नहीं की, कहिये तो ? भक्त-वाञ्छाकल्पतरु मेरे स्वामी ! बताइये तो—क्या आप दुर्बल, पापी और दीनजनोंका परित्याग कर देते हैं ? हे नाथ ! बहुत कालसे मैं आपको खोज रहा हूँ, अतः अब मेरे मनसे न हटिये । हे मदनमोहन ! खिले हुए कमलके समान आनन्ददायक अपने कृपापूर्ण नेत्रोंकी कोर मुझपर डालिये ॥ ८ ॥

मूर्द्धनि मञ्जुमयूरशिखा श्रवसोः किल कुण्डलयुग्ममुदञ्चतु
वक्षसि ते वनमाल्यमुदेतु मुखे मुरलीसुषमा परिचञ्चतु ।
काञ्चिरुदञ्चतु पीतपटे मणिनूपुरमङ्घ्रितटे बत मुञ्चतु
मानसमन्दिरमध्यमियं तव मञ्जुलमूर्तिरहर्निशमञ्चतु ॥ ९ ॥

मयूरशिखा मयूरपिच्छम् । चञ्चतु दीप्यताम् । अङ्घ्रितटे नूपुरं मुञ्चतु स्थापयतु ॥ ९ ॥

मस्तकपर मोर-मुकुट और कानोंमें कुण्डलोंकी जोड़ी हो । वक्षः-स्थलपर वनमाला विराजित हो और मुखपर मुरलीकी शोभा झलकती रहे । पीताम्बरपर काञ्ची (करधनी) सुशोभित हो, चरणोंमें मणिमय नुपूर धारण किये हुए हों । इस तरहकी आपकी मनोहर मूर्ति मेरे मन-मन्दिरमें अहर्निश निवास करे ॥ ९ ॥

मम बन्धुगणो विमुखत्वमयात्त्वमपीह दयामय चञ्चसि किम्
विषयैर्जननावधिवञ्चितमेनमहो त्वमपि प्रिय वञ्चसि किम् ।
भृशमन्तिकमन्तकरोऽयमुपेत्य रुजामकरोच्चिरमञ्चसि किम्
अमुना श्वसनेन वपुर्व्यधुनादधुना यदुनायक मुञ्चसि किम् ॥१०॥

चञ्चसि त्यक्त्वा गच्छसि । अन्तकरः कालः अन्तिकमेत्य भृशं रुजां पीडाम् अकरोद् इदानीं चिरं विलम्बं किम् अञ्चसि अवलम्बसे । अयमन्तकरः अमुना श्वासेन मे शरीरं व्यधुनात् अकम्पयत् ॥ १० ॥

दयामय ! मेरे बन्धुगण मुझसे विमुख हो गये, फिर आप भी मुझे छोड़कर क्यों जाते हैं ? जन्मसे लेकर आजतक विषय-भोगोंने मेरी वञ्चना की है। फिर हे प्रियतम ! आप भी मेरी वञ्चना क्यों करते हैं ? यह काल अत्यन्त समीप आकर मुझको पीड़ा दे रहा है, ऐसी दशामें आप देरी क्यों कर रहे हैं ? कालने इस श्वासके द्वारा मेरे शरीरको कँपा दिया है; हे यदुनायक ! अब आप भी मुझे क्यों छोड़ते हैं ? ॥ १० ॥

रसवद्वचना रचना रचना विगुणा रचना त्वरुचिन्यसना
भुवनाधिपतेः पदसंकलना कलनास्ति परा जगदुज्जसना ।
प्रभुसद्गुणसंघटना घटना त्वपरा घटना जनताहसना
इतरा रसना विफलव्यसना हरिनामधना रसना रसना ॥११॥

रसवन्ति वचनानि यस्याम् ईदृशी रचना कविता रचनापदवाच्या । पदसंकलना चरणाश्रयणं कलना (क्रिया)-पदवाच्या। जगतः उज्जसना पीडयित्री । जनताहसना जनताया हसनं यस्याः सकाशाद् । हरिनामस्मरणमेव धनं यस्याः ईदृशी रसना जिह्वा ॥ ११ ॥

सरस वाक्योंवाली रचना ही रचना है, अन्य रचना तो अरुचि उत्पन्न करनेवाली है । भुवनपति भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना ही वास्तविक क्रिया है। अन्य प्रकारकी क्रिया तो जगत्‌को पीड़ा पहुँचानेवाली ही सिद्ध होती है। प्रभुके सद्गुणोंकी माला गूँथना ही सच्चा संघटन है, अन्य संघटन तो जगत्‌में हँसी करानेवाले हैं । हरिनामको ही सर्वस्व

माननेवाली रसना ही रसना है। अन्य रसनाएँ तो व्यर्थ ही टर-टर करने-वाली हैं ॥ ११ ॥

बहुदुर्मददैत्यगणैर्दलितं सततं भुवनं परिपासितमाम्
नयनिर्बलनिस्सहनिस्स्वजनस्य निहंसि सदा विपदामसमाम्।
ननु वेद्मि न वेत्सि ममाकुलतां मदमोहभृतां निदधासि रमाम्
अपि चर्चितचन्दन कंसनिकन्दन हे यदुनन्दन नन्दय माम्॥१२॥

नयनिर्ब०—नये नीत्यां निर्बलः, अतएव निस्सहो यो निर्धनजनः तस्य असमाम् असाधारणीं विपदां विपत्तिम् (भागुरेराप्) । त्वं मम आ-कुलतां न वेत्सि इति वेद्मि, यतो मदमोहपूर्णां (जडधनरूपां) लक्ष्मीं वक्षसि निदधासि। लक्ष्मीयुक्ता मदेन मोहेन च दीनानां व्याकुलतां न परिजानन्ति ॥

बहुसंख्यक मदोन्मत्त दैत्यगणोंके द्वारा पीड़ित जगत्की आप निरन्तर पूरी-पूरी रक्षा करते हैं। नैतिक बल एवं मनोबलसे शून्य गरीबोंकी बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको आप सदा दूर करते हैं, परंतु मैं समझता हूँ कि आप मेरी व्याकुलताको नहीं जानते; क्योंकि आप मद और मोहसे भरी हुई लक्ष्मीको सदा हृदयमें धारण करते हैं। चन्दनद्वारा चर्चित एवं कंसका विध्वंस करनेवाले यदुनन्दन! कृपा करके मुझे भी आनन्दित करिये ॥१२॥

भवबन्धकरेषु रमे नितरां चपलं मे मनश्चपलालवलेहि
न च साधुजनेषु निलीनं क्वचिन्मम दीनं वचोऽप्यधमे बत 'देहि'।
सुकृतस्य लवोऽपि न संध्रियते चरिते मम नाथ न दृष्टिं निधेहि
क्व विशालो ममास्ति कपालो मुकुन्द तथापि दयालो दयां प्रविधेहि

चपला०—चपलाया लक्ष्म्या लवं लेढि सतृष्णमनुधावति तच्छीलम्। मम मनः साधुजनेषु क्वचिदपि न लीनम् । अधमेऽपि 'बत देहि' इति मम दीनं वचः। क्व विशालो सुकृताद्यभावान्मम विशालः कपालः अर्थात् विशिष्टं भागधेयम् क्वास्ति ॥ १३ ॥

मैं जन्म-मृत्युके बन्धनमें डालनेवाले विषयोंमें ही सदा रमण करता हूँ। यह मेरा मन लेशमात्र लक्ष्मीके लिये लालायित रहता है, किंतु

सत्सङ्गमें यह कभी नहीं लगता। हाय ! अधमोंके सम्मुख भी मेरे मुखसे 'देहि' (दो) यह दीन वचन ही निकलता है। मेरे अंदर पुण्यका लेशमात्र भी नहीं है। अतः हे नाथ ! मेरे आचरणपर दृष्टि न दें। हे मुकुन्द ! मेरा ऐसा विशाल भाल (बड़ा सौभाग्य) कहाँ, जो मैं आपकी कृपा प्राप्त कर सकूँ। फिर भी आप दयासागर हैं, अतः मुझपर भी कृपा कर दीजिये ॥ १३ ॥

२—मत्तगयंद (मालती) इंद्व

जन्मनि नेह कृतं सुकृतं
दुरितानि तु दीनमिमं दमयन्ते
दुर्गुणदुर्गमवेत्य हि मां
परिवृत्तधियः सुधियस्तृणयन्ते।
नाथ ! न पश्यसि किं नु ? जना
बत मञ्जुलनाथमनाथमयन्ते
देहि सशोकशिशोरवने
व्रजराजकिशोर ! कटाक्षकणं ते ॥ १४ ॥

मया इह अस्मिन् जन्मनि सुकृतम् न कृतम्। पापानि दीनम् इमम् माम् दमयन्ते अभिभवन्ति। दुर्गुणानाम् दोषाणाम् दुर्गम् दृढरक्षास्थानम् अवेत्य ज्ञात्वा, परिवृत्ता मत्सकाशाद् विमुखीभूता धीः बुद्धिः येषाम् ते सुधियः सज्जनाः मां तृणवत् तिरस्कारयोग्यम् कुर्वन्ति तत्करोतीति णिच्। 'दुर्ग' पदेन—दुर्गे यथा निर्भयं निवसन्ति तथा मयि पातकानि दृढतया निवसन्तीति दोषातिशयो ध्वन्यते। हे नाथ किं त्वं न पश्यसि ? यत् जनाः माम् मञ्जुनाथम् अनाथम् अयन्ते जानन्ति। अरक्षितं ज्ञात्वा पीडयन्तीत्यर्थः। सशोकस्य अस्य शिशोः बालकस्य मम अवने रक्षणे दृष्टेः लवमपि देहि ॥ १४ ॥

इस जन्ममें मैंने कोई पुण्य नहीं किया। पाप तो इस गरीबको पैंड़-पैंड़पर दबाते हैं। मुझको दुर्गुणोंका किला (किलेमें जिस तरह निर्भय

रहा जाता है, इस तरह पाप मुझमें निर्भय निवास करते हैं, यह) समझकर सज्जनोंने मेरी ओरसे अपनी मति फेर ली, वे मुझे तृणकी तरह समझते हैं। हे नाथ ! क्या आप नहीं देखते कि इस मञ्जुनाथको लोग अनाथ समझते हैं (अतएव पीड़ा देते हैं) ? इसलिये हे व्रजराजकुमार! सोचसे दबे हुए इस बालककी रक्षाके लिये आप (इसपर) अपना कृपा-कटाक्ष डाल दीजिये ॥ १४ ॥

३—चकोर

दुर्भरदम्भभृतं सुतमां बत मामिह सूरिषु को न निनिन्द
भूरि भयेन विरौमितमामयि मञ्जुलनाथ ! दयां मयि विन्द।
दुर्भगदीनदरिद्रकृते प्रथिता तव वत्सलता यदुनन्द !
निन्दसि किं ननु नन्दय मां मतिमन्दमिमं दययैव मुकुन्द ॥१५॥

सुतमाम् अत्यन्तम् 'सु' इत्यव्ययात्तमप्। दुर्भरेण दम्भेन भृतम् माम् पण्डितेषु को वा न निनिन्द अपि तु सर्वेऽपि। भयवशाद् अहम् अतितमां रोदिमि। हे मञ्जुनाथ हरे! मयि दयां विन्द भज, कुरु। दुर्भाग्यनिर्धनदीनानां कृते तव वात्सल्यं प्रसिद्धम्। यदून् नन्दयति तत्सम्बुद्धौ। मन्दमतिम् इमं मां किं निन्दसि ? हे मुकुन्द! दयाद्वारा मां नन्दय सुखितं कुरु। पुण्यबलं बुद्ध्यादिकं वा मत्सविधे नास्ति। तव दयामेवालम्ब्य सुखितो भवितुमिच्छामीति निस्साधनतां सूचयित्वा भगवदनुग्रहः प्रार्थ्यते ॥ १५ ॥

सज्जनोंमें ऐसा कौन है जो मुझ प्रचण्ड ढोंगीकी निन्दा नहीं करता ? हे नाथ ! अत्यन्त भयसे मैं ढाढ़ मारकर रो रहा हूँ, हे नाथ ! मुझपर दया करिये। हे यदुनन्दन ! अभागे, दरिद्री, गरीबोंके प्रति आपकी दयालुता प्रसिद्ध है। हे मुकुन्द ! तब इस मन्दमतिकी आप निन्दा क्यों करते हैं, अपनी प्रसिद्ध दयाके द्वारा इस दीनको आनन्दित करिये ॥१५॥

४—मुक्तहरा

दृशोरुपगच्छति मे तिमिरं बधिरं श्रुतियुग्ममिहायासि नैव
शनैरपगच्छति चेतनता भवतारण ! सम्प्रति धावसि नैव ?

क्षणादपि देव ! तनुर्निपतेदधुना तु विहातुमिहार्हसि नैव
अये मम संविरतेः समयेऽपि हि नाथ ! नयेन निभालसि नैव ॥१६॥

अन्तसमये भगवतः प्रार्थना—मम दृशोः नेत्रयोः अन्धकारः आगच्छति। मम कर्णद्वयं बधिरं (जातम्) इति न अयसि जानासि; हे भवात् तारक ! अस्मिन् करुणसमयेऽपि उद्धारार्थं न धावसि। अधुना तु मां त्यक्तुं न अर्हसि। मम संविरतेः उपरामस्य, लोकान्तरगमनस्य समये अपि दयानुकूलेन न्यायेन मां न निभालयसि पश्यसि ? 'भाल' धातुर्भ्वादिः (आकृतिगणः) ॥ १६ ॥

अन्त समयमें भगवान्से प्रार्थना—मेरी आँखोंमें अँधेरा छा गया है। आप नहीं जानते, मेरे दोनों कान बहरे हो गये ? धीरे-धीरे मेरी चेतना (होश) जा रही है। हे संसारसे उद्धार करनेवाले ! अब भी आप शीघ्रता नहीं कर रहे हैं ? हे देव ! क्षणभरमें यह शरीर मुर्दा हो जायगा। इस समय तो मेरा त्याग करना योग्य नहीं। हे नाथ ! मेरे इस मृत्यु-समयमें भी आप नीतिकी दृष्टिसे नहीं देखते ? (आपके स्वभावके अनुसार न्याय यही है कि इसपर दयाकी दृष्टि डालें) ॥ १६ ॥

५—सुन्दरी (मल्ली, सुखदानी)

निजनिर्भरणे निरतः सकलो विकलोपरि केन दयाऽऽचरणीया
न च धर्ममधर्ममवैति जनो धनिलोकमनोऽनुगताधरणीया।
न सनातनरीतिषु रज्यति कोऽपि कथं नु जनैर्द्विजताऽऽदरणीया
अधुना बत मञ्जुलनाथहिते भवता यदुनाथ ! कृपा करणीया ॥१७॥

निजस्य परिपूरणे तत्परः। विकलस्य पीडितस्योपरि दया केन करणीया ? न केनापि क्रियते। अवैति जानाति। केवलं धनिलोकानां मनसः अनुगामिता अनुसरणम् स्वीकरणीया। रज्यति अनुरक्तो भवति। तदा जनैर्मम ब्राह्मणता कथमादरणीया ? द्विज इतिबुद्ध्या न कोऽप्यादरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

सब लोग आत्मीयोंके भरण-पोषणमें लगे हैं, विकल (पीडित) पर

दया कौन करता है। मनुष्य धर्म-अधर्मको नहीं पहचानते। केवल धनी लोगोंकी रुचिके अनुकूल सब काम करते हैं। सनातन रीतिको कोई पसंद नहीं करता, फिर ब्राह्मण समझकर हम-सरीखोंका आदर कैसे हो ? इसलिये हे यदुनाथ ! अब मञ्जुनाथके हितके लिये आपको ही दया करना उचित है ॥ १७ ॥

९—अरविन्द

अयि देव विलोकय दीनदशां
विवशां विवहामि तनूमवधेहि
तव दर्शनलालसया ह्यनया
हृदि धैर्यमुदेति सुधालवलेहि ।
भवदागमनोत्कलिकासु मनो
वितनोति मनोरथकोटिमवेहि
अरविन्दविलोचन नाथ मुकुन्द !
विनन्दय मानसमाकुलमेहि ॥ १८ ॥

अवशां तनूम् शरीरम् धारयामि, इति अवधेहि । किंतु तव दर्शनं शीघ्रं भविष्यतीति लालसया अमृतलेशचुम्बि धैर्यं भवति । भवतः आगमनविषये नानाविधा उत्कण्ठा भवन्ति, तद्विषये मम मनः एवम् एवम् करिष्यामीति अनन्तान् मनोरथान् करोति, इति जानीहि । आगमनस्य विचार एव सेयं दशा, त्वल्लाभे तु कावस्था भवेदित्युत्कण्ठातिशयो ध्वन्यते । हे मुकुन्द एहि मानसमानन्दितं कुरु ॥ १८ ॥

हे देव ! मेरी दीन दशा तो देखिये । इस बेबस शरीरको किसी तरह घसीटे चला जा रहा हूँ, यह ध्यान रहे । आपके दर्शनोंकी लालसासे इस तरहका धीरज बँध गया है जैसे अमृत मिल गया हो । आपके पधारनेकी उत्कण्ठासे यह चित्त अनेक तरहके मनसूबे बाँध रहा है । इसलिये हे कमल-लोचन मुकुन्द ! शीघ्र पधारिये और इस व्याकुल चित्तको आनन्दित करिये ॥ १८ ॥

७—लवङ्गलता

प्रातःकाले भगवत्स्मरणम्

विहायसि निर्मलरोचिरुदेति,
निरेति तमः प्रशमः पदमृच्छति
पुरंदरदिक्प्रमदावदनं
नवरागघनं सुषमामभिगच्छति ।
जगत्स्वपि जागृतिरेति मनागपि
मञ्जुलनाथमनो मुदमिच्छति
उषा भुवनेश्वरभावपुषा
वपुषा प्रमदं विदुषामभियच्छति ॥ १९ ॥

आकाशे स्वच्छं रोचिः तेजः उदेति, तमः निर्गच्छति, (स्वभावत एव प्रातः) शान्तिः पदम् स्थानम् ऋच्छति प्राप्नोति करोति । पूर्वदिग्रूपाया वध्वाः मुखम् उषारागेण नवरागयुक्तं सत् शोभां गच्छति । 'जागृतिः' एति भवति, इति लोकव्यवहारानुसारम्, अन्यथा 'जागर्तिः' इति स्यात् । मञ्जुनाथस्यापि मनः मोदं वाञ्छति । सेयं उषा प्रातःकालः जगदीश्वरम् प्रति भावम् भक्तिम् पुष्णाति ईदृशेन स्वशरीरेण विदुषाम् तत्त्वज्ञानां भक्तानाम् प्रमोदं ददाति । 'उषा' इति वैदिकः शब्दोऽपि साहित्ये प्रयुज्यते । प्रातःकालो भगवन्तं प्रति भावनामाकर्षतीति सूच्यते ॥ १९ ॥

आकाशमें एक तरहका निर्मल प्रकाश छा गया है । अन्धकार नष्ट हो रहा है । एक स्वाभाविक शान्तिने चित्तमें स्थान कर लिया है । प्रातःकालीन घनी ललाई लिये हुए पूर्वदिशारूप सुन्दरीका मुख एक अलौकिक शोभा धारण किये हुए है । सम्पूर्ण जगत्‌में इस समय जागृति (जाग) हो गयी है । मञ्जुनाथका चित्त भी प्रमोद चाह रहा है । यह उषा (प्रातःकालकी वेला) चराचर-नायक भगवान्‌की ओर मनुष्योंकी भावनाको स्वभावसे ही खींचनेवाले अपने शरीरसे विवेकी लोगोंको प्रमोद देती है । (विवेकी पुरुष प्रातःकाल स्वभावसे ही भगवान्‌की ओर आकृष्ट होकर आनन्द प्राप्त करते हैं) ॥ १९ ॥

८—सुख (किशोर, कुन्दलता)

परिकर्षति कामकषायभरो
विकरोति मदो मयि मानसमीरय
सुखवासनया ह्यनया परितो-
ऽधरितोऽस्मि न नाथ मनागवधीरय ।
वद केन यथा परियामि विभो
भवभोगतृषं तरसा बत तीरय
अयि भो भवतारण दुःखविदारण !
जीवितधारणरीतिमुदीरय ॥ २० ॥

कामवासनासमूहः मां स्वाभिमुखम् आकर्षति । मदो मयि विकारमुत्पादयति । हे विभो मयि मद्विषये भवच्चित्तं प्रेरय । सुखप्राप्तेः वासनया समन्ततः अधरीकृतोऽस्मि तिरस्कृतोऽस्मि, अतएव तिरस्कृतं मां त्वं न तिरस्कुरु । तरसा शीघ्रम् मम भवभोगतृष्णां तीरय समापय । अतएव परितः व्याकुलोऽहं जीवितं कथं धारयेयम् इति रीतिं त्वमेव उपदिश ॥

काम-वासनाएँ मुझको अपनी ओर खींच रही हैं । मद (अभिमान) मुझमें विकार पैदा कर रहा है, कृपा करके इधर चित्त दीजिये । सुख-प्राप्तिकी वासनाने सब ओरसे मुझे पद-दलित कर दिया है, अब आप मुझे मत ठुकराइये । आप आज्ञा करें, मैं किस मार्गसे चलूँ ? शीघ्र ही मेरी सांसारिक भोग-तृष्णाकी समाप्ति कर दीजिये । हे संसारसे उद्धार करनेवाले दुःखहारी भगवन् ! इस संसारमें किस प्रकार जीवन व्यतीत करूँ, इसकी प्रक्रिया आप ही बता दीजिये ॥ २० ॥

९—वाम (मञ्जरी, मकरन्द, माधवी)

पार्वतीतः प्रार्थना

नदन्ति गृहे मददन्तिघटा
विसृजन्ति जनोपरि दानपयोदम्
भरन्ति गुणैर्भुवनानि मनाग्
विहरन्ति मनोज्ञवनेष्वनुगोदम् ।

वहन्ति मनोरमकाव्यकलां
तव दासजना जनयन्ति विनोदम्
त्वदन्तिकतो हि जयन्ति शिव !
घटयन्ति समस्तमियन्ति समोदम् ॥ २१ ॥

गृहे मदयुक्तानां दन्तिनाम् हस्तिनाम् घटाः समूहाः । नादं कुर्वन्ति । ते लोकानामुपरि दानरूपं मेघं वर्षन्ति । निजगुणैः भुवनानि पूरयन्ति । गोदाम् अनु गोदावरीनदीतटे मनोज्ञेषु वनेषु विहरन्ति । (गोदावरीतटं प्राकृतसौन्दर्यार्थं प्रसिद्धम् ।) तव दासजनाः काव्यकलाद्वारा लोकानां मनोविनोदं कुर्वन्ति । त्वत्सकाशाद् इयन्ति एतावन्ति राजत्वकवित्वादीनि घटयन्ति सम्पादयन्ति ॥ २१ ॥

घरमें मतवाले हाथी चिग्घाड़ते हैं । लोगोंपर वे दानके बादल बरसाते हैं—खूब दान करते हैं तथा अपने गुणोंसे विश्वको आप्यायित कर देते हैं । गोदावरी-तटपर सुन्दर वन-उपवनोंमें विहार करते हैं । तुम्हारे दास सुन्दर काव्यरचना करते हैं तथा उसके द्वारा अपना और दूसरोंका मनोरञ्जन करते हैं । हे भगवती पार्वती तथा भगवान् शंकर ! आपके दास आपके पाससे ये सभी पदार्थ बड़े आनन्दके साथ प्राप्त करते हैं ॥२१॥

१०—किरीट

श्रीगङ्गातः प्रार्थना

जन्मनि जातु कृतं न हितं मम
देवगणो दुरितं किमपोहतु
जाह्नवि ! कं शरणं परियामि
ममोद्धरणं किल कः परिशोचतु ।
दीनमुपायविहीनमिमं
दयया परिगृह्य गिरं मम बोधतु
देहविमोकदिने भुवनेश्वरि !
गात्रमिदं पुलिने तव लोठतु ॥ २२ ॥

आत्मनः परेषां च हितं न कृतम्। देवगणो मम पातकं किमिति दूरीकरोतु ? न कुर्यात्। हे गङ्गे ! ममोद्धारस्य कस्य हृदये चिन्तास्ति ? न कस्यापि । साधनहीनम् इमं दीनं दयाद्वारा स्वीकृत्य मम वाणीम् प्रार्थनाम् भवती एव शृणोतु । का सा प्रार्थना ? हे 'भुवनाधीश्वरि गङ्गे ! देहत्यागदिने मम इदं शरीरं तव तटसैकते लोठतु' ॥ २२ ॥

इस जन्ममें मैंने कोई हित—पुण्यका काम नहीं किया। तब देवतालोग मेरे पातक कैसे दूर करेंगे ? हे भगवति गङ्गे ! मैं किसके शरण जाऊँ, मेरे उद्धारकी किसको चिन्ता है ? उपायों (साधनों) से हीन इस दीनपर दया करके आप ही मेरी वाणी (पुकार) सुनिये—'हे त्रिभुवनकी स्वामिनि ! मेरी देह छूटनेके दिन मेरा यह शरीर आपके तटकी रजमें लोटे', यही प्रार्थना है २२ ॥

११–अरसात

पातकपुञ्जमपोहयितुं भुवि
याभिययौ व्यपदिश्य भगीरथम्
खेलदवारितवीचिघटा च
जटासु जगाम निमीलितमन्मथम्।
मञ्जुलनाथ ! न शोच मना-
गधुनापि पुनाति भवादृशमुद्व्यथम्
देवधुनी तव सा विधुनीत
मनोमधुनीतमलीकमनोरथम् ॥ २३ ॥

लोकानां पातकसमूहम् अपोहयितुं दूरीकर्तुं भगीरथं व्यपदिश्य भगीरथं नृपं निमित्तीकृत्य या भुवि अवततार । खेलन्ती अवारिता (अप्रतिरुद्धा) तरङ्गघटा यस्याः ईदृशी या गङ्गा निमीलितमन्मथं संहृतकामदेवं शिवं जटासु जटानामुपरि जगाम प्राप। त्वं शोकं मा कुरु, अधुनापि सा गङ्गा भवादृशम् उद्व्यथम् उत् उच्चैः अधिका व्यथा यस्य तादृशं जनं पवित्रीकरोति । सा देवनदी मनोमधुना नीतम् मनःकल्पितम्

मधु मनोमोदकमितिवत् यत् अलीकसुखम् तेन नीतम् सम्पादितम् मिथ्याभिलाषम् विधुनीत अपनयेत् । मनःकल्पितसांसारिकमधुरमनोरथस्य वशात् त्वं विषयेषु निबद्धो भवसि । गङ्गा तमेव ते विषयाभिलाषं दूरीकुर्यादित्याशयः ॥ २३ ॥

राजा भगीरथको निमित्त बनाकर संसारमात्रके पापसमूहको दूर करनेके लिये जो भूमिपर आयीं तथा वेगसे फैलते हुए प्रबल तरङ्ग-समूहको लेकर जो कामदेवको भस्म करनेवाले श्रीशंकरकी जटाओंमें पहले-पहल उतरीं, वे पापहारिणी गङ्गा आज भी तुम-सरीखे पातक-पीड़ितोंको पवित्र करती हैं। अतः हे मञ्जुनाथ ! तुम चिन्ता मत करो। वे देवनदी श्रीगङ्गा मनसे कल्पना किये सुखोंसे सम्बद्ध तुम्हारे उस झूठे मनोरथको हटा देंगी, जिसके कारण तुम इन सांसारिक विषयोंमें फँसते हो ॥ २३ ॥

१२—दुर्मिल

जननावधि लौकिकसंघटना-
गतचित्तमनामयहीनमिमम्
सदनावनिवित्तयशोललना-
दिसमानयनानिशलीनमिमम्
अपि मञ्जुलनाथ ! दयाविधिना
कुरु ते चरणाभिमुखीनमिमम्
अधुना दवदुःखघनाकुलितं
यदुनाथ ! सनाथय दीनमिमम् ॥ २४ ॥

जननावधि जन्मन आरभ्यैव लोकस्य कार्यपरम्परासु गतं चित्तं यस्य। अतएव अनामयहीनम् आमयाभावेन रोगाद्युपद्रवाभावेन रहितम् आमयसहितमिति यावत्। गृह-भूमि-धन-कीर्ति-स्त्री-प्रभृतीनां संग्रहे नित्यरतम्। दव (वनवह्नि) वत् यद् दुःखघनं दुःखसम्भारः तेन व्याकुलितम् इमं दीनं सनाथय सर्वापद्भ्यो रक्षेति भावः ॥ २४ ॥

इसका चित्त जन्मसे लेकर आजतक लौकिक घटनाओंमें ही लगा

रहा है, इसीलिये यह रोग आदि अनेक उपद्रवोंसे घिरा है। इतना ही नहीं घर, जमीन, धन, कीर्ति, स्त्री—आदिके संग्रहमें ही यह रात-दिन व्यस्त रहता है। हे नाथ! अब आप अपने दयाके विधानसे इसको अपने चरणोंके सम्मुख अर्थात् शरणापन्न कीजिये। हे यदुनाथ! दावाग्निके समान चारों ओर फैले हुए दुःखसमूहसे व्याकुल इस दीनको अब आप ही सनाथ—निरापद बनाइये॥ २४॥

[३८]

अश्वधाटी

संदाहिनित्यपरनिन्दादिपापकृतिकन्दाधिरोपमुपयन्
किं दानलोभलवसंदानितो भ्रमसि मन्दालयेषु नितराम्।
त्वं दास्यमेत्य मुनिवृन्दार्चनीयमघबन्धात्ययाय भज भो
मन्दारमञ्जुमकरन्दालिमेदुरमुकुन्दाङ्घ्रिकञ्जमनिशम्॥१॥

संदाहिनां हृदयदाहकराणां परनिन्दादिपापकार्याणां यः कन्दः मूलम् तस्यारोपणम् उपयन् कुर्वन्। संदानितो बद्धः। अघबन्धात्ययाय पापबन्धनदूरीकरणाय। मन्दार०—पारिजातस्य मञ्जुर्या मकरन्दालिः मकरन्दराशिः तया मेदुरम् सान्द्रस्निग्धम् अङ्घ्रिकमलम् भज॥ १॥

अरे मञ्जुनाथ! हृदयदाहक परनिन्दादि पापकार्योंका बीजारोपण करते हुए तथा तनिक-से दानके लोभसे बँधे हुए तुम मन्दबुद्धियोंके घरोंमें निरन्तर क्यों घूमते हो? पापके बन्धनसे छूटनेके लिये दास्यभावको स्वीकार करके—पारिजात (कल्पवृक्ष) के मकरन्द (गुणों) से पूरित मुकुन्द-चरणकमलका सेवन करो, जिसकी मुनिगण भी अर्चना करते हैं॥ १॥

भालानतावपि करालास्यमश्नमहिपालाग्र्यमेनमयसे
कालातिपातिमदहालावमत्तधनपालालयेषु विचरन्।
बालायितोऽसि बुधमालार्चितोऽपि न ममालापमुत्सृज सखे
व्यालालिकेऽपि रुचिजालावभासिव्रजपालाङ्घ्रिमर्चय चिरम्॥

भाला०—मस्तकनमनेऽपि करालमुखम् एनम् अज्ञम् महीपालश्रेष्ठम् अयसे उपगच्छसि । काला०—कालक्षेपकाः, मदमद्येन अवमत्ता ये धनपालाः धनिनः । व्याला०—कालियसर्पस्य मस्तकेऽपि कान्तिसमूहेन अवभासिनम् प्रकाशिनम् श्रीकृष्णस्य चरणम् ॥ २ ॥

मस्तक झुकानेपर भी रौद्ररूप धारण किये रहनेवाले इन महीपालोंके पास तुम बड़े चावसे जाते हो तथा व्यर्थ कामोंमें समय गुजारनेवाले, अभिमानकी मदिरासे मतवाले हुए धनपतियोंके घरोंमें घूमते हो । तुम पण्डितोंकी पंक्तियोंसे पूजित होकर भी बालकके समान हो । अतः मित्र ! मेरे कथनकी उपेक्षा मत करो । कालियनागके मस्तकपर भी कान्तिसमूहसे उद्भासित व्रजपाल श्रीकृष्णके चरणोंकी सदा पूजा करो ॥ २ ॥

भारीभवद्भुवनचारीद्धदुःखविनिवारी व्रजावनिपतिः
पारीन्द्रदन्तपरिदारीन्द्रगर्वपरिहारी हरेत विपदम् ।
नारीजनेन परिवारी दिवाकरकुमारीतटे मुदमयन्
हारीन्द्रनीलरुचिहारी गरिष्ठगिरिधारी धिनोतु सततम् ॥३॥

भारी०—भारायितं यद् भुवनचारिणाम् इद्धं प्रवृद्धं दुःखं तस्य निवारकः । पारी०—पारीन्द्रो हस्ती (कुवलयापीडः) तस्य दन्तविदारकः । हारी०—हारी (मनोहारी) य इन्द्रनीलः तस्य रुचिं हरति विडम्बयति । धिनोतु प्रीणयतु ॥ ३ ॥

संसारी लोगोंके दुःखभारको दूर करनेवाले, कुवलयापीड़ हाथीके दाँतोंको उखाड़नेवाले तथा (बायें हाथकी कानी उँगलीपर गिरिराज गोवर्धनको धारण करके) इन्द्रके गर्वको चूर करनेवाले व्रजभूमिके स्वामी श्रीकृष्ण हमारी आपदाओंका निवारण करें । गोपीजनोंसे परिवृत होकर सूर्यकुमारी यमुनाके तटपर विहार करनेवाले, सुन्दर नीलमकी भी कान्तिको चुरानेवाले गिरिधारी हमको आनन्दित करें ॥ ३ ॥

आयासहेतुसुतजायाधनादिदुरुपायाय धावसि चिरं
कायावशोषिदृढदायाददुःखमवसायान्तरे तु तुदसे ।

आयाहि सर्वमपहायावसादमयि ! मायाप्ररोहणहरः
पायादशेषदुरपायादसौ जलधिजायाधवोऽनवरतम् ॥४॥

आया०—धनादीनां दुरुपायाय दुष्टोपायार्थम् । अवसायपर्यन्ते ज्ञात्वा । तुदसे व्यथसे । आयाहि०—अयि सर्वम् अवसादं दुःखम् अपहाय आयाहि । माया०—मायायाः प्ररोहणम् अभिवृद्धिं हरति । जल०—जलधिजायाः लक्ष्म्याः धवः पतिः ॥ ४ ॥

अरे मञ्जुनाथ ! तुम (व्यर्थका) परिश्रम देनेवाले पुत्र-स्त्री-धनादिकी प्राप्तिके लिये चिरकालसे दौड़ रहे हो तथा शरीरको सुखानेवाले भाई-बन्धुओंके दुःखको सोच-सोचकर हृदयमें पीड़ित होते हो । इस सारे दुःख-को छोड़कर इधर चले आओ । मायाके बढ़ते हुए प्रवाहको रोक देनेवाले ये लक्ष्मीपति इस अशेष हानिसे तुम्हारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

अंसावरोहितनृशंसावलीविहितशंसाप्रसारमुदितो
हंसावदातभवनं साधयस्यतिरिरंसापहिंसितमनाः ।
त्वं सारशून्यपरहिंसापरेष्वथ च किं साभिमानमयसे
संसारसारमिह संसाधयस्व किल कंसारिपादकमलम् ॥५॥

अंसा०—स्कन्धे स्थापिताः अत्यादरभाजनानि इत्याशयः । ये नृ-शंसास्तद्विहिता शंसा प्रशंसा । रिरंसा०—रन्तुमिच्छया बलाद्धिंसितम् अर्थात् हीनीकृतम् मनो यस्य, ईदृशस्त्वम् । परहिंसातत्परेषु दुष्टेषु साभिमानम् किम् अयसे गच्छसि ॥ ५ ॥

कंधोंपर चढ़ाये गये (अर्थात् सिर चढ़े) क्रूर लोगोंकी की हुई प्रशंसासे फूलकर तथा विहारकी इच्छासे विकृतमन होकर तुम उनके उज्ज्वल सुन्दर महलोंमें जाते हो । अरे निस्सार एवं परहिंसामें लगे लोगोंमें तुम बड़े अभिमानसे क्यों जाते हो ? तुम तो संसारके सार कंसनिकन्दन भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलकी (प्राप्तिके लिये) भली प्रकार साधना करो ॥ ५ ॥

शालीनवंशरुचिशालीष्टगोपवनितालीमयन् प्रणयतो
यालीकलोकपरिणालीमपास्य चिरमालीयताङ्घ्रिकमले ।

कालीभवत्कुटिलकालीयपन्नगफणालीषु नर्तनपटु-
स्तालीवने विपिनपालीप्रमोदि वनमाली मुदं दिशतु मे ॥६॥

शालीने विनम्रे वंशे रुचिशालिनी इष्टा च या गोपवनितानाम् आली पङ्क्तिः तां प्रणयतः प्रेम्णा अयन् प्राप्नुवन् । या वनिताली अलीकां लोकप्रणालीम् अपास्य चिरम् चरणकमले आलीयत लीनाभवत् । काली०—कालरूपेण परिणमन् यः कुटिलकालियसर्पस्तस्य फणापङ्क्तिषु । विपिन०—विपिनं वनं पालयन्ति ता विपिनपाल्यः ताभिः प्रमोदते तच्छीलो वनमाली ॥ ६ ॥

जो झूठी लोकमर्यादाका परित्याग करके श्रीहरिके अभय चरणकमलोंमें सदाके लिये लीन हो गयी थीं तथा जिन्होंने निष्कलङ्क गोपवंशको उजागर किया, उन अपनी प्रियतमा गोपवनिताओंका प्रेमसे अनुसरण करनेवाले, काल-की तरह भयानक एवं कुटिल कालियकी फणालीपर नृत्यशाली तथा तालवनमें गोपाङ्गनाओंसे प्रमोद करनेवाले वनमाली हमें आनन्दित करें ॥ ६ ॥

संतापहेतुधनसंतानलाभसुखसंतानलोलुपमना
हिन्तालतालतरुकुन्तावृतासु हरिदन्ताटवीषु रमसे ।
अन्तावसायिगृहचिन्ताशतस्य तव हन्तारमाश्रयसि कं ?
किं तावदीप्ससि दुरन्ताढ्यमेहि हरिचिन्तामणिं श्रय सखे ॥७॥

धनादीनां लाभस्य यः सुखसंतानः सुखपरम्परा तस्यां लोलुपचित्तः । हिन्ता०—हिन्तालादयस्तरव एव कुन्ता भल्लास्तैः आवृतासु । हरिद०—दिगन्ताटवीषु दूरपर्यन्तव्यापिषु वनेषु । अन्ता०—अन्ते अवसीयते समाप्यते तादृशस्य तव गृहचिन्ताशतस्य । हन्तारं नाशकम् कम् आश्रयसे ? कोऽपि ते गृहचिन्तानिवारको नास्तीत्यर्थः । दुरन्ता०—दुरन्तम् भयंकरम् आढ्यं धनिनं किम् ईप्ससि वाञ्छसि । हरिरूपं चिन्तामणिं श्रय ॥ ७ ॥

अरे जीव ! तुम संताप देनेवाले धन और संतान-परम्पराके लोभसे हिन्ताल-ताल आदि तीखे वृक्षोंसे व्याप्त सुदूर जंगलोंमें भटकते हो; परंतु तुमने अबतक अनन्त चिन्ताओंके नाश करनेवाले किसका आश्रय लिया ?

भय देनेवाले इन धनिकोंको क्यों चाहते हो ? अरे मित्र ! आओ, हरिरूप चिन्तामणिका आश्रय लो ॥ ७ ॥

आताम्रमञ्जुमणिवातायनस्थमनुयाता भवान् नरपतिं
धातापि यत्र नुतिधाता भवेत्तमनुयातास्म्यहं व्रजपतिम् ।
आतापहेतुरवपातादिकृद्यदि तु दाता तवास्ति नृपति-
र्भ्राता बलस्य परिपाता व्रजस्य मम दाता शिवस्य स भवेत् ॥

भवान्०—भवान् नरपतिम् अनुयाता (तृन्), तर्हि यत्र विधातापि स्तुतिस्थापकः ईदृशं व्रजपतिमहमनुयातास्मि अनुयास्यामि (लुट्) । अवपाता०—क्रोधे सति अधःपातादिं करोति । बलस्य बलभद्रस्य ॥ ८ ॥

अरे मन ! तुम यदि पद्मराग मणियोंसे जड़े हुए झरोखेमें बैठे नरपतिका आश्रय लोगे तो मैं उन व्रजपतिका आश्रय लूँगा, जिनकी विधाता भी स्तुति किया करते हैं । संताप देनेवाला तथा अधःपतनकी ओर ले जानेवाला राजा यदि तुम्हारा दाता है तो व्रजके त्राता एवं बलरामजीके भ्राता श्रीकृष्ण मेरे कल्याणके दाता हैं ॥ ८ ॥

छन्दातिवर्तिजननिन्दापरो ह्यहममन्दाभियोगनिरतः
क्रन्दामि नित्यमघवृन्दाधिपत्यमुपयन् दास्यदुःखितमनाः ।
नन्दालये ध्रुवमलिन्दान्तरस्थितमिलिन्दायितं जनहितं
विन्दामि नूनमरविन्दायताक्षमिह वृन्दावनेशमनिशम् ॥९॥

छन्दातिवर्तिनो निजाभिप्रायबहिर्भूतस्य जनस्य निन्दापरः अहम् असन्दे तीव्रे अभियोगे निरतः । अघ०—पापराशेः आधिपत्यं स्वामित्वं प्राप्नुवन् दासभावदुःखितः क्रन्दामि । अलिन्दा०—द्वारप्रकोष्ठकान्तरस्थितमिलिन्द (भ्रमर) सदृशम् ॥ ९ ॥

अपने मनके विपरीत आचरण करनेवाले लोगोंकी निन्दामें तत्पर मैं निरन्तर सांसारिक कार्योंमें लगा रहता हूँ, किंतु दासतासे दुखी एवं पापराशिकी ही सम्पत्ति बटोरता हुआ मैं सदा रोता रहता हूँ । अतः अब तो

मैं नन्दगृहके द्वारपर भौंरेकी तरह स्थित, जनताके हितकारक, कमलदल-लोचन वृन्दावनेश्वरका आश्रय लेता हूँ ॥ ९ ॥

(३९)

नारायणनर्कुटकम्

जय जलधिप्रसूतकमलामुखलालसदृक्
जय जलजाभिजात चरणानतभक्ततते ।
जय जडजङ्गमादिजननस्थितिसंहृतिकृत्
जय जनतापहारक जगन्महनीय हरे ॥ १ ॥

कमलामुखे लालसा साभिलाषा दृक् यस्य तत्सम्बुद्धौ । जलजवत् अभिजातौ सुन्दरौ यौ चरणौ तयोरानता भक्तततिर्यस्य ॥ १ ॥

क्षीरसागरसे उत्पन्न हुई लक्ष्मीके मुखकमलपर लालसापूर्ण दृष्टि रखनेवाले आपकी जय हो ! जिनके कमल-कोमल चरणोंको भक्तमण्डली प्रणाम किया करती है, ऐसे आपकी जय हो ! जड-चेतन सभीकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो ! मनुष्योंके तापोंको दूर करनेवाले जगत्पूजनीय श्रीहरि ! आपकी जय हो ॥ १ ॥

कति कति वा न घोरपुरुपातकिनो भवता
दयित दयावशेन भवसागरतो ह्यविताः ।
इममतिदीनमङ्ग मतिहीनतमं रहयन्
कथमु दधासि नाथ करुणावरुणालयताम् ॥ २ ॥

घोराः पुष्कलपातकयुक्ताः । अङ्ग सम्बोधने । अतिदीनम्, मति०—मत्या अत्यन्तं हीनम् इमं माम् रहयन् दूरे कुर्वन् ॥ २ ॥

प्रियतम ! दयाके वशीभूत होकर आपने कितने-कितने घोर एवं महान् पातकियोंको इस संसार-सागरसे नहीं उबारा ? किंतु इस अत्यन्त दीन, परम मतिहीनका त्याग करते हुए आप करुणावरुणालय (दयासागर) की पदवीका कैसे निर्वाह कर सकेंगे ? ॥ २ ॥

सततमलीकलोभलवमोहमरीचिकया
गुरुगहने भ्रमामि भववभीमवने विमनाः ।
प्रदिश दयावतार तव पादतलोपगते
दलदरुणाम्बुजाततरुणां करुणार्द्रदृशम् ॥ ३ ॥

अलीको यो लोभलवः तेन, मोहमरीचिकया च । अथवा लोभलवश्च मोहश्च तयोर्मृगतृष्णिकया, गुरौ गहने भवरूपे भीमे वने विमनाः सन् भ्रमामि । दलद०—दलत् विकसत् यत् अरुणम् अम्बुजातम् कमलम् तद्वत् तरुणां नवीनाम् तव करुणार्द्रां दृशं पादपतिते मयि प्रदिश देहि ॥ ३ ॥

झूठे लोभलेश और मायाकी मरीचिका (मृगतृष्णा) में पड़ा हुआ मैं इस अत्यन्त गहन भवाटवी (संसाररूपी जंगल) में दुखी होकर निरन्तर घूम रहा हूँ। हे दयावतार! चरणतलमें पड़े हुए इस दीनपर विकसित अरुण कमलके समान नवीन करुणापूर्ण दृष्टि डालिये ॥ ३ ॥

भ्रमिमुपगत्य भूरि भवभीमवने गहने
चिरमियमद्ययावदुपयातवती विपदम् ।
रतिमुपगच्छतान्मतिरशान्तिशताकुलिता
मम यमुनातटीतरुविहारपटीयसि सा ॥ ४ ॥

इयम् मम मतिः भवरूपे गहने भीमे (भयंकरे) वने भूरि भ्रमिम् भ्रमणम् उपगत्य अद्ययावत् (अद्यपर्यन्तम्) चिरं विपदम् नानाविध-जन्मादिविडम्बनाम् उपयातवती प्राप्तवती । अशान्तिशतेन आकुलिता सेयं मतिः यमुनातटवर्तिवनविहारपटुतमे श्रीकृष्णे रतिं लभताम् । खिन्नस्य वनविहारनिपुणे रतिलाभः समुचित एवेत्याशयः ॥ ४ ॥

इस गहन एवं भयंकर भवाटवीमें चिरकालसे आजतक चक्कर खाते रहकर मेरी यह बुद्धि घोर विपत्तिमें पड़ी हुई है। अब सैकड़ों प्रकारकी अशान्तियों-से व्याकुल यह मति शान्तिदायक यमुनातटपर वनविहार करनेवाले श्रीहरिके चरणोंमें प्रीति प्राप्त करे ॥ ४ ॥

पुरुपरितापतान्तजनतागुरुतापहृते
य इह ततान तारणधृतामवतारधुराम् ।
व्रजवनिताहिताय नवरासभृतां वरिता
भुवि भवतान्मदीयकवितास्ववितां स हरिः ॥ ५ ॥

पुरु (पुष्कल) परितापेन तान्ता खिन्ना या जनता तस्या गुरुपरितापस्य हृते हरणाय, भावे क्विप् । यः हरिः तारणाय लोकानामुद्धाराय धृताम् अवतारधुराम् अवताररूपं भारम् ततान दधारेति यावत् । रासभृतां रासविलासिनां वरिता वरः । हरिः मम कवितासु अविता सर्वविधरक्षायां जागरूको भूयादित्याशंसा ॥ ५ ॥

घोर परितापसे पीड़ित जनताके संतापको दूर करके उनका उद्धार करनेके लिये जिन्होंने पृथ्वीपर अवतारका भार स्वीकार किया है, व्रजवनिताओंके हितके कारण रासविलास करनेवालोंमें श्रेष्ठ, सर्वरक्षक वे श्रीहरि मेरी कवितामें विहार करें ॥ ५ ॥

किमु कुटिलाशयेषु वत फल्गुफलस्पृहया
सततमनादृतोऽपि परिधावसि धर्षितधीः ।
परिहर पङ्किले पथि पदोपगमप्रसरं
परिचर मञ्जुनाथ ! यदुनाथपदाम्बुरुहम् ॥ ६ ॥

निस्सारस्य फलस्य वाञ्छया अनादृतः अतएव धर्षितधीः कुण्ठीकृतबुद्धिः सकपटचित्तेषु किं धावसि ? पदोप०—पादक्षेपम् ॥ ६ ॥

अरे मञ्जुनाथ ! तुम निस्सार फलके लालचसे तिरस्कृत और कुण्ठितबुद्धि होकर भी कुटिलबुद्धि लोगोंके पीछे क्यों दौड़ते फिरते हो ? इस रपटीले मार्गमें पैर रखना अब छोड़ दो । अब तो तुम श्रीयदुनाथके चरण-कमलोंकी परिचर्या करो ॥ ६ ॥

मुनिमनसामगम्यगुणगीतिगतिर्नितरां
व्रजजनजीवनाय इयाय धरावलये ।
मनसि मनोरथप्रचिततापशताकुलिते
जलभृतनीलनीरदतनुः स हरिर्विहरेत् ॥ ७ ॥

मुनिमनसामपि अगम्या अबोध्या गुणा गीतयः यशांसि गतयः चिकीर्षामार्गाश्च यस्य । मनोर०—नानाभिलाषैः संचितं यत् तापशतं तेन आकुलिते । तापाकुलस्य सजलजलदविहारेण स्वाभाविकमेव सुख-मित्याशयः ॥ ७ ॥

जिनके गुण, यश और चालें मुनियोंके मनके लिये भी सर्वथा अगम्य हैं, वे ही प्रभु व्रजजनोंके जीवनके लिये इस भूमण्डलमें पधारे थे। विविध मनोरथोंकी विडम्बनासे संचित किये संतापसे व्याकुल इस मनमें सजलमेघके समान सुखद-सुन्दर-शरीर वे हरि विहार करें। (तापपीड़ितके लिये सजल मेघ स्वाभाविक ही सुखकारी होता है) ॥ ७ ॥

भुवमवगम्य भूरितरपापभराकुलिता-
मवितुमवातरद् य इह दीनदयाविवशः ।
निबिडनृशंसकंसमदहिंसन केलिधरो
मयि स कृपामपारभवपारकरः कुरुतात् ॥ ८ ॥

दीनेषु दयापरवशो यः अवितुं दीनान् रक्षितुम् अवातरत् । अपार-भव०—अपारस्य भवस्य पारे करोति स मयि कृपां कुरुतात् ॥ ८ ॥

भूमिको पापभारसे व्याकुल जानकर दीनोंके प्रति दयाके परवश हो जो उनकी रक्षा करनेके लिये यहाँ अवतार लेते हैं तथा जिनकी क्रीडा अति नृशंस कंसके मदको चूर्ण करनेवाली है, अपार भवसागरसे पार करनेवाले वे श्रीहरि मुझपर कृपा करें ॥ ८ ॥

[४०]

चतुष्पदीचयनम्

[मदनविजयः]

शिरसि बर्हिचन्द्रकचयशोभी । विलुलितकुन्तललोचनलोभी ॥
श्रवसि मिलन्मणिकुण्डलधारी । चिबुकचुम्बिहीरकरुचिहारी ॥

उरसि मालतीदामसुगन्धे । मिलन्मञ्जुगुञ्जाचयबन्धे ॥
सितदुकूलमावृतमहमूहे । नैशतुहिनमिव कुसुमसमूहे ॥
श्रोणिपिहितपीताम्बरशोभा । मनसि मुनेरपि विलुलितलोभा॥
पदनलिने मणिनूपुरनादी । स्मरमाह्वातुमिवानकवादी ॥३॥
शरदि पूर्णशशधररुचिशाली । प्रपदचुम्बिलम्बितवनमाली ॥
जयति हरिर्नवरासविहारी । मुदितमनोजगर्वपरिहारी ॥४॥

मदनमनोहारी हरिर्नवनटवरवेषेण ।
जयति कलानिधिमपि जयन्मुखसुषमालेशेन ॥ ५ ॥

चन्द्रकचयः पिच्छाग्रभागसमूहः । विलुलितैः कुन्तलैर्लोचने लोभयति तच्छीलः । हीरकरुच्या (कान्त्या) मनोहारी ॥ १ ॥ गुञ्जाचयस्य बन्धो यस्मिन् उरसि । उरसि आवृतं दुकूलं कुसुमसमूहे नैशम् निशासम्बन्धि तुहिनं नीहारमिव अहम् ऊहे उत्प्रेक्षे ॥ २ ॥ श्रोणौ कट्याम् । विलुलित (कृत) लोभा । निजप्रभावं दर्शयितुं मदनम् अह्वातुं आनकं दुन्दुभिं वादयति तच्छीलः, नुपूरनादो नास्ति मदनाह्वानाय दुन्दुभिघोषः सोऽयमित्याशयः ॥ ३ ॥ प्रपदं पादाग्रभागः ॥ ४ ॥

श्रीमस्तकपर मयूरपिच्छोंकी शोभा है, घुँघराली अलकोंको देखकर आँखें लुभा जाती हैं । कानोंमें मणिजटित कुण्डल और ठोढ़ीपर हीरेकी कान्तिसे अद्भुत शोभा है ॥ १ ॥ सुन्दर गुञ्जामालासे सुशोभित वक्षःस्थलपर चमेलीके हारोंकी सुगन्ध है । उसपर अत्यन्त ही पतला सफेद दुपट्टा ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रातःकाल पुष्पोंपर ओस छायी हो ॥ २ ॥ कटिमें मनोहर पीताम्बरकी शोभा मुनियोंके मनको भी लोभित करती है । चरणकमलोंमें मणिजटित मनोहर नूपुरोंकी ध्वनि हो रही है मानो कामदेवको मैदानमें बुलानेके लिये नगारा बजाया जा रहा हो ॥ ३ ॥ शरदृतुमें पूर्ण चन्द्रमाकी-सी कान्तिवाले श्रीहरि पूर्ण चन्द्रमाकी चाँदनीमें विराज रहे हैं । उनके चरणोंके अग्रभागको चुम्बन करती हुई वनमाला लटक रही

है। यों रासविहारके * लिये संनद्ध श्रीहरि मनमें मुदित कामदेवके गर्वको दूर करनेवाले हैं ॥ ४ ॥ ऐसे युद्धनाट्यके लिये नटवरका वेष धारण किये और उसके द्वारा कामके भी मनको हरण करनेवाले तथा मुख-शोभाके लेशमात्रसे चन्द्रमाका भी पराजय करते हुए श्रीहरिकी जय हो ॥ ५ ॥

सुरभिकुसुमशेखरपरिराजी । कर्णकलितकुण्डलविभ्राजी ॥
कनककलितकेयूरविभासी । मध्यमिलितमाणिक्यचकासी ॥
मधुरमुखो मणिकुण्डलभासा । नवमणिना विभ्राजति नासा ॥
कम्बुकण्ठराजन्मणिदामा । वदनविजितशारदशशिधामा ॥ ७ ॥
कनकवलयशोभिनि मणिबन्धे । रत्नविभा नयनानि निरुन्धे ॥
पीतपटे मणिरशना रम्या । सांध्यनभसि तारालिरदम्या ॥
जङ्घायुगलमुदञ्चति ललितम् । नूनमलिन्द्यनीलमणिकलितम् ॥
युवतिमनोहररूपविभासी । राजति मुररिपुरतुलविलासी ॥
मधुरमण्डनेनामुना यमुनापुलिनमुपेत्य ।
वेणुं ध्वनयन् सस्मितं जयति हरिर्मुदमेत्य ॥ १० ॥

---

* रहस्यको नहीं समझनेवाले रासविहारपर कई प्रकारकी शङ्काएँ किया करते हैं। किंतु रहस्य यह है कि चन्द्रमाकी चाँदनीमें अद्भुत शोभायुक्त यमुना-पुलिनपर पूर्ण शृङ्गार किये अनेक तरुणी व्रजसुन्दरियोंके बीच अकेले श्रीकृष्णको पाकर कामदेवको अपने प्रभावपर अभिमान होता है। आप इसे समझ जाते हैं और मन्मथको शिक्षा देनेके लिये उसका गर्वगञ्जन करते हैं। किंतु ऐसा करनेके पूर्व अपना हौसला पूरा करनेके लिये कामदेवको अपनी सेना आदि सामग्री जुटानेका आप पूरा अवसर देते हैं। हजारों व्रजसुन्दरियाँ भावके उद्रेकमें श्रीहरिको घेर लेती हैं। कामयुद्धकी बिगुल वंशी बजती है। एक-एकका हाथ पकड़कर रास-विलास आरम्भ होता है। कामदेव और साथ ही उसकी सेना (व्रजसुन्दियों) को भी अभिमान हो जाता है। उसी समय उसे खर्व करते हुए आप 'अन्तर्हित' हो जाते हैं। बस, स्थान-स्थानपर मदनविजयकी यही सूचना 'श्रीमद्भागवत'के आधारपर दी गयी है।

शेखरेण शिरोभूषणेन राजति तच्छीलः । केयूराभ्यां भुजभूषणाभ्यां विभासते । मध्ये केयूरयोर्मध्ये जटितं यन्माणिक्यं तेन चकास्ति ॥ ६ ॥ कुण्डलयोर्भासा कान्त्या । कम्बुसदृशे कण्ठे राजत् मणिदाम रत्नस्रक् यस्य । धाम तेजः ॥ ७ ॥ मणिबन्धे प्रकोष्ठे । निरुन्धे चाकचक्यमुत्पादयति । तारालिः तारकपङ्क्तिः, पीतपटे मणिकाञ्ची सांध्यगगने पीततया तारकपङ्क्तिरिवेत्याशयः ॥ ८ ॥ नीलं जङ्घायुगं नूनं (मन्ये) नीलमणिनिर्मितमित्यर्थः ॥ ९ ॥ अमुना सुभगवेषेण (उपलक्षितः) । मुदं हर्षम् एत्य प्राप्य वेणुं वादयन् ॥ १० ॥

मस्तकपर सुगन्धित पुष्पोंका सेहरा शोभित है तथा कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं । भुजाओंमें सोनेके बाजूवंद हैं, जिनके मध्यमें जड़ा हुआ अमोल मानिक जगमगा रहा है ॥ ६ ॥ मणिमय कुण्डलोंकी चमक सुन्दर मुखपर पड़ रही है तथा नवीन मणिसे नासिका चमक रही है । शङ्खके समान सुडौल ग्रीवासे मणिके हारोंकी शोभा हो रही है । (साधारण कण्ठदेश मणिहारोंसे सुशोभित होते हैं, किंतु भगवान्‌के कण्ठप्रान्तमें रहनेसे मणिहार स्वयं शोभित हो रहे हैं—यह विशेषता व्यङ्ग्य है ।) मुखशोभाके द्वारा यह शरत्कालिक चन्द्रमा भी जीत लिया गया है ॥ ७ ॥ सोनेके कड़ोंसे शोभित कलाईमें रत्नोंकी कान्ति आँखोंको चौंधिया देती है । पीताम्बरपर मणियोंकी सुरम्य करधनी ऐसी फब रही है मानो संध्याके पीले आकाशमें नक्षत्रावलि (तारोंकी पंक्ति) छिटक रही हो ॥ ८ ॥ सुडौल पिंडलियाँ ऐसी भली लगती हैं मानो नीलमणिकी बनी हों । यों रमणियोंका मन हरण करनेवाले रूप एवं विलासोंसे युक्त मुरारि सुशोभित हैं ॥ ९ ॥ पूर्वोक्त मधुर वेषसे यमुनापुलिनपर आकर प्रसन्नताके साथ वंशी बजाते हुए भगवान् श्रीहरिकी विजय हो । (आगे होनेवाले युद्धमें 'विजय' शब्दसे मङ्गल-सूचना दी गयी है) ॥ १० ॥

मुरलीस्वरलहरी प्रचरन्ती । युवतिनिकेतमगान्मदयन्ती ॥
श्रवसि जगौ प्रियतमसंदेशम् । जनयन्ती हृदि मदनावेशम् ॥

गृहकार्याणि विमुच्य सहेलम् । ययुर्गोपिका हरिमनुवेलम् ॥
अपदविहितभूषणविन्यासा । सरभसमचलद्युवतिसभा सा ॥
श्रोणितटे दधती मणिहारम् । उरसि दधौ काञ्चीमविचारम् ॥
भुजयोः कापि नूपुरे निदधौ । पदयुगले केयूरे विदधौ ॥
काचिदुत्तरीयं परिदधती । शिरसि शाटिकां निदधौ युवती॥
एवं प्रणयसम्भ्रमाधीना । युवतिमण्डली हरिमनु लीना ॥

पप्रच्छागमहेतुममृतगिरा रमयन् हरिः ।
ता विहारमभ्येतुमैच्छन् हृच्छयमोहिताः ॥ १५ ॥

प्रचरन्ती गगने भ्राम्यन्ती । निकेतं निवासम् । मदयन्ती गोपिका मत्ताः कुर्वती ॥ ११ ॥ अनुवेलम् शीघ्रमिति यावत् । अपदे अस्थाने विहितो भूषणविन्यासो यया । युवतीनां सभा मण्डली ॥ १२ ॥ अविचारम् अविचार्यैवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ उत्तरीयमुपरिवस्त्रम्, परिदधती शाटिकास्थाने धारयन्ती । हरिमनु हरिसमीपे, लीना प्राप्तेत्यर्थः ॥ १४ ॥ अमृतगिरा अमृतमधुरया वाण्या, रमयन् प्रीणयन् । हृच्छयमोहिताः मदनवशीकृताः ताः गोप्यः विहारं रतिक्रीडाम् अभ्येतुं प्राप्तुमैच्छन् रासविलासमर्थितवत्य इत्यर्थः ॥ १५ ॥

आकाशमें चक्कर काटती हुई मुरलीकी वह मादक स्वरलहरी गोपियोंके निवासमें पहुँची। उसने उनके कानमें प्रियतमका संदेश कह दिया, जिससे हृदयमें मदन (प्रेम)का आवेश हो गया ॥ ११ ॥ बेपरवाहीसे घरके कामोंको छोड़कर गोपिकाएँ श्रीहरिकी ओर तुरंत चल पड़ीं। वह युवतियोंकी मण्डली बड़ी हड़बड़ाहटसे चली, यहाँतक कि वस्त्र और आभूषण उन्होंने उलटे-पुलटे पहन लिये ॥ १२ ॥ कमरमें मणियोंका हार धारण कर लिया और वक्षःस्थलपर बिना विचारे करधनी डाल ली। बाजूबंदकी जगह नूपुर पहन लिये और दोनों चरणोंमें बाजूबंद धारण कर लिये ॥ १३ ॥ किसीने चादरको साड़ीकी जगह पहन लिया और सिरपर साड़ीको ओढ़ लिया। इस तरह प्रेमजनित हड़बड़ाहटके वशीभूत हुई

गोपीमण्डली श्रीहरिके पास पहुँची ॥ १४ ॥ अमृतसदृश वाणीसे सबको प्रसन्न करते हुए श्रीहरिने उन लोगोंके वहाँ आनेका कारण पूछा। मदनावेशके वशीभूत हुई उन्होंने यही इच्छा प्रकट की कि 'आपके निकट हमको क्रीड़ाका अवसर मिले' ॥ १५ ॥

प्रणयमहेतुमयन् वनमाली । तोषमियेष वेणुरवशाली ॥
राकापतिरम्बरमधिभेजे । अमृतमयैः किरणैः परिरेजे ॥
विमलपुलिनमतुलां द्युतिमागात् । चन्द्रचूर्णचयरचितमिवाभात् ॥
विकचकुमुदिनी निर्भरगन्धी । ववौ मारुतो मानसबन्धी ॥
मधुरमालतीसुरभिसमीपे । युवतिमनसि मदनोऽनुदिदीपे ॥
तास्त्रिलोकसुन्दरधृतकामाः । हरिसमीपमीयुर्व्रजवामाः ॥
वशीकारिविभ्रमशतशाली । रमणमोदमाधाद् वनमाली ॥
मनसि मनोजभावसंरब्धा । प्रतिवनिता दयिताय विलुब्धा ॥
हरिरतुलां रतिमात्मगां रमणीनामनुमाय ।
महिलामण्डलमध्यगो रमणविनोदमियाय ॥ २० ॥

अहेतुम् अकारणं स्वाभाविकमित्याशयः । तासां प्रणयम् अयन् जानन् । तोषम् इयेष तासां गोपीनां प्रसन्नतामवाञ्छत् । राकापतिः पूर्णिमाचन्द्रः आकाशमधिरुरोह ॥ १६ ॥ चमत्कुर्वद्रेणुकणशालि पुलिनम् असंख्यचन्द्राणां चूर्णचयेन क्षोदराशिना निर्मितमिव अभात् भाति स्म ॥ १७॥ मालतीसुरभेः घ्राणतर्पणगन्धस्य समीपे मालतीसौरभमाघ्रायेत्यर्थः । त्रिलोकसुन्दरे हरौ धृतः कामोऽभिलाषो याभिः ॥ १८ ॥ रमणमोदं रमणं कृत्वा प्रमोदम् आधात् चकार। मनोजभावेन कामविकारेण संरब्धा संरम्भशालिनी प्रत्येकवनिता दयितार्थं विलुब्धा उत्कण्ठिता ॥ १९ ॥ रमणीनां आत्म(स्व) गतां प्रीतिं ज्ञात्वा। रमणविनोदम् इयाय चक्रे इत्याशयः॥२०॥

श्रीहरिने उनकी अहैतुक (स्वाभाविक) प्रीति जानकर उनको प्रसन्न करनेकी इच्छा की। उसी समय पूर्णिमाका चन्द्रमा आकाशमें आ गया, अमृतमय किरणोंसे उसकी अद्भुत शोभा थी ॥ १६ ॥ चाँदनीमें

उस निर्मल यमुनापुलिनकी भी अनुपम छटा थी; ऐसा लगता था मानो वह कपूरके चूर्णसे बनाया गया हो। मनको वशीभूत करनेवाला मन्द पवन चलने लगा, जिसमें खिली हुई कुमुदिनी (रात्रिमें खिलनेवाली कमलिनी) का गन्ध भरा हुआ था ॥ १७ ॥ व्रजयुवतियोंके मनमें मधुर मालतीकी सुगन्धके साथ-साथ मदन (प्रेम) ने अपना प्रभाव फैलाया। त्रैलोक्यसुन्दर श्रीहरिमें जिन्होंने अपनी अभिलाषा केन्द्रित कर दी थी, वे व्रजबालाएँ श्रीहरिके समीप आयीं ॥ १८ ॥ रमणियोंको वशमें करनेवाले अनेक हाव-भावोंसे मनोहर वनमालीने उनके मनमें रमणका आनन्द संचारित किया। मनमें काम (प्रेम)-प्रभावसे विकृत हुई प्रत्येक नारी प्रियतम (श्रीहरि) के लिये उत्कण्ठित हो गयी ॥ १९ ॥ श्रीहरिने देखा कि प्रत्येक रमणीकी प्रीति उन्हींमें केन्द्रित है; अतएव उस महिलामण्डलके मध्यमें आकर उन्होंने उनके साथ रमणकी लीला की ॥ २० ॥

त्रिभुवनमोहनमहिमानयने । मानसमोदमदिशतां नयने ॥
रतिविलासकामालसलीला । मदयामास मोदमदशीला ॥
नाभिनितम्बनीविपरिधर्षी । रमयामास रमणिगणहर्षी ॥
भुजपरिरम्भनर्मपरिहासा । रसिकसभा रेमे सविलासा ॥
अधरकपोलनाभिकुचदेशे । स्पृशन् मोहयति मदनावेशे ॥
एवं युवतिघटा रममाणा । प्रबभौ प्रियसङ्गाद् धृतमाना ॥
मनसि मनसिजः स्वं बहु मेने । हरिरिह हसन् खर्वमातेने ॥
महिलानां शमयन्नभिमानम् । स्वीचकार हरिरन्तर्धानम् ॥
सहसा हरिमन्तर्हितं वीक्ष्य रमणविरहेण ।
विकला व्रजवनिता वनेऽन्वैष्यन् प्रियमचिरेण ॥ २५ ॥

त्रिभुवनमोहकं महिमानम् आनयतः, त्रिभुवनवशीकरणप्रभावसम्पन्ने इत्यर्थः। रतिविलासेन या कामालसा (कामालसानां वा) लीला। मोदः मदः (मत्तता) च शीलं स्वभावो यस्याः सा ॥ २१ ॥ परिधर्षी परिमर्दकः। भुजपरिरम्भः नर्मणा परिहासश्च यस्याः सा। रसिकानां

गोप्यादीनां सभा मण्डली ॥ २२ ॥ प्रियस्य (श्रीकृष्णस्य) सङ्गाद् धारिताभिमाना ॥ २३ ॥ स्वम् आत्मानम् बहु मेने, मया हरिं रमणीनां विलासवशंवदं कृत्वा विजयो लब्धः इति गर्वं चकारेत्यर्थः । हसन् हरिः तं कामम् खर्वं विनतम् आतेने चकार । (अतएव) श्रीकृष्णं निजवशगं मन्वानानां महिलानां गर्वं परिहरन् ॥ २४ ॥ रमणस्य (प्रेष्ठस्य) विरहेण विकलाः अन्वैष्यन् अन्विष्यन्ति स्म ॥ २५ ॥

त्रिभुवनको मोहित करनेवाली अलौकिक महिमासे युक्त दोनों नेत्रोंने गोपियोंके मनमें एक अलौकिक हर्ष उत्पन्न किया। गोपियोंपर अनुग्रह करनेके लिये आपने प्रेमके हाव-भाव दिखाकर कामसे शिथिल हुए पुरुषों-की लीला दिखायी, जिससे सब गोपियोंके अंदर आनन्दके साथ-साथ मस्ती भी आ गयी ॥ २१ ॥ अब आपने उस रमणीसमूहको हर्षित करते हुए उस रासनृत्यमें उनकी नाभि, नितम्बों एवं कटि-प्रदेशका स्पर्श करके उनको प्रेममत्त कर दिया। अब दोनों ओरसे आलिङ्गन, हँसी-मजाक और नाना विलास चलने लगे, जिससे वह रासमण्डली प्रसन्न हो गयी॥२२॥ कभी रास करते हुए आप गोपियोंके अधर, कपोल, नाभि और स्तनोंका स्पर्श कर लेते, जिससे मदनावेशमें बेबस हुई वे एकदम मोहित हो जातीं। इस तरह क्रीड़ा करते-करते गोपीमण्डलीके मनमें अभिमान हुआ कि प्रियतम हमारे वशमें हैं ॥ २३ ॥ इधर कामने भी अपने मनमें बड़ा गर्व किया कि 'अब क्या है, मेरे प्रभावसे श्रीहरि पूरे-के-पूरे मेरे वशमें हैं'। भगवान् यह समझकर मनमें हँसे और कामके गर्वको दूर करनेका विचार किया। इधर नारियोंका अभिमान भी दूर करना था। अतएव आप अचानक अन्तर्हित—देखते-देखते अलक्षित हो गये ॥ २४ ॥ श्रीहरिको सहसा अन्तर्हित देखकर प्रियविरहसे व्याकुल हुईं वे व्रजवनिताएँ सहसा उस वनमें प्रियतमको खोजने लगीं ॥ २५ ॥

वञ्जुलविपिनवीथिवनकुञ्जे । वापीविटपिवाटिकापुञ्जे ॥
वंशगुल्मवानीरनिकाये । विविधवल्लिवीरुत्समुदाये ॥२६॥

विचरन्त्यो व्रजवनिताः कामम् । प्रियं व्यचैषुरनिशमभिरामम् ॥
कुटजकुन्दकुरुविन्दमगच्छन् । निचुलनीपनीवारमपृच्छन् ॥
एवं हरिपरिदर्शनकामा । युवतिराजिरभ्रमदविरामा ॥
हृदयदयितमनवाप्य विपण्णा । यमुनारोधसि निभृतनिषण्णा ॥
व्रजवामाततिरन्तरधामा । हरिचरितान्यनुचक्रे क्षामा ॥
अन्ते दीपितदारुणविरहा । सुस्वरमरुदन्निर्भरमसहा ॥
स्वगतहृदयतां योषितां विह्वलतां विरहेण ।
तासां वीक्ष्य हरिर्हसन्नाविरभूदचिरेण ॥ ३० ॥

वञ्जुलविपिनम् अशोकवनम् । वनकुञ्जे इत्यादि समाहारे क्लीबमेकवचनं च । वानीरनिकाये वेतसपुञ्जे । वीरुत् प्रतानिनी (दीर्घविस्तारयुक्ता) लता ॥ २६ ॥ व्यचैषुः अन्वैषयन् । कुटजकुन्देत्यादिद्वन्द्वयोः 'विभाषा वृक्षमृग०' इत्यादिना एकवद्भावः ॥ २७ ॥ अविरामा नास्ति विश्रामो यस्याः ईदृशी अभ्रमत् । निभृते एकान्ते स्थिता ॥ २८ ॥ अन्तरे हृदयाभ्यन्तरे धाम हरेर्निवासो यस्याः । क्षामा विरहकृशा । हरिचरितानि अनुचक्रे एका गोपी कृष्णभूमिकामधारयत् अन्या पूतना समवर्तिष्टेत्यादिलीला अनुचक्रुरित्यर्थः । निर्भरम् अत्यन्तं असहा विरहासहिष्णुः ॥ २९ ॥ योषितां व्रजस्त्रीणां स्वगतहृदयतां हरिसमर्पितचित्तताम् ॥ ३० ॥

अशोकवन, वृक्षोंकी पङ्क्तियोंसे घिरे हुए मार्ग, उपवन, लताकुञ्ज, बावली, बड़े गहन वृक्ष, छोटी वाटिकाएँ—और तो क्या, बाँसोंके झुरमुट, बेंतोंके झुंड तथा विविध लता-वल्लरियोंतकमें घुसकर प्रियतमकी उन्होंने खोज की ॥ २६ ॥ भला, त्रैलोक्यसुन्दरके बिना उन्हें चैन कहाँ । अब वे कुटज, कुन्द आदि वृक्षोंके पास पहुँचीं तथा बेंत, कदम्ब आदिसे प्रश्न करने लगीं ॥ २७ ॥ इस प्रकार हरिदर्शनके लिये छटपटाती वह युवती-मण्डली बिना विश्राम किये यों बराबर घूमने लगी (घूमते-घूमते थक गयी) । अपने प्राणप्रियको न पाकर एकदम उदास हुई वह मण्डली यमुनातीरपर चुपचाप बैठ गयी ॥ २८ ॥ श्रीहरि जिसके हृदयमें घर कर चुके थे, थोड़े

ही कालमें वर्षोंके विरहकी तरह दुर्बल हुई वह गोपीमण्डली भगवान्के चरित्रोंका अभिनय करने लगी। उदाहरणके लिये एक गोपी पूतना बन जाती है और दूसरी हरि बन जाती है और पूतनाका उद्धार करती है, तब लाचार होकर वह गोपीमण्डली जोरसे रो पड़ती है॥ २९॥ (बस, भगवान् तो अपने भक्तोंकी सच्ची प्रीतिको परखा करते हैं।) जब आपने देखा कि गोपियोंने अपना हृदय मुझे समर्पण कर दिया है और विरहसे वे एकदम विह्वल हैं, तब (जहाँसे आप छिपे थे, वहीं गोपियोंकी मण्डलीके बीचोबीच) हँसते हुए अचानक प्रकट हो गये॥ ३०॥

हृदयदयितमागतमवपश्यन् । गोपीराशिरुदस्थाद्धृष्यन् ॥
कापि हरेर्भुजमंसे निदधौ । कापि तदङ्घ्रिमुरोजे विदधौ ॥
दृक्पथतो हरिमन्तर्दधती । कापि पुलकिताप्रीयत सुदती ॥
सत्यं प्रणयमेवमनुरुन्धन् । मदनदर्पशममेवं विन्दन् ॥३२॥
प्रीतो हरिरारेभे रासम् । अन्योन्याहतबाहुविलासम् ॥
गोपीयुगमध्ये हरिरासीत् । हरियुगले गोपी समभासीत् ॥
गोपीकरमादाद् गिरिधारी । गिरिधरकरमवहद् व्रजनारी ॥
एवं व्रजपतिगोपीमाला । पुलिनेऽस्मिन् विजहार विशाला ॥
अनुपमशोभावैभवं रमणीरासविलासि ।
व्रजजनताजीवननिधेर्जयति जगत् त्रयभासि ॥ ३५ ॥

हृष्यन् हृष्टः सन् उदस्थात् उदतिष्ठत्॥ ३१॥ दृक्पथतो हरिम् अन्तः दधती नयनयोर्मार्गेण हृदयाभ्यन्तरे हरिं स्थापयन्ती कापि सुदती अप्रीयत। एवं प्रणयम् अनुरुन्धन् प्रणयस्यानुरोधं रक्षन्। मदनस्य गर्वशमनम् एवं प्राप्नुवन् मदनविजयमेवं कुर्वन्नित्याशयः॥ ३२॥ आहतो बाहुविलासो यस्मिन्, अन्योन्याबद्धभुजमित्यर्थः। समभासीत् सम् अभासीत् अशोभत॥ ३३॥ व्रजजनजीवनधनस्य हरे रमणीनां रासे विलसति तच्छीलं अनुपमं शोभावैभवं जयतीति समाप्तिमङ्गलम्॥ ३५॥

अपने हृदयवल्लभ (प्राणप्यारे) को आया हुआ देखते ही वह गोपीमण्डली प्रसन्न होकर उठ खड़ी हुई। किसीने श्रीहरिकी भुजाको

अपने कंधेपर रख लिया, किसीने उनके चरणको अपने हृदयपर रख लिया ॥३१॥ नेत्रमार्गसे श्रीहरिको अपने अन्तःकरणमें धारण करती हुई कोई सुन्दरी अत्यन्त प्रसन्न होकर रोमाञ्चित हो गयी। यों सच्चे प्रेमका अनुरोध रखते और कामदेवके गर्वको भी शान्त करते हुए श्रीहरिने प्रसन्न होकर रासका आरम्भ किया, जिसमें श्रीहरि और गोपियोंने एक दूसरेका हाथ पकड़ लिया। दो गोपियोंके बीचमें एक हरि थे और दो हरिमूर्तियोंके बीच एक गोपी शोभित हो रही थी। गोपीका हाथ भगवान्ने पकड़ रखा था और श्रीहरिका हाथ गोपीने पकड़ रखा था। यों (भगवान्की दिव्य महिमासे) व्रजपति और गोपियोंकी वह विशाल माला उस यमुना-पुलिनमें विहार करने लगी ॥ ३२–३४ ॥ व्रजजनोंके जीवननिधि भगवान् श्रीकृष्णका गोपरमणियोंके साथ रासविलासका यह निरुपम शोभा-वैभव, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है, सब प्रकार विजयशाली है ॥ ३५ ॥

---

[४१]

'कुण्डलिया'-खण्डः

वाणीगुणमिममर्थये येन यदुपतिं स्तौमि।
चरणनलिनसेवापरो हेवाकादभिनौमि ॥
हेवाकादभिनौमि सर्वतः सुकृतमुदयते।
व्रजपतिलीलाशीलनेन लोको मुदमयते ॥
एतदेव याचामि देव विनिबध्नन् पाणी।
भवच्चरणगुणवर्णनेन रमतां मम वाणी ॥ १ ॥

वाण्या गुणम् इममेव अर्थये प्रार्थये यद्द्वारा भगवन्तं स्तौमि। हेवाकात् अभिलाषातिशयात्। व्रजप०—व्रजनायकस्य श्रीकृष्णस्य लीलानां परिशीलनेन पुनःपुनर्गानेन श्रवणेन च प्रेमिजनो मोदम् अयते प्राप्नोति। पाणी विनिबध्नन् प्रार्थनाञ्जलिं कुर्वन् ॥ १ ॥

वाणीका मैं यही गुण चाहता हूँ, जिस गुणके द्वारा मैं भगवान्की

स्तुति कर सकूँ। साथ ही उनके चरण-कमलोंकी सेवा करता हुआ चावसे उनकी वन्दना करूँ, जिससे सब ओर (क्या यहाँ और क्या परलोकमें) कल्याणका उदय होता है। (मैं जानता हूँ कि) व्रजनायक भगवान्‌की लीलाओंका आस्वादन करनेसे भक्तलोग प्रसन्न होते हैं। इसीलिये हे भगवन्! मैं हाथ जोड़कर आपसे यही माँगता हूँ कि आपके चरणोंके गुणगानसे ही मेरी वाणी आनन्दित हो ॥ १ ॥

मधुसूदनपदपङ्कजे रज्यच्चिन्मधुपस्य।
देवा अपि सेवां दधति भूरिभाग्यविभवस्य॥
भूरिभाग्यविभवस्य यस्य हरिनामसनाथा।
रसना रसनालीव सदा प्रवहद्गुणगाथा॥
चरणकमलपतितोऽस्मि पश्य हे कंसनिषूदन।
तदिह देहि तव सदयदृशं मय्यपि मधुसूदन॥ २॥

रज्यच्चि०—अनुरज्यन् चेतनारूपो मधुकरो यस्य तादृशस्य बहु-भाग्यवैभवस्य पुरुषस्य देवा अपि सेवां कुर्वन्ति। रसस्य आस्वाद्यस्य आनन्दस्य नालिकेव सर्वदा प्रवहन्ती भगवतो गुणगाथा यस्याम् हरिनाम-सनाथायाम् आनन्दस्य नालिकायामिव यस्यां जिह्वायां भगवतो गुणसंकथा सर्वदा प्रवहति इत्याशयः। इह एतस्मिन् मयि अपि यथा पूर्वचरणे कथितं माहात्म्यमाविर्भवति तथा सदयां दृष्टिं देहि॥ २॥

भगवान् मधुसूदनके चरणरूपी कमलमें जिसका चित्तरूपी भौंरा अनुरक्त हो गया है तथा रसकी नालीके समान जिस बड़भागीकी हरिनामसे युक्त रसनामें श्रीहरिके गुणोंकी गाथारूप अमृत सदा बहता रहता है, उस बड़भागीकी देवता भी सेवा करते हैं। हे कंसको पछाड़नेवाले! देखिये, मैं आपके चरणकमलोंमें पड़ा हूँ; इसलिये इस दीनपर भी हे मधुसूदन! दयापूर्ण दृष्टि डालिये॥ २॥

गोवर्द्धनधारी सकलसुरसुखकारी भाति।
यः किल रासक्रीडया रवितनयामनुयाति॥

रवितनयामनुयाति कोटिकामद्युतिशाली ।
व्रजवनिताह्वानाय रणद्वेणुर्वनमाली ॥
भक्तभीतिहरणाय सदा व्रजविपिनविहारी ।
कर्णे कलयतु दीनगिरं गोवर्द्धनधारी ॥ ३ ॥

रासक्रीडायाः हेतुना यमुनामनुगच्छति । आह्वानाय रणन् शब्दं कुर्वन् वेणुः वंशीवाद्यम् यस्य सः । दीनानां दीनां वा गिरम् वाणीम् कर्णे करोतु शृणोतु इत्यर्थः ॥ ३ ॥

समस्त देवताओंको (आपत्तियोंसे बचाकर) सब तरहका सुख देनेवाले श्रीगोवर्धनधारी विराजित हैं । जो रासक्रीड़ाके कारण श्रीयमुनाके तटपर जाते हैं, कोटि-कोटि कामदेवोंकी-सी कान्तिवाले जो वनमाली व्रज-वनिताओंको बुलानेके हेतु वेणु वजाते हैं, भक्तोंका भय हरनेके लिये जिन्होंने व्रज तथा उसके वनोंमें विहार किया, वे गोवर्धनधारी हमारी दीनवाणीपर कान दें ॥ ३ ॥

कालिन्दीपुलिने पथिक ! तरुणतमालमुपेहि ।
शिरसि यस्य बर्हीं लसति, तदनु शुकं दृशि देहि ॥
तदनु शुकं दृशि देहि, कपोतस्तदधो राजति ।
कुसुमराशिरस्यान्तिके हि सुभृशं विभ्राजति ॥
विद्युद् द्युतिमुपयाति हंसमुखरे नवनलिने ।
मञ्जुनाथ नय मानसं नु कालिन्दीपुलिने ॥ ४ ॥

तरुणतमालम् अर्थात् श्रीकृष्णम् शरणं गच्छ । बर्हीं बर्हिपक्षयुक्तं मुकुटम् । दृशि दृष्टौ शुकं देहि, नासिकां पश्य । तस्य अधः, कपोतः कपोत-सदृशसंस्थानः कण्ठः । अस्य कण्ठस्य समीपे कुसुमराशिः कुसुमगुम्फिता वनमाला । हंसाभ्यां मुखरे शब्दायमाने नवनलिने हीरकनिर्मिताभ्यां हंसकाभ्यां चरणवलयाभ्यां सशब्दे कमलसदृशे चरणयुगले । विद्युत् विद्युत्सदृशः पीतपटः कान्तिं याति । अतएव एतादृक्शोभादर्शनाय मानसं यमुनातटे नय ॥ रूपकातिशयोक्तिः ॥ ४ ॥

हे पथिक ! यमुनातटपर एक तरुण तमाल (श्रीकृष्ण) का आश्रय लीजिये, जिसके सिरपर मोर (मोर-मुकुट) का निवास है। उसके नीचे एक शुक (शुकचञ्चु-सदृश नासिका) को दृष्टिमें लाइये। उसके नीचे कपोत (कपोत-सदृश कण्ठ) की शोभा है। उसके (कण्ठके) निकट ही कुसुमसमूह (वैजयन्ती माला) की अलौकिक शोभा है। हंसोंसे (हंस-सदृश हीरेके नूपुरोंसे) शब्दायमान दो कमलों (चरणों) पर बिजलीकी कान्ति (चरणोंतक छिटका हुआ बिजलीके-से वर्णवाला पीताम्बर) शोभित है। हे मञ्जुनाथ ! कालिन्दी-पुलिनपर इस मनको ले चलो। (शिखासे चरणपर्यन्त वर्णन, अतिशयोक्ति अलंकार) ॥ ४ ॥

जय जलभृतनवनीरधर सुन्दर नन्दकुमार।
कालिन्दीतटनिकटभुवि विरचितरासविहार ॥
विरचितरासविहार मारसुषमामदहारक।
व्रजवनिताशतमोहनाय नानातनुधारक ॥
चपलाशतपरिवृतश्यामघनशतशोभामय ।
वृन्दावनवसुधाविनोदिलीलाधर जय जय ॥ ५ ॥

जलेन भृतः पूर्णः नीरधरः मेघः। मारः कामदेवः। अनन्तगोपिकानां मोहनाय स्वयमप्यनेकमूर्तिधारक। अतएव प्रत्येकगोप्याः सविधे एकैकः कृष्णः। नानामूर्तिधारणेन विद्युच्छतपरिवृतं यत् श्यामघनानां शतं तच्छोभामय। विनोदिनी या लीला ॥ ५ ॥

जलसे भरे नवीन मेघकी तरह सुन्दर नन्दकुमार ! आपकी जय हो। आपने यमुनातटके निकट रासविहार किया था। आप रासविहार करके कामदेवकी शोभाके गर्वको दूर करनेवाले हैं। व्रजवनितासमूहको मोहित करनेके लिये ही आप रासमें अनेक रूप ग्रहण करते हैं। उस समय आप सैकड़ों बिजलियोंद्वारा आलिङ्गित सैकड़ों श्याममेघोंकी शोभाको धारण करते हैं। वृन्दावनकी भूमिके लिये प्रमोदजनक लीलाको स्वीकार करनेवाले श्रीहरि ! आपकी जय हो ॥ ५ ॥

व्रजनायकनयनाञ्चलं न्यञ्चति चेद् विभवेन ।
भूरिभयानकभवविपद् विलयमुपैति पलेन ॥
विलयमुपैति पलेन रश्मिरोधकघनतिमिरम् ।
भाग्यभानुरभिभाति याति शोकानां शिबिरम् ॥
दुष्टदैत्यदलदलन देवगणमङ्गलदायक ।
कोटिकोटिकन्दर्परुचिर जय जय व्रजनायक ॥ ६ ॥

भाग्यवैभवेन हरेर्नयनाञ्चलं यदि न्यञ्चति मदुपरि पतति । तिमिरं दौर्भाग्यरूपम्, अज्ञानरूपम् वा । शिबिरं समूहः ॥ ६ ॥

मेरे किसी अनिर्वचनीय भाग्यवैभवसे यदि मुझपर व्रजपतिकी दृष्टि पड़ जाय तो पलभरमें जन्म-मरणकी भयानक विपत्ति विलीन हो जाय तथा सौभाग्य-सूर्यकी किरणोंको रोकनेवाला दुर्भाग्यरूप घनान्धकार भी पलभरमें बिला जाय। फिर भाग्यभानुका प्रकाश सर्वत्र फैल जाय और शोक-चिन्ताओंका डेरा ही उठ जाय। दुष्ट दैत्योंके दलका दलन करनेवाले तथा देवगणोंका मङ्गल करनेवाले, कोटि-कोटि कामदेवोंके समान सुन्दर व्रजनायक ! आपकी जय हो ! जय हो ॥ ६ ॥

रूपमुग्धा गोपी

वनमाली विहरति वने जलदाली जटिलास्ति ।
याति चांशुमाली शमं चपला नभसि चकास्ति ॥
चपला नभसि चकास्ति कास्ति तव नारी निकटे ।
को मार्गं तव बोधयेत मार्गेऽस्मिन् विकटे ॥
यदवधि नन्दात्मजोऽलोकि मुरलीरवशाली ।
तदवधि संदानिता नैति वृन्दावनमाली ॥ ७ ॥

जलदानाम् आली घटा । अंशुमाली सूर्यः शमम् अस्तं याति । का नारी सहायिका । अन्यस्या निजसख्या वृत्तान्तं सूचयित्वा सखी परिबोधयति यत् तया मे प्रियसख्या मुरलीवादनशाली हरिः यदवधि अलोकि दृष्टः तदवधि

संदानिता प्रेमपाशबद्धा सा आली वृन्दावनं नैति, अपितु गृहं विहाय नन्दसूनोरनुसारेण वनाद्वनं विचरतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

वनमाली वनमें विहार कर रहे हैं और इधर आकाशमें मेघघटा घनी हो गयी है। भगवान् अंशुमाली छिप गये हैं। आकाशमें बिजली रह-रहकर कौंध रही है। (इस समय) कौन नारी तुम्हारे पास है (जो तुम्हारी सहायता कर सके) ? इस विकट मार्गमें तुम्हें रास्ता भी कौन बतायेगा ? मुरलीपर तान छेड़नेवाले नन्दकुमारको जबसे उसने देखा है तभीसे प्रेममें बँधी वह आली वृन्दावनमें नहीं आती, किंतु उनके साथ-साथ वन-वनमें घूमती है) ॥ ७ ॥



[४२]

षट्पद (छप्पय)-पटलम्

जयति जलधिपरिरचितशेषशय्योपरिशायी ।
नाभिनलिननिस्सरच्चतुर्मुखनुतिपरिचायी ॥
कमलाकरकमलाभिजातसंवाहनशाली ।
कौस्तुभमणिविभ्राजदुरसि विलुठद्वनमाली ॥
यः प्रणमदमरमुकुटच्छटानीराजितचरणो लसति ।
स हि सकललोकविलसितविभो विभुर्विश्वरूपो जयति ॥ १ ॥

चतुर्मुखस्य नुतिं स्तुतिं परिचिनोति स्वीकरोतीति यावत्। कमलायाः करकमलाभ्यां संजातं यत्संवाहनं पदसंवाहनम् । विभ्राजमाने उरसि विलुठन्ती वनमाला यस्य। सकलेषु लोकेषु विलसिता विभा कान्तिर्यस्य । भगवत्कलां विना लोकानां स्थितिरेव न ॥ १ ॥

समुद्रपर बिछी शेषशय्यापर जो शयन करते हैं, नाभिकमलसे प्रकट हुए ब्रह्माके द्वारा की गयी स्तुतिको जो ग्रहण करते हैं, लक्ष्मीके करकमलों-द्वारा की जानेवाली चरण-परिचर्यासे जो अनुपम शोभा धारण करते हैं, कौस्तुभमणिसे उद्भासित जिनके वक्षःस्थलपर वनमाली लोटती रहती है,

प्रणत हुए देवताओंकी मुकुट-कान्तिसे जिनके चरणोंकी आरती होती रहती है तथा सम्पूर्ण लोकोंमें जिनकी कान्ति सुशोभित है, ऐसे विश्वरूप भगवान्‌की जय हो ॥ १ ॥

जय जलजासनविहितरम्यसामस्तुतिभासिन् ।
जय जलनिधिजाहृदयवसतिवैकुण्ठविलासिन् ॥
जय जलजोपमचरणचञ्चरीकायितमुनिचय ।
जय जलजायितनयननाट्यनिष्पाद्यजगत्त्रय ॥
जय जलधरनिभनीलरुचिरोचितमञ्जुलमूर्तिधर ।
जय जडजङ्गमविश्वचर दामोदर दैतेयहर ॥ २ ॥

कमलासनेन ब्रह्मणा विहिता या साम्ना सामवेदेन स्तुतिः । सागरकन्यका (लक्ष्मी)-हृदयनिवासी चासौ वैकुण्ठविलासी चेति कर्मधारयः । कमलसदृशस्य नयनस्य नाट्येन इङ्गितेन निष्पाद्यं प्रादुर्भावनीयं जगत्त्रयं यस्य । नीलरुच्या रोचिता प्रकाशिता या मञ्जुला मूर्तिः । जडे जङ्गमे च विश्वस्मिन् संसारे चरति ॥ २ ॥

जो ब्रह्माके द्वारा की गयी सुरम्य सामवेदकी स्तुतिसे सुशोभित हैं, जिनका लक्ष्मीके हृदयमें निवास है और जो वैकुण्ठमें विलास करते हैं, जिनके चरणरूपी कमलोंपर मुनिजन भ्रमरोंकी भाँति लुभाये रहते हैं, जिनके कमलसदृश नेत्रोंके नाट्यमात्रसे तीनों लोकोंका निर्माण होता है, जो जलधरके समान श्याम और मनोहर मूर्तिको धारण करते हैं तथा जो चर और अचर विश्वमें व्याप्त हैं एवं दैत्योंका संहार करनेवाले हैं—ऐसे हे दामोदर ! आपकी जय हो ॥ २ ॥

चिन्तामणिचयरचितचारुपीठस्थितचरणे ।
कलकौस्तुभमणिकिरणकर्बुरितदिव्याभरणे ॥
प्रणतलोकपालप्रतीक्ष्यकरुणार्द्रविलोके ।
शिवविरञ्चिदेवाधिदेवविरचितविश्लोके ॥

जयविजयपारिषद्पाणिना पिहितपुरंदरगतिजवे ।
मम मानस ! मुदितमुपेयतामस्मिन् मुरजिति माधवे ॥ ३ ॥

चिन्तामणीनां चयेन राशिना रचितं यत् चारुपीठं चरणस्थापनार्थं चतुष्किका तत्र स्थितौ चरणौ यस्य तस्मिन् । कलः सुन्दरः । किरणैः कर्बुरितानि चित्रीकृतानि दिव्याभरणानि यस्य तस्मिन् । लोकपालैः प्रतीक्षणीयः करुणया आर्द्रः विलोकः दृष्टिपातो यस्य । शिवश्च विरञ्चिश्चेति यौ देवानामधिदेवौ ताभ्यामपि विरचितो विश्लोकः स्तुतिः यस्य । पिहितः अवरुद्धः पुरंदरस्य इन्द्रस्यापि गतेर्वेगो यत्र । इन्द्रोऽपि पारिषदाज्ञयैव अन्तर्गन्तुं शक्नोति । अन्यथा तु सोऽपि द्वारे एव रुद्धगतिर्भवतीत्यर्थः । मुरविजेतरि माधवे मुदितं प्रमोदः उपेयतां प्राप्यताम् । अनुभूयतामिति यावत् ॥ ३ ॥

चिन्तामणियोंसे निर्मित सुन्दर चौकीपर जिनके चरण स्थित हैं, जिनके दिव्य आभूषण सुन्दर कौस्तुभमणिकी किरणोंसे चित्र-विचित्र हो रहे हैं, बड़े-बड़े लोकपाल भी प्रणाम करते हुए जिनकी कृपादृष्टिकी प्रतीक्षा किया करते हैं, शिव-ब्रह्मा आदि देवाधिदेव भी जिनकी स्तुति किया करते हैं तथा जय-विजय आदि पार्षदोंके हाथों जहाँ देवराज इन्द्रका भी प्रवेश रोक दिया जाता है, मुरको जीतनेवाले ऐसे माधवसे हे चित्त ! तुम प्रमोद प्राप्त करो ॥ ३ ॥

हस्तमेकमुन्नयन् गहनगिरिराजोद्धरणे ।
कटितटमपरं करं नयन्नृत्यायोत्तरणे ॥
मञ्जुलगुञ्जामाल्यमुरसि विलुलितमावहते ।
मूर्द्धनि मणिमयमुकुटमाविनम्रं यो धरते ॥
नृत्यचलच्चरणं सकलभक्ताभयकरणं व्रजे ।
वनमालाभरणं सदा गोवर्द्धनधरणं भजे ॥ ४ ॥

गहनो विशालः । नृत्याय नृत्यं कर्तुम् उत्तरणे रङ्गस्थलावतरणे अपरं करं कटितटम् (कटितटे) नयन् । आविनम्रं अभिमुखभागे ईषद्विनतम् 'श्रीनाथ' मूर्तेर्ध्यानम् ॥ ४ ॥

गहन गिरिराजको उठानेमें जिनका एक हस्त-कमल उठा हुआ है और नृत्यकी तैयारीमें जिनका दूसरा हाथ कमरपर रखा है, जो वक्षः-स्थलपर सुन्दर गुञ्जाओंकी माला धारण किये हुए हैं, जिनके श्रीमस्तकपर मणिमय मुकुट झुका हुआ है, नृत्यमें जिनके चरणकमल चञ्चल हो रहे हैं, व्रजमें समस्त भक्तोंको अभय करनेवाले, वनमालाविभूषित श्रीगोवर्द्धनधरण-का मैं सर्वदा भजन करता हूँ ॥ ४ ॥

निस्साधनशरणेन येन मर्यादा वितता ।
दुर्विनीतदुर्दान्तदलान्निजजनततिरविता ॥
कौरवकुलमभिभूय पाण्डुसुतविपदपनीता ।
भारतनाटकसूत्रकृता भुवि नीता गीता ॥
निजवचनं विगणय्य निजभक्तवचनमविलङ्घयन् ।
जयति पार्थसारथिरयं निखिलदुर्जनान् निर्जयन् ॥ ५ ॥

वितता सर्वतः प्रसारिता । दुर्दान्तदलात् भक्तजनमण्डली अविता रक्षिता । नाटकसूत्रधारेण येन भुवि नीता, अनेन गीताया दिव्यत्वं ध्वन्यते । निजवच०—अतएव शस्त्रग्रहणस्य निजां प्रतिज्ञामुल्लङ्घ्य निजभक्तस्य भीष्मस्य वचनं (अहं समरे हरिणा शस्त्रं ग्राहयिष्यामि) अविलङ्घयन् सत्यीकुर्वन् पार्थसारथिः श्रीकृष्णः ॥ ५ ॥

निस्साधनोंको शरण देनेवाले जिन्होंने धर्मकी मर्यादा विस्तृत की, दुस्सह दुष्टदलोंसे अपने भक्तोंकी रक्षा की, कौरवकुलकी पराजय करके पाण्डवोंकी विपत्ति दूर की, महाभारतरूपी नाटकके सूत्रधार बनकर जिन्होंने इस धराधाममें गीताकी अवतारणा की, अपनी प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन करके भी अपने भक्त (भीष्म) की प्रतिज्ञाको पूर्ण करते हुए समस्त दुर्जनोंका पराजय करनेवाले अर्जुनके सारथि उन श्रीकृष्णकी* जय हो ॥ ५ ॥

---

* यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके युद्धमें रथका पहिया लेकर शस्त्र न लेनेकी अपनी प्रतिज्ञाको तोड़ने तथा 'आजु जो हरिहि न सस्त्र गहाऊँ' इत्यादि भीष्मकी प्रतिज्ञाको रखनेका उल्लेख किया गया है ।

सकलसूरिरसनावनीषु बत या परिखेलति।
भक्तिभावमधिगम्य सुजनसम्मुखमुद्वेलति॥
यत्प्रसङ्गतोऽप्याशु कलुषनिचया विनिरस्याः।
परमहंसहर्षाय संनिकर्षावनिरस्याः॥
मञ्जुनाथमानसमिदं जपति निर्भरं गामिमाम्।
अवगाहे गोविन्दगुणगानगहनगङ्गामिमाम्॥ ६ ॥

भक्तिभावमुपगम्य सुजनानां सम्मुखे उद्वेलति वर्द्धते, गङ्गापि जातिविशेषस्य गानकीर्तनादिना उद्वेलतीति प्रसिद्धम्। यत्प्रसङ्गमात्रेण पापसमूहाः। दूरीकार्याः भवन्ति। अस्याः गङ्गायाः समीपभूमिः हंसानां योगिनां मरालानां च हर्षाय। इदं मे मनः इमां गाम् एतद्वचनम् रटति। किं तत्? आह—गोविन्दगुणगानरूपां गभीरां पूर्वोक्तां गङ्गामवगाहे स्नानार्थं विलोडयामि॥ ६ ॥

सम्पूर्ण विवेकियोंकी रसनाभूमिपर जो लहराती रहती है, भक्तिभावको प्राप्तकर जो सज्जनोंके सम्मुख उमड़ती है (गङ्गा भक्तविशेषोंके भजन-कीर्तनसे उमड़ती है, यह प्रसिद्ध है), जिसकी चर्चामात्रसे शीघ्र ही पाप-समूह दूर हट जाते हैं, जिस (गङ्गा) के समीपकी भूमि परमहंसों (योगी और हंसों) के हर्षका साधन बनी हुई है, मञ्जुनाथके मनको यही रट लगी है कि उस गोविन्दगुणगानरूपी गहरी गङ्गामें मैं सदा गोता लगाता रहूँ॥ ६ ॥

---

[४२]

'बरवै'-विलासः

स किल कलानिधिरुदितो व्रजविभवाय।
लोचनगोचरमयतां मत्प्रमदाय॥ १ ॥
वृन्दावनघनवीथीविहरणशालि।
व्रजभूभाग्यं भवतान्मम परिपालि॥ २ ॥

त्रिभुवनजनक जनार्दन जय जगदीश।
जय करुणावरुणालय देवाधीश ॥ ३ ॥

व्रजवैभवाय उदितः अवतीर्णः कलानिधिः श्रीकृष्णचन्द्रः। व्रजभुवो भाग्यं भागधेयं (श्रीकृष्णः) ॥ १-२ ॥

व्रजकी समृद्धिके हेतु उदय हुआ वह (अद्भुत) श्रीकृष्णरूपी चन्द्रमा मुझे आनन्दित करनेके लिये मेरे नेत्रोंके सम्मुख प्रकट हो ॥ १ ॥ वृन्दावनकी सघन कुञ्जवीथियोंमें विहरणशील वह व्रजभूमिका मूर्तिमान् भाग्य मेरा रक्षक बने ॥ २ ॥ त्रिभुवनके स्रष्टा, जगत्के ईश, देवताओंके स्वामी दयासागर जनार्दन ! आपकी जय हो ॥ ३ ॥

संस्कृत-हिंदीभाषासमकम्

कोटिकामसमसुन्दर नन्दकिशोर।
जय जय श्रीराधामुखचन्द्रचकोर ॥ ४ ॥
जय वृषभानुकिशोरीनयनानन्द।
जय विह्वलव्रजवनितालीलाकंद ॥ ५ ॥
जय जय जगदानन्दन नन्दकुमार।
भवबाधाहर राधाप्राणाधार ॥ ६ ॥

व्रजवनितानां या लीलाः तासां कन्द मूलकारण ! ॥ ५ ॥ भवबाधाहरेति कृष्णसम्बोधनम्। अथवा भवबाधाहरा या राधा तस्याः प्राणाधार ॥ ६ ॥

करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर तथा श्रीराधामुखचन्द्रके लिये चकोर बने हुए श्रीनन्दकिशोर ! तुम्हारी जय हो, जय हो ॥ ४ ॥ श्री-वृषभानुकिशोरीके नेत्रोंको आनन्द देनेवाले तथा विरहसे विकल हुई व्रजवनिताओंको लीलाका सुख प्रदान करनेवाले प्रभो ! तुम्हारी जय हो, जय हो ॥ ५ ॥ जगत्को हर्षित करनेवाले तथा अपने भक्तोंकी जन्म-मृत्यु-रूप बाधाको हरनेवाले, श्रीराधाके प्राणाधार नन्दकुमार ! तुम्हारी जय हो, जय हो ॥ ६ ॥

संकीर्तन-प्रार्थनम्

कालियकेशिनिषूदन कंसनिकन्द ।
कोटिकामकमनीयक यदुकुलकंद ॥ ७ ॥
गरुडगामिगोवर्द्धनगिरिवरधार ।
गोगोपीगणगोपक गोष्ठाधार ॥ ८ ॥
माधव मधुमुरमर्दन मञ्जुमुकुन्द ।
मुखमुरलीधर मनसिजमाननिकन्द ॥ ९ ॥
चरितचकितचतुराननगापितगीत ।
वाणीपरिवृढवाणीविभवातीत ॥ १० ॥
पुण्डरीकपुरुलोचन पुरुष पुराण ! ।
पद्मनाभ पीताम्बर पद्माप्राण ! ॥ ११ ॥

कमनीय एव कमनीयकः स्वार्थे कन् ॥ ७ ॥ गरुडगामी चासौ गोवर्द्धनाख्यगिरेर्धारकश्चेति कर्मधारयः । गणस्य गोपकः गोप्ता ॥ ८ ॥ मुखे मुरल्याः धारक ॥ ९ ॥ नवीनवत्साविष्करणलीलया चकितो यश्चतुराननः ब्रह्मा तेन गापितानि गीतानि येन सः । वाण्याः परिवृढस्य अधिपतेः बृहस्पतेः या वाणी तस्या विभवमपि अतीत, वाग्विभवातीतेत्यर्थः ॥ १० ॥ पुण्डरीकवत् पुरुणी विशाले लोचने यस्य तत्सम्बुद्धिः ॥ ११ ॥

कालिय एवं केशीको मारनेवाले तथा कंसको पछाड़नेवाले, करोड़ों कामदेवोंके समान कमनीय एवं यदुकुलको सुख देनेवाले ! ॥ ७ ॥ गरुडवाहन, गोवर्धनधरण, गौओं एवं गोपीगणोंकी रक्षा करनेवाले व्रज-जीवन ! ॥ ८ ॥ मधु एवं मुर दैत्योंका संहार करनेवाले, मुखपर मुरली धारण करनेवाले तथा मदनका मान मर्दन करनेवाले मञ्जुमूर्ति लक्ष्मीपति मुकुन्द ! ॥ ९ ॥ चरित्रोंको देखकर चकित हुए चतुरानन तुम्हारा निरन्तर गुणगान करते रहते हैं; किंतु तुम्हारा वास्तविक रूप बृहस्पतिके वाणी-विलाससे भी परे है ॥ १० ॥ तुम्हारे कमलके समान विशाल नेत्र हैं । हे

पद्माके प्राणाधार, पद्मनाभ, पीताम्बर पुराण-पुरुषोत्तम ! तुम्हारी सदा जय हो ॥ ११ ॥

शोभा

माधवमूर्द्धनि मुकुटं द्युतिमुपयाति ।
तरुणतमाले तिष्ठन् शिखीव भाति ॥ १२ ॥
चिकुरकलापे चञ्चत्कुण्डलभास्ति ।
नक्षत्रं ननु नीले नभसि चकास्ति ॥ १३ ॥
करकमले हरिमुरली मञ्जु ननाद ।
कूजन्निव पिकपोतोऽम्बुरुहि ससाद ॥ १४ ॥
मौक्तिकमाला विलसति वक्षसि भूरि ।
नूनं नीलनभोऽङ्गणमुडुभिरपूरि ॥ १५ ॥

श्यामवर्णस्य श्रीकृष्णस्य मस्तके मयूरपिच्छानां मुकुटं मयूर इव भातीत्यर्थः ॥ १२ ॥ चञ्चत्०—चमत्कुर्वतः कुण्डलस्य भा कान्तिः अस्ति ॥ १३ ॥ हस्तकमले शब्दायमाना मुरली तथा शोभते यथा कूजन् कोकिल-शावकः अम्बुरुहे ससाद (निषसाद, तस्थौ) ॥ १४ ॥ उडुभिः नक्षत्रैः । श्यामवर्णे वक्षःस्थले मुक्तासमूहस्तारकासमूह इव राजतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

माधवके मस्तकपर मोरमुकुट इस प्रकार सुशोभित है, जैसे डहडहे एक तमाल वृक्षपर एक मयूर बैठा हो ॥ १२ ॥ बिथुरे हुए केशोंपर चमकते हुए कुण्डलोंकी कान्ति ऐसी प्रतीत होती है, जैसे नीले आकाशमें दो बड़े तारे दमक रहे हों ॥ १३ ॥ श्रीहरिके करकमलोंमें विराजित मुरलीका मधुर नाद हुआ, मानो कूकता हुआ कोयलका बच्चा कमलपर बैठा हो ॥ १४ ॥ श्रीहरिके वक्षःस्थलपर मोतियोंकी माला अत्यन्त शोभा दे रही है, जैसे नील गगनका मध्यभाग तारागणोंसे पूर्ण हो ॥ १५ ॥

मुरली

मुरलीधर तव मुरली करलीनापि ।
चित्रं तरलीकुरुतेऽधरलीढापि ॥ १६ ॥

अयि मोहन तव मुरलीस्वरलीनापि ।
दीना सा गतिहीना तापमवापि ॥ १७ ॥
सखि वृन्दावनवसतेर्दूरमपेहि ।
गच्छसि यदि हरिमुरली श्रवसि न देहि ॥ १८ ॥
नग्ना सा श्रुतिलग्ना रतिमपहन्ति ।
येन हि गृहधनसुजना दूरमयन्ति ॥ १९ ॥

करे लीना लग्ना, अधरेण लीढा आस्वादितापि गोपीजनान् तरलान् (चञ्चलान्) कुरुते इति चित्रम् । दूरे स्थितायाः, अन्येन पीताया अपि लोकानां विह्वलीकरणमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥ मुरलीस्वर०—तव मुरलीस्वर-मात्रेणापि सा निश्चला जाता, संतापं च प्रापिता । तव साक्षात्सम्बन्धे तु न जाने तस्याः का दशा स्यादित्याशयः ॥ १७ ॥ वृन्दावनस्य निवासाद् दूरमपसर । श्रवसि न देहि कर्णे मा कुरु ॥ १८ ॥ नग्ना निर्लज्जा सा कर्णयोर्लग्ना सती रतिं सांसारिकनिर्वृतिं नाशयति, येन च गृहादीनां विरहो भवति । भगवदेकाश्रयो भवतीति ध्वनिः ॥ १९ ॥

हे मुरलीधर ! आपके हाथोंमें रखी हुई किंवा अधरोंसे चुम्बित मुरली भी व्रजगोपिकाओंको चञ्चल कर देती है—यह कितने आश्चर्यकी बात है (एकके हाथोंमें रखी हुई और अधरोंसे लगी हुई वस्तु दूसरेको चञ्चल कर दे—यह आश्चर्य नहीं तो क्या है ?) ॥ १६ ॥ हे मोहन ! आपकी मुरलीके स्वर-मात्रको सुनकर निश्चल हुई, गतिहीन (उपायहीन एवं गतिशून्य) वह गरीब गोपी संतप्त हो रही है ॥ १७ ॥ दूसरी सखी उससे कहती है—हे सखी ! वृन्दावनकी बस्तीसे दूर ही रहना और कदाचित् वृन्दावनमें जाना ही पड़े तो हरिकी मुरलीका स्वर कानमें न पड़ने देना ॥ १८ ॥ उस वस्त्रहीन (निर्लज्ज) मुरलीका स्वर कानमें पड़ते ही सांसारिक सुख-चैनका नाश कर देता है, जिससे घर, धन और स्वजन छूट जाते हैं ॥ १९ ॥

कारुण्यप्रार्थना

नन्दतनय विनयं मे किं न शृणोषि ।
कर्णे करुणाक्रन्दं किं न करोषि ॥ २० ॥
दीनान् दीनानाथोऽपि यदि जहाति ।
तव विरुदे विश्वासं कोऽभ्युपयाति ॥ २१ ॥
करुणां करुणाजलधे सपदि विधेहि ।
आशोणं दृक्कोणं मयि विनिधेहि ॥ २२ ॥
क्षणमपि करुणाकोणाद् यदि वीक्ष्येत ।
तर्हि नाथ मम भाग्यं सुपरीक्ष्येत ॥ २३ ॥

करुणा०—करुणाजनकम् आक्रन्दम् विलापम् ॥ २० ॥ दीनानां आ (समन्तात्) नाथम् इति भाषाप्रसिद्धं नाम । विरुदे दीनोद्धारके-त्यादिस्तुतौ ॥ २१ ॥ आशोणम् ईषदरुणम् ॥ २२ ॥ मम भाग्यं सुपरीक्ष्येत, तव दृष्टिकोणपाते एव अहं ब्रह्मादीनामपि प्रशंसनीयो भवेयमिति मम भाग्यपरीक्षां कुर्वित्यर्थः ॥ २३ ॥

हे नन्दतनय ! हमारी विनय क्यों नहीं सुनते ? इस करुण-क्रन्दनपर ध्यान क्यों नहीं देते ? ॥ २० ॥ दीनानाथ होकर भी यदि दीनोंका परित्याग कर दोगे तो तुम्हारे 'दीनबन्धु' विरदपर कौन विश्वास करेगा ? ॥२१॥ हे करुणासागर ! शीघ्र करुणा करिये। अपनी आरक्त (अनुराग-भरी) दृष्टि मुझपर डालिये । एक क्षणके लिये भी यदि आप करुणापूर्ण दृष्टिसे मुझे देख लें तो हे नाथ ! फिर मेरे सौभाग्यकी भलीभाँति परीक्षा हो जाय (लेशमात्र भी आपकी करुणा पड़ते ही ब्रह्मादि मेरी श्लाघा करते हैं या नहीं—यह परीक्षा कर देखिये) ॥ २२-२३ ॥

भ्रमिभृतभूरिभयानकभवपतितस्य ।
तव पदतरणिः शरणं जगति जनस्य ॥ २४ ॥
तव पदसरसिजसेवाहेवाकेन ।
ध्रियतामरतिरनल्पा मम हृदयेन ॥ २५ ॥

स्वामिनि सर्वसमर्थे किं ध्वनयामि ।
दीनः साधनहीनस्त्विति निगदामि ॥ २६ ॥
पापाकीर्णं जीर्णं न मामुपेहि ।
चरणरेणुकणमात्रात् कृपां विधेहि ॥ २७ ॥

भ्रमिभिः आवर्तैर्भृतो यो भवः संसारसागरः तन्निपतितस्य । चरणरूपा तरणिः नौका ॥ २४ ॥ मम हृदयेन तव पदकमलस्य या सेवा तस्या हेवाकेन औत्कण्ठ्येन करणभूतेन, हेतुना वा अरतिः अनिर्वृतिः ध्रियताम् । अहं तव चरणसेवां विना विह्वलस्तिष्ठेयं तथा मह्यं भक्तिं वितरेति प्रार्थना । 'हेवाक' उत्कण्ठातिशयः 'प्रियप्रणयहेवाकि यतो मानवतीमनः'—(कथासरित्सागरः) ॥ २५ ॥ स्वामिनि०—त्वं सर्वसमर्थः स्वामी, अतएव त्वयि किं व्यञ्जयामि । अहं दीनः, तदुपरि साधनैर्हीन इति तु वदामि ॥ २६ ॥ पापा०—पापिनो जराजीर्णस्य च मम सविधे आगमन-परिश्रमस्य नावश्यकता, पदधूलेः कणमात्रं प्रदाय कृपां कुर्वित्यर्थः ॥ २७ ॥

भयानक भँवरोंसे संकुल इस भवसागरमें पड़े हुए मनुष्यके लिये जगत्में आपके चरणोंकी नौका ही आश्रयरूप है ॥ २४ ॥ मेरा हृदय आपके चरणकमलोंकी सेवाकी उत्कण्ठामें अत्यन्त बेचैन हो जाय (यही मेरी प्रार्थना है) ॥ २५ ॥ आप सर्वसमर्थ स्वामीकी सेवामें मैं क्या सूचित करूँ ? मैं दीन और सब साधनोंसे हीन हूँ, केवल इतना ही निवेदन कर दे रहा हूँ ॥ २६ ॥ मैं पापोंसे परिपूर्ण और जरासे जीर्ण हूँ, मेरे पास मत आइये । अपनी चरण-रजका एक कणमात्र देकर मुझपर कृपा कर दीजिये ॥ २७ ॥

त्रस्तः सकलनिरस्तस्तावदुपैमि ।
कृपालोकलवलाभे कस्य बिभेमि ? ॥ २८ ॥
कं स्मरामि कं यामि च कं विनयामि ।
नाथ त्वमेव बोधय, किं कलयामि ? ॥ २९ ॥

त्वां विहाय विगतेर्मे त्राता कोऽस्ति ।
दीननाथ दीनानां दाता कोऽस्ति ? ॥ ३० ॥
चेद् विचिनोषि चरित्रं नाथ मृतोऽस्मि ।
विरुदं तव परिपालय शरणमितोऽस्मि ॥ ३१ ॥
करुणादृक् तव तरुणाम्भोजसमैव ।
शीतलयति भवतप्तान् या सहसैव ॥ ३२ ॥

सकलैः देवादिभिर्निरस्तः तिरस्कृतः अतएव त्रस्तः सन् त्वामुपैमि तव सविधे आगतोऽस्मि । तव कृपापूर्णो य आलोकः दृष्टिपातः तस्य लाभे सति अहं कस्माद् बिभेमि ? न कस्माचिदपि भयस्यावश्यकतेत्यर्थः ॥२८॥ विनयामि अनुनयामि ॥ २९ ॥ विगतेः गतिरहितस्य ॥ ३० ॥ यदि मे चरित्रम् अन्विष्यसि तर्हि हे नाथ अहं मृतः, पापिनो मे पुण्यं चरित्रं नास्तीत्याशयः । तव विरुदम् 'अधमोद्धारक' इति । शरणम् इतः प्राप्तोऽस्मि ॥ ३१ ॥ तरुणं प्रफुल्लं यद् अम्भोजं तत्समाना, अतएव भवतप्तान् जनान् सद्य एव शीतलीकरोति ॥ ३२ ॥

(देवता-मनुष्य) सभीने मुझे दुत्कार दिया, अब त्रस्त होकर आपके पास आया हूँ । आपकी कृपादृष्टिका लेशमात्र भी यदि मिल जाय तो फिर किससे डरूँगा ॥ २८ ॥ मैं किसका स्मरण करूँ, किसके पास जाऊँ, किससे विनय करूँ ? हे नाथ ! आप ही बताइये कि मैं क्या करूँ ? ॥ २९ ॥ मुझ गतिहीनके लिये आपको छोड़कर रक्षा करनेवाला कौन है ? हे दीनानाथ ! दीनोंको उनकी अभीष्ट वस्तु देनेवाला और कौन है ? ॥३०॥ हे नाथ ! यदि मेरे चरित्रका अनुसंधान करते हैं, तब तो मैं मारा गया । आप अपने दयालुताके विरदकी रक्षा करें । मैं आपके शरण आया हूँ ॥ ३१ ॥ आपकी करुणादृष्टि नवीन खिले हुए कमलके समान है, जो अचानक ही भवसागरसे तपे हुओंको शीतल कर देती है ॥ ३२ ॥

स्वोद्धारप्रार्थने युक्तिः

ग्राहाद् गजपतिरक्षा भवेत् कृतैव ।
नूनमजामिलगुप्तिः कृता त्वयैव ॥ ३३ ॥

गणिकागृध्रगुहादिस्त्वया ह्यगोपि ।
कुगतिव्रातस्त्रातः स्यादपरोऽपि ॥ ३४ ॥
किंतु नाथ चेत् क्षाम्यसि किमपि वदामि ।
पूर्वां गाथां जीर्णामिह जानामि ॥ ३५ ॥
प्रत्यक्षं हि परोक्षात् प्रबलमुशन्ति ।
प्राक्तनविभवान्नूत्नं मधुरमयन्ति ॥ ३६ ॥
तद् यदि यदुकुलमण्डन ! मामवितासि ।
अधमोद्धारकविरुदं भूषयितासि ॥ ३७ ॥

गजपतिरक्षा अवश्यं कृतैव, यद्यपि मया न दृष्टा तथापि शब्द-प्रामाण्यात्सा सत्यैव । अजामिलस्य गुप्तिः गोपनम् ॥ ३३ ॥ कुगतीनां कुत्सितगतियुक्तजनानां व्रातः समूहः ॥ ३४ ॥ पूर्वां०—पुरातनी सा कथा जीर्णा जातेति जानामि ॥ ३५ ॥ प्रत्यक्षम्०—ग्राहादीनां रक्षणं परोक्षम् । ततश्च परोक्षात् प्रत्यक्षमेव प्रबलं उशन्ति वाञ्छन्ति जानन्ति । ग्राहादीनां रक्षारूपं ते वैभवं पुरातनम्, प्राचीनवैभवापेक्षया नवीनं वैभवमधिकप्रियं भवति ॥ ३६ ॥ ततश्च यदि त्वं माम् रक्षिष्यसि तर्हि निजविरुदं न केवलं सत्याययिष्यसि अपि तु पूर्वतोऽप्यधिकप्रमाणितत्वादलंकृतं करिष्य-सीत्याशयः ॥ ३७ ॥

(यद्यपि मैंने यह घटना आँखोंसे नहीं देखी, तथापि प्राचीन ग्रन्थोंके आधार-पर कह सकता हूँ कि) ग्राहसे गजेन्द्रकी रक्षा आपने की ही होगी । यह भी निश्चित है कि अजामिलकी रक्षा आपने ही की थी ॥ ३३ ॥ यही नहीं, गणिका-गीध-गुह आदिकी रक्षा भी आपने ही की थी । इनके अतिरिक्त और भी दुर्दशाग्रस्त पापियोंका समूह आपने उबारा होगा ॥ ३४ ॥ किंतु हे नाथ ! यदि क्षमा करें तो कुछ कहूँ; ऊपर कही हुई इस पुरानी कथा-रूपी कन्थाको जीर्ण हुई पाता हूँ ॥ ३५ ॥ दूसरे, सब लोग प्रत्यक्षको परोक्षसे प्रबल मानते हैं (दूसरोंके द्वारा देखी-सुनी पुरानी घटनासे आँखों देखी घटना अधिक प्रामाणिक मानी जाती है) । पुराने वैभवसे नवीन वैभव

मधुर प्रतीत होता है (पुराने कालसे चला आया धन-वैभव उतना प्यारा नहीं लगता, जितना प्रतिदिन आता हुआ नवीन वैभव) ॥ ३६ ॥ इसलिये हे यदुकुलके मण्डन (श्रीकृष्ण) ! आप यदि मेरी रक्षा करेंगे तभी 'अधमोद्धारक' इस विरुदको विभूषित करेंगे। यहाँ 'अवितासि' यह अनद्यतन भविष्यका प्रयोग है। इसका व्यङ्ग्य अर्थ है कि आज न सही, आगा-पीछा सोचकर कल भी मेरा उद्धार कर देंगे तो पापियोंके उद्धारकी पुरानी कथाको केवल सत्य ही प्रमाणित नहीं करेंगे, अपितु उसपर चार चाँद भी लगा देंगे। अर्थात् मेरे-सदृश पापीके उद्धारसे ही आपकी उस पुरानी कथाकी शोभा होगी ॥ ३७ ॥

मनःप्रबोधनम्

हृदये हरिपदपङ्कजमङ्कय तात।
विफलं किमिति कलङ्कसि रङ्कसि वाथ ॥ ३८ ॥
भूरि भ्रमसि भवार्णववीचिवशेन।
हरिचरणाम्बुजनौकां किं श्रयसे न ॥ ३९ ॥
कितव कियत् कटुकृतिभिः कीर्तिरपोषि।
हरिपरिचरणे रचनां किं न करोषि ॥ ४० ॥

तात ! निष्फलं किमिति जनसमाजस्य कलङ्क इव भवसि, किमिति च रङ्क इव दीन इवाचरसि। हृदये भगवच्चरणकमलमुद्रां धारय। कलङ्कसीत्यादि आचारे क्विप् ॥ वीचीनां वशेन वशीभावेन ॥ ३८-३९ ॥ सांसारिकीभिः कट्वीभिः कृतिभिः कियत्कीर्तिः अपोषि उपार्जिता न किंचिदित्यर्थः। भगवदाराधने वाग्रचनां किं न प्रवर्तयसि ॥ ४० ॥

प्यारे मन ! अपने हृदय-पटलपर श्रीहरिके चरण-कमलको अङ्कित (मुहररूपसे दृढ़ स्थापित) कर लो। व्यर्थ ही जनसमाजमें कलङ्कित अथवा दरिद्र बनकर क्यों रह रहे हो ? ॥ ३८ ॥ भवसागरकी तरङ्गोंके थपेड़े खाते नाहक क्यों घूम रहे हो ? श्रीहरिके चरणकमलरूपी नौकाका आश्रय क्यों नहीं लेते ? ॥ ३९ ॥ अरे धूर्त ! संसारकी इन विरस कृतियों

(रचनाओं) से तुमने कितनी कीर्ति कमायी है ? (कुछ भी नहीं ।) श्रीहरिकी चरणसेवाके विषयमें रचना क्यों नहीं करते ? ॥ ४० ॥

भगवन्महिमा

येऽमी लोकपतीनां पदमुपयन्ति ।
ते तव दृग्विभवानां लवा जयन्ति ॥ ४१ ॥
वैज्ञानिकबलदृप्तान्यतिविभवानि ।
पश्यसि पश्चिमराष्ट्राण्याजिगतानि ॥ ४२ ॥
विलयनशीला तेऽसौ भ्रूलीलास्ति ।
नाथ भवद्विभवाग्रे कोऽत्र चकास्ति ॥ ४३ ॥

येऽमी साधकाः इन्द्रादिलोकपालानां पदं प्राप्नुवन्ति ते तव दृष्टि-वैभवानां लेशाः । दृष्टिलवप्राप्त्यैव दिव्यविभूतिः सुलभेत्याशयः ॥ ४१ ॥ अस्मिन् समये वैज्ञानिकबलगर्विष्ठानि भूरिवैभवानि जर्मनी-रशिया-इंगलैण्डादि पाश्चात्यराष्ट्राणि आजि (युद्ध)-गतानि यत्पश्यसि, असौ लोकानां प्रलयकरणशीला तव भ्रूलीला । तव भ्रुकुटिः सम्प्रत्येषां विलयं वाञ्छतीत्यत एवैते अभिमानमत्ता युद्ध्यन्ते इत्यर्थः । १९४१-४२-४३ तम ख्रिष्टीयवत्सरेषु प्रचलतो यूरोप (जर्मनी)-युद्धस्य तदिदं स्मरणम् ॥४२-४३॥

जो ये लोकपालोंके पदपर पहुँचते हैं, वे आपकी कृपादृष्टिके प्रभावके ही कुछ लेश हैं (आपकी कृपादृष्टिके कुछ किनके ही इन्द्र-वरुण आदि लोकपाल बन जाते हैं) ॥ ४१ ॥ अत्यधिक धन-वैभव जिनके पास हो गया है तथा भौतिक विज्ञानके बलसे जो गर्विष्ठ हो गये हैं—ऐसे इन अमेरिका-जर्मनी आदि पश्चिमीय राष्ट्रोंको तुम युद्धके मैदानमें उतरा देखते हो ॥ ४२ ॥ सबको प्रकृतिके गर्भमें विलीन करनेवाली यह आपकी भ्रुकुटिकी लीलामात्र है । हे नाथ ! आपके वैभवके आगे कौन चमक सकता है । (सबका संहार करनेवाली आपकी भ्रुकुटिका ही यह विलास है कि सांसारिक वैभव, विज्ञान, ऐश्वर्य आदिसे शक्तियाँ जब अभिमानयुक्त हो जाती हैं, तब आपसमें लड़कर नष्ट हो जाती हैं) ॥ ४३ ॥

यशोदां प्रति गोप्युपालम्भः

नन्दगृहिणि ! निजतनयः किमिदमबोधि ।
अमुना यमुनारोधसि सरणिररोधि ॥ ४४ ॥

निजपुत्रः किमिदं शिक्षितो यत् अमुना यमुनातटे मार्ग एवावरुद्धः ॥ ४४ ॥

यशोदा ! अपने लालको तुमने यह क्या सिखा दिया कि इसने यमुनाके तटपर जानेका रास्ता ही रोक दिया है ॥ ४४ ॥

द्वादशमासी[१]

मार्गे मुररिपुमुरली मानमुदस्य ।
मङ्क्षु मोदमङ्कुरयति मनसि न कस्य ॥ ४५ ॥
पौषे शीतलपवना जवना वान्ति ।
मोहनमालिङ्गन्त्यो मुदमुपयान्ति ॥ ४६ ॥
माघमासि यमुनायामुषसि निमज्ज्य ।
महिला मधुरिपुमवृणन् भृशमनुरज्य ॥ ४७ ॥
फाल्गुन फलयसि कामान् व्रजवामासु ।
कलयति होलाखेलां हरिरेतासु ॥ ४८ ॥
चैत्रे चित्रं चन्द्रो निशि समुदेति ।
सखि सोऽयं व्रजचन्द्रोऽनिशमुदमेति ॥ ४९ ॥
वैशाखेऽत्र विशाखे ! सीदसि केन ।
किं न मोदमुपयाया व्रजरसिकेन ॥ ५० ॥
ज्येष्ठे प्रेष्ठमुखेन्दुं दृशि विनिधाय ।
गोपी ग्रीष्मं मेने मनसि तृणाय ॥ ५१ ॥
जनयति मुहुरभिलाषानाषाढोऽपि ।
आशां पूरयतान्नवजलदः कोऽपि ॥ ५२ ॥

१-द्वादशमासेषु नायिकादेर्विरहादिवर्णनपरः संदर्भो 'बारहमासी' नाम्ना भाषायां विश्रुतः । तदनुसारेण सेयं 'दामोदरद्वादशमासी' । द्वादशमासानां समाहारः ।

श्रावण ! जगदानन्दति हिन्दोलेन ।
किं दोलयसि मनो मे हरिविरहेण ॥ ५३ ॥
भाद्रे भूमिर्हरिताम्बुभृतानेन ।
स्यान्मे हृद्भूर्हरिता हरितानेन ॥ ५४ ॥
आश्विनमासि हिमांशुर्नभसि विभातु ।
मम तु श्यामसुधांशुर्मुदमुपयातु ॥ ५५ ॥
कार्तिकदीपालीयं व्यालीयेत ।
मम हृदि यदि वनमाली नालीयेत ॥ ५६ ॥
द्वादशमासी महतां महिता याति ।
हरिचरितामृतसरिता यत्र पुनाति ॥ ५७ ॥

मार्गे आग्रहायणमासे, अध्वनि इत्यपि ध्वनिः । मानिनीनां मानम् उदस्य दूरीकृत्य ॥ ४५ ॥ जवनाः जव (वेग) युक्ताः । मोहन-संयोगिन्यो नायिकाः प्रसीदन्ति, विरहिण्यश्च विषीदन्तीत्याशयः ॥ ४६ ॥ व्रजमहिला अनुरक्ता भूत्वा माघस्नानफलत्वेन श्रीकृष्णमेव वृण्वन्ति स्म ॥ ४७ ॥ हे फाल्गुन ! व्रजनारीणां कामान् त्वं सफलान् करोषि यद् हरिः एतासु व्रजनारीषु होलिकाक्रीडां करोति ॥ ४८ ॥ विशाखा० एतन्नाम्नी राधासखी । व्रजस्यैकमात्ररसिकेन श्रीकृष्णेन मोदं आनन्दम् किं न प्राप्नोषि ? ॥ ५० ॥ आषाढमासः उत्कण्ठावशान् नानामनोरथान् जनयति, किंतु मम आशां नवीनो जलदः श्रीकृष्णः पूर्यात् ॥ ५२ ॥ जगदानन्द०—जगत् हिन्दोलाक्रीडया आनन्दति आनन्दितं भवति ॥ ५३ ॥ इयं भूः अनेन अम्बुभृता मेघेन हरिता हरितवर्णा, मम हृदयभूमिस्तु हरेः तानेन वंशीस्वरलहर्या हरिता प्रफुल्ला स्यात् । मम तु०—मम तु मनसि श्यामरूप-श्चन्द्रो मोदताम् ॥ ५५ ॥ मम हृदये यदि वनमाली न आलीयेत लीनो भवेत् माम् न आलिङ्गेत् । तर्हि कार्तिकमासस्य दीपावली व्यालीयेत व्यालीव आचरेत्, सर्पिणीव मां हृदये पीडयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥ महतां पुण्यकृताम् द्वादशमासी (द्वादशमासाः) महिता अभिनन्दनीया सती व्यत्येति, यत्र हरिचरित्रनदी पवित्रयति ॥ ५७ ॥

मार्गशीर्षमें यह मुरारिकी मुरली मानका मर्दन करके तत्काल किसके मनमें प्रमोदके अङ्कुर नहीं उत्पन्न करती? ॥४५॥ पौषमें बड़े वेगवाली शीतल हवाएँ चलती हैं, इस समय मोहनको आलिङ्गन करनेवाली आनन्दित हो रही हैं (उनको यह शीत बाधा नहीं देता) ॥४६॥ माघमासमें बड़े सबेरे पौ फटते-फटते यमुनामें गोता लगाकर तथा अत्यन्त अनुरागसे युक्त होकर व्रजवनिताओंने श्रीकृष्णको वररूपमें माँगा ॥ ४७ ॥ हे फाल्गुन! व्रजनारियोंके तुमने सभी मनोरथ पूर्ण कर दिये; क्योंकि इनके बीचमें पधारकर श्रीहरि होलीकी क्रीडा करते हैं ॥ ४८ ॥ हे सखि! चैत्रमें यह चन्द्रमा तो केवल रात्रिमें उदय होता है, किंतु आश्चर्य है कि यह व्रजचन्द्र तो रात-दिन उदित रहता है ॥४९॥ अरी विशाखा! इस वैशाखमासमें तुम क्यों दुःख पा रही हो, व्रजके एकमात्र रसिकश्रीकृष्णके साथ क्यों नहीं आनन्द लूटती? ॥५०॥ ज्येष्ठमें अपने प्रियतमके मुख-चन्द्रको आँखोंमें रखकर गोपीने अपने मनमें इस भयङ्कर ग्रीष्मको तृणवत् समझा। (आँखोंमें मुखचन्द्रके रहते गर्मी क्या करेगी) ॥५१॥ यह आषाढ़ बारंबार अनेक प्रकारकी लालसाएँ पैदा करता है। नवीन मेघ (श्रीकृष्ण) मेरी आशाको पूर्ण करें यही प्रार्थना है ॥ ५२ ॥ हे श्रावण! यह जगत् हिंडोलेपर झूलकर आनन्दित हो रहा है। तुम मेरे ही मनको श्रीहरिके विरहसे आन्दोलित (कम्पित) क्यों कर रहे हो? ॥ ५३ ॥ भाद्रपदमें इस मेघकी बदौलत यह भूमि हरी-भरी हो रही है। मेरी हृदयभूमि भी श्रीहरिकी तान (वंशीकी तान) से हरित हो जाय, यह मेरी प्रार्थना है ॥ ५४ ॥ आश्विनमासमें चन्द्रमा आकाशमें सुशोभित हो और यह श्यामरूपी चन्द्रमा मेरे हृदयमें मोद प्राप्त करे ॥५५॥ कार्तिकमासकी यह दीवाली मेरे लिये साँपिन बन जायगी, यदि वनमाली मेरे हृदयसे नहीं आ लगेंगे ॥ ५६ ॥ यह बारहमासी (बारह महीनोंका समूह) पुण्यवानोंके लिये अभिनन्दनीय रूपसे बीतती है, जिसमें श्रीहरि-चरित्ररूपी अमृतकी नदी (जगत्मात्रको) पवित्र करती है ॥ ५७ ॥



[४४]

दोहा-संदोहः

भीमभवाम्बुधिपरिगते यदि ते दया विभाति ।
जगज्जीव जीवनतरिस्तर्हि पारमुपयाति ॥ १ ॥
त्रिविधतापतपनच्छटा विकटा चेदुदयेत ।
पीतपटा श्यामलघटा तत्संकटाद्धरेत ॥ २ ॥
जगति पापपीनोऽपि किं दीनो व्यपदिश्येत ? ।
दीनदयालो ! तव दया कथमु मयाऽऽमृश्येत ॥ ३ ॥
भवगहने पवनेरिते दहनेऽयं निपतामि ।
अवने मे करुणावने ! कं भुवने कलयामि ॥ ४ ॥
उदरकृते यदि जडमते ! ध्रियते नटचर्यापि ।
वयसि गते हरिहरकृते किं ह्रियते नामापि ? ॥ ५ ॥
जननावधि जननायकानभिसरसे रभसेन ।
सपदि जगन्नायकमिमं किं नाश्रयसि रसेन ? ॥ ६ ॥
न खलु फल्गु घटनापरो भटनागरमाधेहि ।
अलं मूढ ! नटनाशतैर्नटनागरमादेहि ॥ ७ ॥
अघतरुणा गुरुणाऽऽवृतं भवाँस्तु मां नेक्षेत ।
करुणामय ! तरुणापि ते करुणा किमुपेक्षेत ? ॥ ८ ॥

भवाम्बुधिगते (मयि) । जगत् जीवयतीति जगज्जीवः तत्सम्बुद्धिः । जीवनरूपा तरिः नौका ॥ १ ॥ त्रिविधतापरूपः तपनः सूर्यः तस्यच्छटा दीप्तिः (आतपः) । श्यामलघटा (श्रीकृष्णः) सूर्यातपहरणे मेघघटा प्रसिद्धा ॥ २ ॥ यः पीनो जनः स दीन इति कथं व्यपदिश्येत (व्यवह्रियेत) । आमृश्येत स्पृश्येत (प्राप्येत) ॥ ३ ॥ पवनेन ईरिते प्रेरिते (प्रवर्द्धिते) । अयमहम् । हे करुणायाः अवने भूमे ! अवने रक्षणे तदर्थं कं कलयामि अन्विष्यामि ॥ ४ ॥ हरेः हरस्य च कृते नामापि ह्रियते नाममात्रमपि परिह्रियते, भगवतो नामजपोऽपि न क्रियते ? ॥ ५ ॥ जननायकान् समाजनेतॄन् राजादीन् ॥ ६ ॥ फल्गु० निरर्थकसंघटनातत्परः ।

भटेषु नागरं चतुरं राजादिकं न खलु आधेहि स्वामित्वे स्थापय । नटानां नागरं श्रीकृष्णम् ॥ ७ ॥ गुरुणा महता अघ (पाप)- रूपेण तरुणा आच्छादितम् । भवान् पुराणपुरुषः, दृष्टौ मन्दता सम्भाव्यते किंतु तरुणा नववयस्का (सर्वदा उद्धारे अनलसा) करुणापि किम् उपेक्षेत ? अपितु नोपेक्षेत । नववयस्काया दृष्टिः प्रबला भवति ॥ ८ ॥

भयंकर भवसागरमें पड़े हुए (मुझ) पर यदि आपकी दया होती है तो तभी हे जगज्जीव ! यह जीवनरूपी नौका पार पहुँच सकती है ॥१॥ त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) ताप रूपी यह सूर्यातप विकट रूपसे उदय हो तो पीतपट धारण करनेवाली एक श्यामघटा (श्रीकृष्ण) उस संकटसे बचा ले ॥ २ ॥ जगत्में पापोंसे पीन (पुष्ट) हुआ भी क्या दीन कहा जायगा ? फिर हे दीनदयालु ! आपकी यह दया मुझको कैसे प्राप्त होगी (दीनपर दया होती है, मैं तो पीन हूँ; फिर दया कैसी । किंतु नहीं, पापपीनतासे मैं दीन होनेके कारण दयाका और भी अधिक अधिकारी हूँ—यह व्यङ्ग्य है) ॥ ३ ॥ भवाटवी (संसाररूपी वन) में प्रचण्ड पवनद्वारा पोषित वनाग्निमें यह मैं गिर रहा हूँ । हे करुणासागर! मेरी रक्षाके लिये इस भुवनमें किसको खोजूँ? ॥४॥ अरे मूढ़मति मञ्जुनाथ ! यदि इस पेटके लिये नटकी चेष्टा भी करनी पड़ती है तो इतनी आयु बीत जानेपर श्रीहरि एवं भगवान् शिवके लिये क्या नाम लेना भी छोड़ दोगे ? पेटके लिये यदि इतने नाच नाचते हो तो भगवान्के लिये क्या उनका नाम-स्मरण भी न होगा, सो भी इस वृद्ध अवस्थामें ? ॥ ५ ॥ जन्मसे लेकर आजतक बड़ी उतावलीसे इन जननायकों (लोकनेताओं) की अगवानी करते रहे हो ? अब इस जगन्नायक (भगवान्) का प्रेमसे आश्रय क्यों नहीं लेते ? ॥ ६ ॥ निरर्थक कामोंमें लगे रहकर योद्धाओंमें श्रेष्ठ राजादिको स्वामिपदपर मत बिठाओ । अरे मूढ़ मन ! सैकड़ों प्रकारकी नटचेष्टाएँ छोड़कर नटनागर (श्रीकृष्ण) का आश्रय लो ॥ ७ ॥ धीरे-धीरे वृद्धिगत पापरूपी पादपसे ढके हुए मुझको कदाचित् आप चाहे न देख सकें, किंतु हे करुणामय ! आपकी यह

तरुण (नित्यनवीन) करुणा भी क्या मेरी उपेक्षा कर देगी ? (आप पुराण पुरुष हैं, इसलिये पेड़से ढके हुए मुझको कदाचित् न भी देख पायें; किंतु आपकी करुणा भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सदा नवीन बनी रहती है, ऐसी दशामें क्या नवीन अवस्थावाली करुणा देवीकी पैनी दृष्टि भी मुझपर नहीं पड़ेगी ? आपकी करुणा अवश्य मेरा उद्धार करेगी, यह व्यङ्ग्य है) ॥ ८ ॥

क्रूरकुकृतिकलुषाशयान् कुसृतिपरानपि पासि ।
करुणावरुणालय ! कथं मादृशमहह जहासि ॥ ९ ॥
उन्मङ्क्तुं विवलन्नतलभवजलधौ मज्जामि ।
नाथ ! पुरा प्रोद्धृतगजं भुजं तमिह मृगयामि ॥ १० ॥
जीवयसे जडजङ्गमानधमानुद्धरसीह ।
विरुद्धमिदं किमु नाविदं ? सविधं नैषि निरीह ! ॥ ११ ॥
नहि भुक्तिं मुक्तिं न खलु यदुनायक ! याचामि ।
भक्तिं तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि ॥ १२ ॥
कः शमयति मम वेदनां कः कलयति हृद्गामि ।
नाथ ! त्वं कथयाधुना कथया कं व्यथयामि ॥ १३ ॥
भीमभवाम्बुधिमातरन्मा संशयमायाहि ।
सलिलोपरि तारितशिलं ह्यविलम्बितमुपयाहि ॥ १४ ॥
करितो गुरुता नास्ति मे गिरितो गुरुता नैव ।
गिरिधर तेन भुजेन मे भुजमुद्वह दययैव ॥ १५ ॥

कुकृतयः—कुत्सिता कृतिर्येषां ते । कुसृतिपरान् कुमार्गलग्नान् ॥ ९ ॥ उन्मङ्क्तुं विवलन् बहिर्निस्सर्तुं विचेष्टमानः । अतले अगाधे । प्रोद्धृतः गजेन्द्रो येन तम् ॥ १० ॥ हृद्गामि हृद्गतं दुःखम् । एवमसाध्यपरिस्थितौ आत्मकथया कं व्यथयामीति त्वं कथय ॥ १३ ॥ भवसागरतरणे संशयं मा कुर्याः येन पर्वतशिला अपि तारितास्तस्य मनुष्यतारणं किं कठिनम् ॥ १४ ॥ गिरिधर ! येन गिरिरपि धारितः स त्वम् ॥ १५ ॥

क्रूर, कुकर्मी, मलिन अन्तःकरणवाले, कुमार्गगामी—सबकी आप रक्षा करते हैं; फिर हे दयासागर ! मेरा परित्याग क्यों करते हैं ॥ ९ ॥ इस अथाह भवसागरमें ऊपर आनेके लिये तड़फड़ाता हुआ भी मैं डूबता ही जा रहा हूँ । अपने उद्धारके लिये मैं उसी भुजाको खोज रहा हूँ, जिसने गजराजको भी उबार लिया था ॥ १० ॥ अरे निरीह ! आप जड और चेतन सभीको जीवनदान देते हैं, अधमोंका भी उद्धार करते हैं—क्या यह आपकी कीर्ति मैंने नहीं जानी है ? फिर मेरे पास क्यों नही आते ? (जब जड-अधमादिपर भी आपकी दया होती है, तब मुझसे क्यों किनारा करते हो ? आप तो 'निरीह' हैं, किसीसे बदलेकी तो आशा रखते नहीं । फिर इस अधमका उद्धार करनेमें आप क्यों ऊहापोह कर रहे हैं ?)॥ ११ ॥

हे यदुनायक ! न तो मैं भोग चाहता हूँ और न मोक्ष ही माँगता हूँ । मुझे तो अपने चरणकमलोंकी भक्ति (दृढ़ अनुराग) दीजिये, मैं आपकी शरणमे आया हूँ ॥ १२ ॥ मेरी वेदना (आन्तरिक पीड़ा) को दूसरा कौन शान्त कर सकता है, मेरे मनकी बातको कौन जानता है ? हे नाथ ! अब आप ही बताइये कि ऐसी दशामें अपनी करुण कथा कहकर आपके अतिरिक्त और किसको व्यथित करूँ ? ॥ १३ ॥

अरे मन ! इस भयंकर भवसागरके पार करनेमें तुम संदेह मत करो । जलपर बड़ी-बड़ी शिलाएँ भी जिसने तिरा दीं, बिना विलम्बके उसकी शरणमें चले जाओ । (जब वह पत्थर भी तिरा देता है, तब मनुष्यके तर जानेमें संदेह क्यों ? । निःसंशय होकर आश्रय लेनेपर वह अवश्य तुमको भी तिरा देगा, यह व्यङ्ग्य है) ॥ १४ ॥ 'करि तें भारी नाहि हौं गिरि तें भारी नाहिं । गिरिधारी वा बाँह सौं गहियो मेरी बाँह ॥' 'गिरिधर' पदसे ध्वनित किया गया है कि जब हाथपर पहाड़ उठानेकी ही नहीं, कई दिनतक लिये रहनेकी भी शक्ति आपमें है, तब मुझ सरीखेको अवलम्ब देनेमें आपको क्या परिश्रम होगा ? ॥ १५ ॥

विहारिविनयवर्णिका

निन्दतु जगदिह कुटिलतामेतां जह्यां नाथ ।
सरलमनसि निवसन् व्यथां वहेस्त्रिभङ्गी नाथ ! ॥१६॥

जगत् कामं निन्दतु, अथ अथापि एतां कुटिलतां न जह्यां त्यजेयम् । यतः यदि मे मनसि कुटिलता न स्यात्, सरलता शुद्ध-चित्तता अवक्रता च स्यात् तर्हि त्रिषु स्थानेषु भङ्ग (वक्रता)-शाली त्वं तत्र निवसन् व्यथां वहेः प्राप्नुयाः । अवक्रे स्थाने अधिकरणे वक्रं वस्तु कथं पदं दध्यात् ? अवक्रे कोषे वक्रः खड्गो न तिष्ठतीति प्रसिद्धम् । दोषस्यापि गुणत्वकल्पनाल्लेशालंकारो वाच्यः । कुटिलतया सर्वैस्त्यक्तस्य दीनदयालुतया त्वमेव नाथः, इत्यादिर्व्यङ्ग्यः ॥ १६ ॥

करौ कुबत जग, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल ।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल ॥ १६ ॥

कस्य दुर्गतेर्बन्धुरसि को भवता समतारि ? ।
मुधा भ्रमसि यदुवर ! मुदा मिथ्याविरुदमधारि ॥१७॥

दुःखा गतिर्यस्य ईदृशस्य कस्य दीनस्य त्वं बन्धुः ? कः पातकी भवता अतारि उद्धृतः । हे यदुवर ! 'अहं दीनबन्धुः पतितोद्धरणः' इति कीर्तिं भावयन् मुदा मोदेन मुधैव भ्रमसि । इदं विरुदं मिथ्यैव त्वया अधारि । 'ये पूर्वं भवता तारितास्ते न वास्तवे दीनाः न च वस्तुतः पातकिनः । अहं सत्यो दीनः पातकी च । अतएव विरुद-सत्यी-करणाय ममोद्धार आवश्यकः' इत्यादिर्व्यङ्ग्योऽर्थः ॥ १७ ॥

बंधु भये का दीन के, को तारयो, यदुराय ।
तूठे तूठे फिरत हो, झूँठे विरद कहाय (बुलाय) ॥ १७ ॥

दीनरवे कियदाह्वयं न हरेऽवितुमागामि ।
जगदीशोऽपि जगद्गुरुर्जगद्वायुनाऽऽक्रामि ॥ १८ ॥

दीनतापूर्णे स्वरे कियत् त्वाम् आह्वयम्, तथापि माम् अवितुं भवता न आगामि मम सहायो भवितुं भवान् न आगतः । जगतो गुरुः, जगतः स्वामी भवानपि जगतो वायुना प्रभावेण आक्रान्तः । 'गुरोः प्रभावः शिष्ये, स्वामिनश्च सेवके भवति' किंतु इतो विपरीतमजनीति मन्दभाग्यस्य मेऽदृष्टम् । परं भवान् शरणागतेभ्योऽभयदानप्रतिज्ञाशाली 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥' अतएव सर्वसमर्थस्य ते नैवं स्यादित्यादि व्यङ्ग्यम् ॥ १८ ॥

कब कौ टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय ।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जग नायक, जग बाय ॥ १८ ॥

प्रत्ययमिह यदि यदुपतिः सम्पदमृतेऽपि पाति ।
तर्ह्येतामवगुणभृतां को मनसाप्युपयाति ॥ १९ ॥

सम्पदम् धनसम्पत्तिम् ऋते विनापि यदि यदुपतिर्मे प्रत्ययं प्रतीतिं विश्वासं रक्षति तर्हि अवगुणपूर्णां सम्पत्तिं मनसापि को ध्यायेत्, न कोऽपि । भाषाकिंवदन्ती, न संस्कृते प्रसिद्धा । सम्पत्तेरावश्यकता संसारे प्रत्ययस्थापनाय । यदि मे प्रत्ययं भगवान्निर्वाहयेत् तर्हि सम्पत्तेः काऽऽवश्यकता । अकिंचनसहायको भगवान् सर्वभावेन मे रक्षक इत्यादि व्यङ्ग्यम् ॥ १९ ॥

तौ अनेक औगुन भरिहि चाहै याहि बलाय ।
जो पति संपति हू बिना जदुपति राखे जाय ॥ १९ ॥

मादृशदुर्मुखविमुखतोऽप्यभिमुखतामाधाय
निजकुकृतैः संकुचितमिह संकोचयसि चिराय ॥ २० ॥

निजकुकृत्यैः पूर्वमेव संकुचितम् लज्जितम् माम् अनया रीत्या चिराय अत्यधिकं संकोचयसि यत् मादृशे दुर्मुखे पापकलङ्कवशाद्-दर्शनीयमुखे तदुपर्यपि नित्यं विमुखे भवन्तं प्रति अननुकूले अपि अभिमुखतामनुकूलताम् आदधासि अभिमुखतामाधाय संकोचयसि

इति छन्दोबन्धाद् भङ्गयन्तरम् । विमुखतः इति सार्वविभक्तिकस्तसिः । भक्त्यादिगुणानां का कथा, ये विमुखाः सन्ति तानपि त्वमुद्धरसीति धन्या ते दीनदयालुतेत्यादि व्यङ्ग्यम् ॥ २० ॥

निज करनी सकुचेहि कत सकुचावत इहिं चाल ।
मोहू मे नित बिमुख त्यौं मनमुख रहि गोपाल ॥ २० ॥

निजनिजमतलग्ना वृथा न कलकलं कलयन्तु ।
सर्वैः सेव्यः स यदुपतिरेकस्त इति विदन्तु ॥ २१ ॥

नानामत (सम्प्रदाय)-वादिनो व्यर्थं कलकलं कुर्वन्ति, येन केनापि प्रकारेण सर्वेषामपि सम्प्रदायानामेको व्रजराजकिशोर एव सेवनीयः इति ते जानन्तु ॥ 'भगवान् रुचिभेदेन नानाभावनाभिरुपासमानानपि उद्धरतीत्यादि' व्यङ्ग्यम् ॥ २१ ॥

अपने-अपने मत लगे बादि मचावत सोर ।
ज्यौं त्यौं सब कौं सेइबो एकै नंदकिसोर ॥ २१ ॥

यत्नशते विहितेऽपि कः कलयतु पृथगुपपाद्य ।
मोहनरूपमिलन्मनोऽभूज्जललवणमिवाद्य ॥ २२ ॥

अनन्तयत्नैरपि 'इदं लवणम्' इति उपपाद्य (उपपत्तिं दत्वा) पृथक् कः कलयतु ? न कोऽपि समर्थः । मोहनस्य भगवतः रूपे मिलित्वा मे मनः अद्य जलगतं लवणमिव अभवत् । जले मिश्रितं तद्रूपतां गतं लवणं यथा पृथक् कर्तुं न शक्यते तथा मोहनशक्तिशालिनो भगवतो लावण्ये मिलित्वा मनोऽपि लवणगतिमगात् । लावण्ये मिलितस्य लवणगतिः स्वभावसिद्धैव । मोहनस्य रूपेण मे मनो मिलित्वा तद्रूपमभूत्, कथं पृथक्कर्तुं शक्येत' इत्यर्थः (विहारिरत्नाकरः) ॥ २२ ॥

कीनेहूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौन ।
भौ मन मोहनरूप मिलि पानी मैं कौ लौन ॥ २२ ॥

धर मालाक्षेपणिमिमां न परमुपायमवेहि ।
संतर भवसागरमिमं हरिगुणतरिमादेहि ॥ २३ ॥

जपमालारूपां क्षेपणीं 'नौकादण्डः क्षेपणी स्यात्' धर गृहाण, अपरमुपायं न जानीहि । हरिगुणगानरूपां तरिं नौकाम् आदेहि अवलम्बस्व ॥ २३ ॥

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ ।
तरि संसार पयोधि कौं, हरि नावैं करि नाउ ॥ २३ ॥

जगतो बोधयिता हरिर्नावाबुध्यत जातु ।
दृशा दृश्यते जगदियं दृक् किं दृशमुपयातु ॥ २४ ॥

न अवाबुध्यत न अज्ञायत । यया दृशा चक्षुषा जगद् दृश्यते इयं सा दृक् किं दृष्टिमुपयातु ? अपि तु न दृश्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं ।
ज्यौं आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं ॥ २४ ॥

प्रलयकारि ववृषुर्भृशं घना नभसि समवेत्य ।
गिरिं करेऽधाद् गिरिधरो हरन् हरेर्मदमेत्य ॥ २५ ॥

प्रलयकारि यथा स्यात्तथा । एत्य गोकुलवासिनां साम्मुख्यमुपेत्य हरेः इन्द्रस्य मदं हरन् गिरिम् अधात् अधरत् ॥ २५ ॥

प्रलय करन बरषन लगे जुरि जलधर इक साथ ।
सुरपति गरब हरयौ हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ ॥ २५ ॥

मोहमिहावह मोहने घनश्याममीक्षस्व ।
विहर निकुञ्जविहारिणा गिरिधरमुरसि धरस्व ॥ २६ ॥

यदि ते मोहम् ममत्वं स्नेहम् कर्तुमिच्छा तर्हि मोहने श्रीकृष्णे (मोहन इति भक्तकविपद्धत्या श्रीकृष्णे योगरूढम्) आवह कुरु [अन्ये पदार्थाः पर्यन्ते वैरस्योत्पादका बन्धकाश्च, मोहनस्तु सर्वदा मोहन इति व्यङ्ग्यम्] । यदि सतृष्णदर्शनेच्छा तर्हि घनवच्छ्यामं श्रीकृष्ण-मीक्षस्व, [दर्शनसुखकरतया प्रसिद्धो मेघः, तद्वत् कृष्णोऽपि सर्वेषां सुख-कराणां मौलिभूतः] । निकुञ्जविहारशीलस्य नित्यो विहारः कदापि

नोपराममेतीति तात्पर्यम् । गिरिधरो हि निजध्यायकस्य सर्वात्मना निर्वाहकः, येन हि गिरिं करे धृत्वा समग्रा व्रजवासिनो महेन्द्रकोपाद् रक्षिता इति तात्पर्यम् । सर्वानपि मानसेन्द्रियाभिलाषान् भगवत्येव समर्प्य, अनन्यचेतसा लीयस्वेति चरमं व्यङ्ग्यम् ॥ २६ ॥

मन मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि ।
कुंजबिहारी सौं बिहरि, गिरिधारी उर धारि ॥ २६ ॥

स्वल्पगुणैस्तुष्यति पुरा प्रकृतिः सा हि समापि ।
अद्यश्वस्तनदानिता नाथ धृता भवतापि ॥ २७ ॥

भवान् पुरा स्वल्पैरपि गुणैरतुष्यत्, पुरायोगे लट् । सा प्रकृतिः स्वभावः समाप्ता कृता व्यसारि त्यक्ता । अद्यश्वस्तनाः अद्य वा श्वो वा भवाः ये दातारस्तेषां भावः भवतापि धृतः । पूर्वं भवान् दीनदयालुतया यत्किंचिद्‌गुणैरेव भक्तेषु कृपामकरोत्, अधुना बहुगुण-शालित्वेऽपि कालविलम्बं करोषि ततश्च कृपाकरणाय बहुगुणशाल्यहमस्मीति निभृतं व्यज्यते । 'नाथ' इति सम्बोधनेन 'जगत्स्वामिनस्ते गुणानभिलक्ष्य कृपाकरणं नोचितम् । एतद्धि वणिजामिव वस्तुपरिवर्तनम्, यद्धि अन्ये देवा अपि कुर्वन्ति । किंतु भवान् निस्साधनेऽप्यनुग्रहं करोतीत्यादि । गूढं सूच्यते ॥ २७ ॥

थोरेहीं गुन रीझते, बिसराई वह बानि ।
तुमहूँ कान्ह मनौ भए आज काल्हि के दानि ॥ २७ ॥

लक्षसहस्राण्यर्जयतु कोटिं कोऽपि दधातु ।
सम्पत्तिर्मम यदुपतिर्हरन् विपत्तिं भातु ॥ २८ ॥

लक्षाणि च सहस्राणि च । दधातु गृहे स्थापयतु । विपत्तिपरि-हाराय लोका धनसंग्रहं कुर्वन्ति किंतु तद्धनं सान्तम्, चौरादिभिर्हार्यं च । किंतु मम सम्पत्तिभूतो हरिर्नित्यः सदा मे आपत्तिहरणे सज्जश्च । कष्टसंगृहीतो निधिरिव मे हरिः प्रेमास्पदमित्यादि ध्वन्यते ॥ २८ ॥

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार ॥ २८ ॥

मोहनमूर्तेर्यदुपतेरद्भुतगतिराभाति ।
मनसि वसति तदपि स जगति प्रतिबिम्बितमुपयाति ॥ २९ ॥

मोहिनी मूर्तिर्यस्य तस्य । मनसि वसन्नपि स जगति प्रतिबिम्बनमुपयाति, जगद्वर्तिषु सर्वेषु पदार्थेषु निजप्रतिबिम्बं दर्शयति । यः पदार्थः कस्यचिदन्तः प्रविष्टो भवति तस्य प्रतिबिम्बो बहिर्न प्रतिफलति, किंतु मानसस्य अन्तर्निवसतोऽपि हरेः प्रतिबिम्बो बहिः सर्वस्मिन्नपि जगति पतति, इत्येव अद्भुता गतिः । मोहनमूर्तिरितिपदेन हरेस्तथा मोहिनी शक्तिर्यस्याः हृदयस्यान्तः स्थापनेन मानसं तथा मोहितं भवति यथा सर्वं जगत् श्यामसुन्दरमयमवलोकयति । तन्मयो भूत्वा भक्तो जगद्बन्धाद्विमुक्तो भवतीत्यादि व्यज्यते ॥ २९ ॥

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ।
बसत सुचित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ ॥ २९ ॥

भवसागरमिममुत्तरन् को हि पारमुपयाति ।
स्त्रीछविछायाग्राहिणी मध्य एव गृह्णाति ॥ ३० ॥

सिंहिकानाम्नी काचिद् राक्षसी आत्मन उपरि गच्छतो यस्य कस्यचित्पक्ष्यादेः प्रतिबिम्बं छायाम् आदाय तद्द्वारैव तं पदार्थमाकृष्य भक्षयति स्म, या हि रामावतारे समुद्रं तरता हनुमता समापि । स्त्रियाः शोभा भवसागरमुत्तरन्तं मध्य एव गृह्णाति, ततश्च यो हि हनूमानिव संयतेन्द्रियो बलवांश्च भवेत् स एव तां पराजित्य पारगामी भवतीति सूच्यते । 'छविछायाग्राहिणी' । अत्र तुगागमो भाषानुरोधान्न कृतः। 'आगमशास्त्रमनित्यमिति' वा व्याकरणानन्यभक्तैः शरणीकरणीयम् ॥ ३० ॥

या भव पारावार कौं उलँघि पार को जाय ।
तिय छबि छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आय ॥ ३० ॥

प्रलयरोपिकोपावृतं पुरुहूतं प्रलुलोप ।
गोगोपीगोपालकान् गिरिधर एव जुगोप ॥ ३१ ॥

प्रलयं रोपयति करोति ईदृशेन क्रोधेन आवृतम् । लुलोप लुप्तमकरोत्, पराजित्य द्रावयामास । तौदादिकाल्लुम्पतेर्लिट् । गिरिसदृशं दुरुद्धरं धृत्वापि ररक्षेति 'गिरिधर' पदेन सूच्यते । ततश्च भक्तवत्सलः सर्वसमर्थश्च स एव सर्वात्मना सेव्य इति चरमं ध्वन्यते ॥ ३१ ॥

लोपे कोपे इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल ।
गिरिधारी राखे सबै गो, गोपी, गोपाल ॥ ३१ ॥

नायमन्यसमयः सपदि तं नाविकमन्विष्य ।
सागरपारं योऽनयत् प्रस्तरतरौ निवेश्य ॥ ३२ ॥

अन्यः साधारणः अयं समयो नास्ति, अधुना भवसागरपारगमनाय तं कर्णधारमन्विष्य गवेषय, यो रामावतारे पाषाणरूपायां तरौ नौकायां निवेश्य वानरभल्लूकादीन् सागरपारमनयत् ॥ ३२ ॥

यह बिरिया[1] नहिं और की तू करिया[2] वह सोधि ।
पाहन नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि ॥ ३२ ॥

येन पतिततितिरुदतरद्धृदि तदेव कलयाथ ।
मम हि गुणागुणगणमिमं गणय न गोपीनाथ ॥ ३३ ॥

हृदि कलितेन येन वस्तुना (दयारूपेण) पतितानां ततिः समूहः उदतरद् भवसागरमुदलङ्घयत्, अथ तदेव हृदि कलय कुरु । यदि गुणावगुणानां गणनां करिष्यसि तर्हि अवगुणपूर्णस्य ममोद्धारोऽसम्भवः, किंतु दयामेव मनसि स्थापयेर्यद्वशात्पूर्वमधुना च पातकिनामुद्धारोऽभवद्भवेच्च । 'गोपीनाथ' पदेन व्रजवासिनो यथा सर्वापद्भ्यो रक्षणपूर्वं

---

१. बिरिया=बार । (बिहारीरत्नाकर) । २. करिया=कर्ण (नौकादण्ड, अतएव नौकाचालक कर्णधार) । उसका धारण करनेवाला 'केवट' भी करिया ।

दयया सर्वथा उद्धृतास्तथाहमपि वाञ्छामीति ध्वन्यते। 'इमम्' इत्यनेन प्रत्यक्षो मेऽवगुणराशिरिति सूच्यते ॥ ३३ ॥

कीजै चित सोई, तरे जिहिं पतितन के साथ।
मेरे गुण औगुन गन गनौ न गोपीनाथ ॥ ३३ ॥

यत्र यत्र तिष्ठन् हरिः सुभगशिरोमणिरैक्षि।
गतेऽपि तस्मिन् स्थलमिदं दृशं हरत् समवैक्षि ॥ ३४ ॥

यस्मिन् यस्मिन् स्थाने तिष्ठन् हरिः ऐक्षि ईक्षितः (ईक्षतेः कर्मणि लुङ्)। सुभगानां सुन्दराणां शिरोमणिः। तस्मिन् (हरौ) मथुरां गतेऽपि। तत् स्थानं क्षणकालाय दृष्टिम् आकर्षत् समवैक्षि विलोकितम्। हरेः सुभगतामाहात्म्यात्तस्य स्थितिस्थलमपि तथा रमणीयं भवति यथा तद्दर्शनाय स्वतो दृष्टिराकृष्टा भवति ॥ ३४ ॥

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्याम सुभग सिरमौर।
बिनहूँ उन छिन गहि रहत दृगनि अजौं वह ठौर ॥ ३४ ॥

वारसहस्राण्ययि हरे! विनतिमिमां कलयेय।
यथा तथा बत निर्वहन् राजसभां सेवेय ॥ ३५ ॥

सहस्रवारान् इमां विनतिं नम्रतापूर्विकां प्रार्थनां करोमि यद् येन केनापि प्रकारेण भवतो राजसभायां (दरबारे) निर्वाहं कुर्वन् पतितः स्यां न तु ततो बहिर्भूतः। नाहं मुक्तिं दिव्यलोकादिकं वा वाञ्छामि किंतु भवतश्चरणतलपतित एव सर्वदा स्याम्, कामं मे पातकविचारेण भवतोऽनुग्रहस्य पूर्णत्वाभावादादरोऽनादरो वा भवेदिति तात्पर्यम् ॥३५॥

हरि! कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहि भाँति डरयो रहौ परयौ रहौं दरबार ॥ ३५ ॥

सो०—**त्यज तीर्थान्यनुरागमय हरिराधातनुरुचौ।**
प्रतिपदमयति प्रयाग इह व्रजकेलिनिकुञ्जपथि ॥ ३६ ॥

तीर्थानि त्यज, हरिराधयोस्तनुरुचौ शरीरकान्त्याम् अनुरागम्

---

१. सार्थ (संस्कृत)।

अय प्राप्नुहि (कुरु)। ययोः (हरिराधिकयोः) व्रजस्य केलि (विहार)-निकुञ्जानां पथि मार्गे प्रतिपदम् (प्रत्येकचरणे) प्रयाग-तीर्थम् अयति प्राप्नोति (भवति)। अन्यतीर्थोपगमनस्य परिश्रमं मुधा किं कुरुषे, श्रीकृष्णराधिकयोः श्रीअङ्गानां कान्त्यामेव अनुरज्य, राधा-कृष्णावेव सेवस्वेत्यर्थः। व्रजभूमौ निकुञ्जकेल्याः समये ययोः प्रतिपद-विन्यासे तीर्थराजः प्रयागः स्वयमुपगच्छति। श्रीकृष्णराधिकयोर्ध्यान-पूर्वकमनुरागे कृते व्रजस्य प्रत्येकपदे प्रयागराजोपगमनस्य फलं प्राप्यते, किं मुधा एकैकतीर्थसेवनश्रमेणेति सूच्यते। किञ्च—हरेश्छविः श्यामा सा यमुना, राधाया गौराच्छविर्गङ्गा। तयोरनुरागश्च मध्ये सरस्वती (कविसमये अनुरागस्य सरस्वत्याश्च रक्तवर्णत्वात्)। ततश्च प्रयागस्य त्रिवेणी स्वयमेषा उपस्थिता, किं मुधा तत्र तत्र चरणचङ्क्रमण-श्रमेणेति गूढं ध्वन्यते ॥ ३६ ॥

तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति कर अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुञ्ज मग पग पग होत प्रयाग ॥ ३६ ॥

दो०—हृत्स्नानागारं वहे तापत्रयात् प्रताप्य।
इदमुपेत्य कुहचिद्धरिः स्विद्यति पुलकमवाप्य ॥ ३७ ॥

आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकेति तापत्रयात् प्रताप्य इदं हृदयरूपं स्नानागारं वहे रक्षामि। (हरेरागमनाय मया सज्जीकृतम्)। यदि कदाचिद् हरिः इतः समुपगच्छेत्तर्हि इदं स्नानागारं उपेत्य प्राप्य उष्णतावशात् पुलकं रोमाञ्चं प्राप्य कदाचिद् हरिः स्विद्यति ('पसीजैं'—हिंदी) अर्थात् मयि करुणार्द्रो भवेत्। अतिकठोरपुरुषस्य स्वेदनेन 'पसीजना', शिथिलीभावः मृदुभावो लक्ष्यते भाषायाम्। तदनुसारेण—'मम हृदयं पूर्णतया नानासंतापैः संतप्तम्, अत एव यवनसम्राजां स्नानागारे ('हम्माम') इव कदाचिद्धरिश्चेत् प्रविशेत् (अर्थात् यदि मम ध्यानवशाच्चेतसि संचरेत्) तर्हि तप्तस्य मे दीनतां दृष्ट्वा कदाचिन्मयि करुणार्द्रः सन् ममोद्धारं कुर्यादिति गूढं ध्वन्यते ॥ ३७ ॥

मैं तपाय त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमाम।
मति कबहुँक आयें यहाँ पुलकि पसीजैं स्याम ॥ ३७ ॥

समयात् प्रकृतिविपर्यये कः शीलं न जहाति।
करुणां करुणाकृज्जहौ कुमतिकलावुपयाति ॥ ३८ ॥

समयात् समयस्य परिवर्तनेन प्रकृतेः स्वभावस्य परिवर्तने सति कः पुरुषो निजमाचरणं न त्यजति। (यतः) कुत्सितमतिशालिनि कलिकाले उपयाति आगच्छति सति करुणाकरो हरिरपि करुणां जहौ तत्याज। हरिः सर्वदा करुणाकर इति प्रथितः, किंतु साम्प्रतं मम दुर्दशां दृष्ट्वापि न मय्यनुकम्पां करोति। अतएव कलिसमयवशाद् हरेरपि स्वभावपरिवर्तनं जातमित्यर्थः। अनेनोपालम्भेन 'हे हरे ! नाहमधिकं कालविलम्बं सहे साम्प्रतं निजदयास्वभावाद्यैव मयि करणीयेति ध्वन्यते ॥ ३८ ॥

समै पलट पलटै प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुना करौ इहिं कपूत[1] कलिकाल ॥ ३८ ॥

यथा भवेयं स्यां तथा नाथ निजाचरितेन।
अतिकठिनं मम तारणं किं गोपाल हठेन ॥ ३९ ॥

हे नाथ ! निजेनाचरितेन अहं यथा भवितुं योग्यः स्यां तथा भविष्यामि। निजाचरितानां शुभाशुभं फलमहं स्वयं भोक्ष्ये इत्यर्थः। मम तारणम् उद्धरणम् (कर्मबन्धनाद्विमोक्षः) अतिकठिनम्। अतएव मम तारणे हठं मा कुरु [मम पातकानि तादृशानि येषामग्रे पूर्वपातकिनां पातकानि अतिसामान्यानि। अतएव तत्तारणमात्राभ्यासिनो भवतः सकाशान्मम तारणमहं दुष्करं मन्ये। प्रणयभाजनं श्रीमानस्मिन् कर्मणि

---

१. अस्य 'कुपुत्र' इत्यर्थः कैश्चित्कृतः, किंतु कलिविशेषणतया नात्र स्वारस्यम्। अतएव—(१) ला० भगवानदीनादिभिः स्वीकृतः 'कुपूत'—कुत्सितपवित्र अपवित्र इत्यर्थः। २. कुप्रकृति इत्यस्य प्राकृते 'कु पउति', अपभ्रंशे 'कु पोत' 'कुपूत' इति भवेत्। इह द्वयोरर्थयोः संग्राहकः 'कुमति' शब्दो मन्येऽनुरूप एव स्यात्।

महान्तं श्रममनुभवेदित्यपि मम नेच्छा। ततश्च यदि मे तारणेच्छा तर्हि महापातकिनो ममोद्धारे महदवधेयमिति ध्वन्यते]॥ ३९ ॥

ज्यौं ह्वैहौं, त्यौं होंउगौ हौं हरि अपनीं चाल।
हठ न करौ, अति कठिन है मो तारिबौ गुपाल॥ ३९ ॥

भूरि कृतज्ञो नाथ मम सम्यक् सुदशाकारि।
भवता भवतारण ! कृतिर्यन्मम सूक्ष्ममधारि॥ ४०॥

हे भवतारण हे संसारोद्धारक ! मम कृतिः ममाचरणं यद् यदि भवता सूक्ष्मतया अधारि अवधारितं दृष्टम्, तर्हि हे नाथ ! भवता मम सुदशा सम्यक् अकारि ! ममोद्धारः सम्यग् व्यधायि इति काकुः। एतत्परिश्रमार्थम् अहं भवतः कृतज्ञः कृतज्ञतया भवतो निर्मञ्छनतामगाम्। ('मैं तुम्हारी बलिहारी गया' इति हिंदीशैली]। सेयं विपरीतलक्षणा। 'यदि भवता ममाचरणं दृष्टं तर्हि तस्यातिहीनतया मम अतिदुर्दशा भवताकारि' इति लक्ष्योऽर्थः। यदि ममोद्धरणमभीष्टं तर्हि ममाचरणोपरि दृष्टिर्न देया, 'भवतारण' विरुदेन भवता दयावशादेवमेवोद्धारः कर्तव्य इति व्यङ्ग्यम्॥ ४०॥

तौ बलियै, भलियै बनी, नागर नंदकिसोर।
जो तुम नीकैं कै लख्यौ मो करनी की ओर॥ ४० ॥

सो०—देहि नाथ मे मुक्तिमधमसमूहे यामदाः।
बन्धे चेदनुरक्तिरथ बधान ते गुणगणैः॥ ४१॥

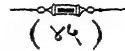
हे सर्वसमर्थ (अधमोद्धारक) ! यथा अनेकेभ्योऽधमेभ्यः पूर्वम् अदाः दत्तवान् तां मुक्तिं मह्यमपि देहि। चेत् मम बन्धने एव भवतः संतोषस्तर्हि ते गुणगणैर्बधान। सगुणस्वरूपस्योपासनायां मां योजयेत्यर्थः। [बन्धने गुणस्य (रज्ज्वाः) अपेक्षा अतएव ते गुणैर्मां बद्धं कुरु इति श्लेषोऽपि]॥ ४१ ॥

मोहू दीजै मोष, ज्यौं अनेक अधमन दियो।
जो बाँधैं ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुनन॥ ४१ ॥

दो०—स्पर्द्धा बद्धा त्वयि च मयि कोऽभिजयेदधुनाथ ।
निजनिजविरुद्दनिवाहने द्वावपि निरतौ नाथ ॥ ४२ ॥

हे नाथ ! त्वयि मयि च (तव मम च मध्ये) स्पर्द्धा बद्धा दृढीभूता । अथ अधुना दृश्यताम्, को जयेत्, द्वयोर्मध्ये को विजयशाली भवति । निजनिजविरुदस्य निजनिजपूर्वप्रशस्तेः लज्जा-निर्वाहे त्वम् अहं चेति द्वावपि तत्परौ । मम विरुदं पतितः अधमः इत्यादि । अतएवाहं निजनामरक्षार्थं पतितकर्तव्यानि न त्यजेयम् । भवतो विरुदं 'पतितपावनः' इति, अतएव भवानपि मम पातकानि संनाश्य मां पावयितुं प्रयतेथाः । अतएवाधुना द्रष्टव्यम्—पराजिततया पातकादहं विरतो भवामि, अथवा दुष्करमिति कृत्वा ममोद्धरणाद्भवान् उपरतो भवतीति । यदि सत्यो भवान् पतितोद्धारकस्तर्हि पूर्णपातकिनोऽपि ममोद्धारः कर्तव्य एवेति व्यङ्ग्यम् ॥ ४२ ॥

मोहि तुम्हें बाढी बहस, को जीतै जदुराज ।
अपने अपने बिरद की दुहू निबाहन लाज ॥ ४२ ॥



(४५)

सोरठासमुदयः

काव्यकल्पनाकारु कृपयतु मयि तेजः किमपि ।
मनसि चकासतु चारुचरणसरोरुहरेणवः ॥ १ ॥
व्रजजगतीजीवातुरातुरहृदयरसायनम् ।
मम हि शर्म निर्मातु मातुलहृदि शूलं किमपि ॥ २ ॥
यादवकुलावतंस विबुधवंशवारिधिविधो ।
मुनिजनमानसहंस कंसनिकन्दन पाहि माम् ॥ ३ ॥
सुहृदो मेऽपसरन्तु सन्तु सुखं विमुखाः परे ।
किंतु नाथ न हरन्तु गन्तुकाममेता दृशः ॥ ४ ॥
कामं मां क्लिश्नन्तु भवतापाः पापानुगाः ।
अङ्के मां कलयन्तु पङ्केरुहसरसा दृशः ॥ ५ ॥

यच्छसि यदुवर यर्हि गर्हितगुहसदृशोऽपि शम्।
दीने दिशसि न तर्हि बर्हिपक्षधारिन् दृशम्? ॥ ६ ॥
स्वैरमिदं मे देहि देहिषु दूषितमपि पदम्।
एकमिदं प्रविधेहि धेहि दयादृष्टेर्लवम् ॥ ७ ॥
अधमतमेषु निषीद सीदति किं ते मानसम्।
मञ्जुनाथ न विषीद यदि सिध्यति पत्युः कृपा ॥ ८ ॥
जिह्वायां तव नाम चरणरेणुरूषितमुरः।
वसतिरपि व्रजधाम धन्यानामन्ते भवति ॥ ९ ॥
कपटैर्जन्म जगाम, कामपि सुकृतिं न कृतवान्।
किंत्वन्ते तव नाम जपति जिह्वया जय्यसौ ॥ १० ॥

काव्यकल्पनायां कारुशिल्पि तेजः सरस्वती। कृपयतु कृपां करोतु ॥१॥ जीवातुर्जीवनौषधम्। मातुलः कंसः ॥ २ ॥ विबुधा देवास्तेषां वंशोन्नायक! ॥ ३ ॥ गन्तुकामं परलोकं गन्तुमिच्छन्तम् मुमूर्षुम् एतास्तव दृशः न परिहरन्तु ॥ ४ ॥ पङ्केरुहवत् सुभगाः भगवतो दृष्टयः ॥ ५ ॥ यर्हि यदा गुहो व्याधराजः। तर्हि दीने न दिशसि? अपि त्ववश्यं दिशसि, काकुः ॥ ६ ॥ पदं स्थानं (जन्म) ॥ ७ ॥ मानसं किं सीदति खिद्यते, खेदो न योग्यः। यदि स्वामिनो दया भवति ॥ ८ ॥ रूषितं लिप्तम् ॥ ९ ॥ अन्ते चेत्तव नाम जयति असौ जयी ॥ १० ॥

काव्यरचनाका शिल्पी (कारीगर) कोई एक तेज [उपास्य देवता] मुझपर कृपा करे और चित्तमें सुन्दर चरण-कमलके पराग प्रकाशित हों ॥ १ ॥ व्रजभूमिका जीवनौषध, आतुर हृदयोंके लिये रसायन, अपने मामाके हृदयका शूल (श्रीकृष्ण) मेरा कल्याण करे ॥ २ ॥ यादवकुलके भूषण, देवकुलरूपी समुद्रके चन्द्र, मुनिजनोंके मनरूपी मानसरोवरके हंस, हे कंसनिकन्दन! तुम हमारी रक्षा करो ॥ ३ ॥

मित्र चाहे दूर हो जायँ, और लोग भी भले ही विमुख हो जायँ

किंतु हे नाथ ! जाते हुए इस दीनको आपकी कृपादृष्टियाँ न छोड़ें ॥४॥ पापके अनुगामी ये सांसारिक क्लेश मुझको यथेच्छ पीडा दिया करें, किंतु कमलसदृश आपकी कृपादृष्टि मुझको गोदमें लिये रहे। 'अचेतन दृष्टिकी गोद' कहनेका यह व्यङ्ग्य है कि औरोंके कष्ट देनेपर माता अपने बच्चेको गोदसे अलग नहीं करती, इसी तरह माताके समान आपकी दृष्टि कभी मुझको अलग न करे। ॥ ५ ॥ हे यदुनाथ ! जब गुहसदृश नीचपर भी कल्याणकी कृपा हो जाती है, तब फिर हे मयूरपक्षधारी ! इस गरीबपर दृष्टि क्यों नहीं देते ? ॥ ६ ॥

देहधारियोंमें खराब-से-खराब स्थान दे दीजिये; किंतु एक व्यवस्था कर दीजिये कि मुझपर कृपादृष्टिकी कोर डाल दें ॥७॥ अधम-से-अधमोंमें जा बैठो, तुम्हारा मन क्यों दुखी होता है ? मञ्जुनाथ ! तुम उदास मत होओ, यदि तुम्हारे ऊपर स्वामीकी कृपा हो जाती है ॥ ८ ॥ अन्तकालमें बड़भागियोंकी जिह्वापर आपका नाम, वक्षःस्थलपर आपके चरणारविन्दकी धूलि और व्रजधाममें निवास होता है ॥ ९ ॥ (किसीका) छल-कपटोंसे जन्म बीता हो, (उसने) कभी कोई अच्छा काम भी न किया हो, किंतु अन्तमें यदि जिह्वासे वह आपका नाम जपता है तो विजयी है—उसने संसारको जीत लिया ॥ १० ॥

भ्रान्तं भवविगमाय न श्रान्तं क्षणमेकमपि।
यान्तं त्वदुपगमाय तान्तं किं विरुजसि विभो ॥ ११ ॥
निगमगेयगुणधाम कामकोटिलज्जकवदन।
मञ्जुलमेघश्याम मामपनय पथतोऽपनय ॥ १२ ॥
वाचं विनियच्छामि कामं भ्रामय मां भवे।
किंतु यत्र गच्छामि तत्र नाथ ते स्यामहम् ॥ १३ ॥
सोऽयं सुचिरायाथ कथमुत्पथगामी भवेत्।
अन्तर्यामी नाथ ! लब्धः स्वामी चेद् भवान् ॥ १४ ॥
दुर्गतदुःखनिकन्द कन्दति मन्दोऽयं चिरात्।
किं दयसे न मुकुन्द कुन्दविनिन्दिकया दृशा ॥ १५ ॥

गोपगृहेभ्यो येन नीतं नवनीतं पुरा।
तेन चित्रचरितेन भुवि नीता गीताद्भुतम् ॥ १६ ॥
यदि मधुरिमलवलेहि मञ्जुनाथ मानसमिदम्।
तर्हि दृशं विनिधेहि मधुसूदन मुखपङ्कजे ॥ १७ ॥
सत्सङ्गो ह्यविराममखिलकामनानां लयः।
धन्यानां धृतिधाम तव नामस्मृतिरन्तिमा ॥ १८ ॥
मयि साम्मुख्यसमेतमेतदेव दयतां भवान्।
मरणे मम विहरेत चेतसि ते चरणे रतिः ॥ १९ ॥

भवस्य संसारस्य विगमाय निवृत्तये। त्वदुपगमाय त्वत्प्राप्तये यान्तं गच्छन्तम्, तान्तं खिन्नम् (इमं दीनम्) किं विरुजसि (दर्शनमदत्त्वा किं पीडयसि) ॥ ११ ॥ कोटिः कोटिसंख्या। अपनयपथतः दुर्नीतिमार्गात् ॥ १२ ॥ विनियच्छामि रुणध्मि, किंचिदपि न वदामीत्यर्थः ॥ १३ ॥ सोऽयं (ते भक्तः) ॥ १४ ॥ कन्दति क्रन्दति, दृशा किं न दयसे दृष्टिदानद्वारा दयां किं न करोषि ? ॥ १५ ॥ भुवि नयनेन गीताया दिव्यत्वम् ॥ १६ ॥ मधुरिम्णो माधुर्यस्य लवं लेढि (आस्वादयति) तच्छीलम् ॥ १७ ॥ अन्ते तव नामस्मरणं धन्यानां भाग्यवतामेव धृतिधाम धैर्याधायकं भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ मयि मां प्रति सम्मुखतां कृत्वा (मदनुकूलो भूत्वेत्यर्थः) ॥ १९ ॥

भवबन्धनको दूर करनेके लिये खूब घूमा, एक क्षण भी विश्राम न लिया। अब हे प्रभु ! आपकी प्राप्तिके लिये जाते हुए इस बेचारे खिन्नको क्यों पीडा देते हो ॥ ११ ॥ आपके गुण और धामोंका वेद भी गान करते हैं, आपका मुख कोटि कामदेवोंको भी लज्जित करनेवाला है; हे सुन्दर मेघकी तरह श्याम भगवन् ! मुझको अनीतिके मार्गसे हटा दीजिये ॥ १२ ॥ लीजिये, यह जबान बंद करता हूँ, मुझको इस भवमें यथेच्छ भ्रमण कराइये। किंतु जहाँ (भी) जाऊँ, वहाँ हे नाथ ! मैं आपका (ही) होकर रहूँ ॥ १३ ॥ यह दास चिरकालके लिये कुमार्गगामी कैसे हो सकता है, जिसने सबका अन्तर्यामी आप-जैसा स्वामी पाया है ॥ १४ ॥ दुखियोंके दुःखको दूर करनेवाले ! यह गरीब चिरकालसे रो रहा है। हे मुकुन्द ! कुन्दको लज्जित करनेवाली दृष्टिसे (इसपर)

दया क्यों नहीं करते ? ॥ १५ ॥ जिसने ग्वालोंके घरसे पहले माखन चुराया था, आश्चर्य है कि विचित्र (असमञ्जस, परस्पर-विरोधी) आचरण-वाले उसीने इस भूमिपर गीताको उतारा ॥ १६ ॥ हे मञ्जुनाथ ! यदि (तुम्हारा) यह मन मिठासके लेशको चाटना चाहता है तो तुम (अन्य सब ओरसे दृष्टि हटाकर) मधुसूदनके मुखारविन्दपर दृष्टि दो ॥ १७ ॥ निरन्तर संतोंका समागम, सब इच्छाओंका निरोध और अन्तमें धैर्य देनेवाली तुम्हारी नामस्मृति ये (सब) भाग्यवान्के ही बाँटमें आया करती हैं ॥ १८ ॥ आप मेरे सम्मुख (अनुकूल) हैं तो इतनी मुझपर दया करें कि मरणके समय मेरे चित्तमें आपके चरणारविन्दकी प्रीति विहार करती रहे और आप मेरे सामने (दृष्टिपथमें) रहें ॥ १९ ॥

कस्य सविधमुपयामि यामिकजनविनियन्त्रितः ।
कस्य सदसि याचामि वाचा दुर्गतदीनया ॥ २० ॥
दुर्दिवसेषु दयेत को दारुणदुरिताविले ।
कस्य सदयमुदयेत दीनदुःखदमनोद्यमः ॥ २१ ॥
निस्साधननिकृतेषु केन कारुणिकता कृता ।
जात्यादिभिरधमेषु कस्य सुधावृष्टिर्भवति ॥ २२ ॥
लभते कस्य द्वारि परितापी पापी शमम् ।
अभयसत्रमाधारि केन सर्वजगतः कृते ॥ २३ ॥
पङ्क्त्यां कोऽभिससार ग्राहग्रस्तं गजपतिम् ।
लज्जां कोऽभिजहार द्रुपदसुताया नृपसदसि ॥ २४ ॥
आयुः समं समाप्य भुवि नीतो वीतोऽसुभिः ।
यन्नामामृतमाप्य चिरममरीभवति ध्रुवम् ॥ २५ ॥
नहि जहाति यो जातु जगति जिह्मगानपि जनान् ।
स ममोद्धारी भातु बर्हिपक्षधारी सदा ॥ २६ ॥
गरुडध्वज गोविन्द गोपीजनजीवननिधे ।
मधुमुरहरण मुकुन्द माधव मुरलीधर हरे ॥ २७ ॥
दनुजदर्पपरिहार दामोदर दुर्जनदमन ।
राधाप्राणाधार पीताम्बर नीरजनयन ॥ २८ ॥

कविकलया कलयामि यामिह रचनामञ्जरीम् ।
तामेतां निदधामि दामोदरपदपङ्कजे ॥ २९ ॥

यामिकजनैः द्वारपालैः विनियन्त्रितः अवरुद्धः अहं राजादेः कस्य समीपं गच्छामि ? राजादेः समीपे गमनस्यैवावसरो न भवतीत्याशयः । दुर्गता दुरवस्थापन्ना (गद्गदा) ॥ २० ॥ दुर्दिवसेषु संकटदिनेषु । दारुणैः प्रचण्डपापैः आविले मलिने (पापिनि जने) ॥ २१ ॥ निस्साधनाश्च निकृताः तिरस्कृताः च । जात्यादि० गणिका-गुह-गृध्रादिषु ॥ २२ ॥ शमं शान्तिम् । अभयसत्रम्—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम' ॥ २३ ॥ अभिजहार ह्रियमाणां प्रत्याजहार (परावर्तयामास) ॥ २४ ॥ समं सर्वम् । असुभिः प्राणैः वीतः रहितः (मृतः) ॥ २५ ॥ जिह्मगान् वक्रगामिनः (पूतनाशिशुपालादीन्) ॥ २६ ॥ दनुज०—दर्पं परिहरतीति दर्पपरिहारः (अण्) ॥ २८ ॥

द्वारपालोंसे रोका गया मैं किसके समीप जाऊँ, इस दुर्दशापन्न दीनवाणीसे किसके दरबारमें माँगूँ ॥ २० ॥ भयंकर पापोंसे गंदे मनुष्यपर खोटे दिनोंमें कौन दया कर सकता है, दीनोंके दुःख दूर करनेका संकल्प दयाके साथ-साथ किसके (मनमें) उदय होता है ॥ २१ ॥ साधनविहीन एवं नीच मनुष्योंपर किसने दयालुता दिखायी, जाति आदिके कारण अधम लोगोंपर किसकी दयारूपसे अमृतकी वृष्टि होती है ॥ २२ ॥ किसके दरवाजेपर संतापी और पापी शान्ति पाता है । सब जगत्के लिये अभयदानका सदावर्त किसने खोल रखा है ॥ २३ ॥ ग्राहके द्वारा निगले जाते हुए गजेन्द्रकी ओर पैदल कौन दौड़ा था तथा राजसभामें द्रुपदसुताकी लज्जाको किसने बचाया था ॥ २४ ॥ सम्पूर्ण आयु बीत जानेपर जो भूमिपर उतार लिया गया है, नहीं-नहीं प्राणोंसे रहित हो गया है, वह भी जिसके नामरूपी अमृतको पाकर सदाके लिये अमर हो जाता है ॥ २५ ॥ तथा जो जगत्में कुटिल मनुष्योंका भी कभी परित्याग नहीं करता, वह मयूरपक्षधारी सदा मेरा उद्धारकारी हो ॥ २६ ॥

दैत्योंके गर्वका गंजन करनेवाले ! आप कमलके समान नेत्रवाले हैं ॥ २८ ॥ कवित्वकलासे जो यह रचनारूपी मञ्जरी मैंने सम्पादित की है, उसे भगवान् दामोदरके चरण-कमलपर चढ़ाता हूँ ॥ २९ ॥

(४५)

अमृतध्वनिः

नन्दन् नन्दनिकेतने विन्दन्नखिलसुखानि ।
नन्दयतान्नन्दात्मजो भिन्दन् दनुजकुलानि ॥
भिन्दन् दनुजनिवृन्दं नगमुपखिन्दन् नखरे ।
छिन्दन् भवभयमिन्दन् जगति विरुन्धन् समरे ॥
स्पन्दद्भ्रमरममन्दद्रुमभवचन्दच्चन्दन ।
चन्द्रद्युतिमपि निन्दद्वदन विनन्दन्नन्दन ॥ १ ॥

दनुजनि (दैत्य) वृन्दं भिन्दन् नाशयन् । नखरे नगं पर्वतम् उपखिन्दन् परिघ्नन् आघट्टयन्निति यावत्, 'खिद परिघाते' तुदादिः । जगति इन्दन् परमसमर्थो भवन्, 'इदि परमैश्वर्ये' । समरे (द्रोहिणः) विरुन्धन् आक्रामन् । स्पन्दन्तः सौगन्ध्यवशात् किंचिच्चलन्तः भ्रमरा यस्मिन्नेवं यथा स्यात् तथा अमन्दद्रुमभवः अतएव चन्दन् आह्लादयन् चन्दनः अङ्गरागो यस्य, तत्सम्बुद्धौ । 'स्पदि किंचिच्चलने' अनुदात्तेत्वाद्-विकल्पेनात्मनेपदम् । विनन्दन्तः मोदमानाः नन्दनाः सूनवो यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ १ ॥

नन्दगृहमें आनन्द करते हुए, (माता-पिताके द्वारा जुटाये गये) सम्पूर्ण सुखोंको भोगते हुए और (लीलासे ही) दैत्योंको मारते हुए नन्द-नन्दन हमें आनन्दित करें—दैत्यसमूहको भेदन करनेवाले जो श्रीकृष्ण नखपर पर्वतको धारण करते हैं, तथा जो भव-भयको दूर करनेवाले, जगत्में सर्व-समर्थ और युद्धमें विद्रोहियोंको रोकनेवाले हैं । जिसपर भौंरे मँड़रा रहे हैं, ऐसे परिपुष्ट वृक्षवाले चन्दनका जिनके अङ्गराग

लगा है, जिनका मुख चन्द्रकान्तिको भी निन्दा करता है तथा जो (द्वारकामें पिता बनकर अपने) पुत्रोंको प्रसन्न रखते हैं, (हे श्रीकृष्ण !) (ऐसे आप हमारी रक्षा करें !) ॥ १ ॥

नृत्यन्मुरहरमनुसरन्नारीनूपुरनादि ।
रासमध्यमासीत् तदा गुञ्जन्मुरजह्रादि ॥
गुञ्जन्मुरजमुदञ्चिनदमखञ्जन्नवरति ।
पुष्यन्मदमतितुष्यन् हरिरविदुष्यन् विहरति ॥
चञ्चन्नयनमुदञ्चत्करुणममुञ्चन्निह चर ।
नित्यं विहर न भृत्यं परिहर नृत्यन्मुरहर ॥ २ ॥

गुञ्जन् प्रतिध्वनिं प्रसारयन् मुरजो यस्मिन् यथा स्यात् तथा । उदञ्चन् उच्चैर्व्यक्तीभवन् निनदो यस्मिन् यथा स्यात् तथा । अखञ्जन्ती न खञ्जा गतिविकला भवन्ती नवरतिर्यस्मिन् यथा तथा । पुष्यन् मदः प्रमदो यस्मिन् यथा स्यात् तथा, अतितुष्यन् हरिः अविदुष्यन् कामवैकृत्यमनुपगच्छन् (मदनविजयित्वात्) विहरति । चञ्चन्ती वात्सल्यवशाद् भक्तेषु गतिशीले नयने यस्मिन् यथा स्यात् तथा । उदञ्चत्करुणम् उदञ्चन्ती प्रस्फुरन्ती करुणा यस्मिन् यथा स्यात् तथा) भक्तं (माम्) अमुञ्चन् दूरे न कुर्वन् इह रासे चर । अन्यत् स्पष्टम् ॥ २ ॥

नृत्य करते हुए मुरारिका अनुसरण करनेवाली गोपियोंके नूपुरोंसे अनुनादित वह रासका मध्यभाग गूँजते हुए मृदङ्गकी ध्वनिसे भरा हुआ था । रासमें मृदङ्गका शब्द गूँज रहा था, संगीत-नाद ऊपर (गगनमें) प्रकटित हो रहा था, नवीन रति (प्रीति) अविकल थी । (इधर) पूर्ण प्रमोदको लिये हुए अति संतुष्ट श्रीहरि काम-विकारसे अविदुष्ट रहकर विहार कर रहे थे (क्योंकि मदनका विजय करनेके लिये ही तो यह रासलीला आपने दिखायी थी) । हे मुरारि ! (आनन्दपूर्ण) नृत्य करते हुए, नेत्रोंको हमारे ऊपर चलाते हुए, करुणाको प्रकट करते हुए तथा हमको अपनेसे दूर न करते हुए रासमें विचरें । आप नित्य विहार करें, किंतु इस दासका त्याग न करें ॥ २ ॥

(४६) हरिगीतिकादिछन्दःसंदर्भः

हरिगीतिका

वृन्दारकानतमौलिगतमन्दारवनगन्धावहा
मज्जन्मनुजवृन्दाय या सायुज्यसुखसंधावहा ।
मन्दाय मे मन्दारवन्मन्दान्यसुखपरिपाकिनी
वन्दारुभवबन्धापहा गोविन्दपदमन्दाकिनी ॥ १ ॥

देवानाम् आनतमौलिगतानां मन्दारपुष्पाणां श्रेष्ठगन्धं धारयति सा । स्नानं कुर्वते जनसमूहाय भगवतः सायुज्यसुखसंधानकारिणी । प्रणमतां भवबन्धच्छेदिनी गोविन्दचरणरूपा स्वर्गङ्गा । मूढाय मह्यं कल्पवृक्षवत् अमन्दसुखपरिपाकयुक्ता (भवतु) ॥ १ ॥

देवताओंके विनम्र मस्तकोंमें स्थित मन्दारके पुष्पोंके गन्धको धारण करनेवाली, स्नान करनेवाले मनुष्य-समूहके लिये (भगवत्) सायुज्य सुख देनेवाली, नमस्कार करनेवालोंके भव-बन्धनोंको काटनेवाली गोविन्द-चरणरूप मन्दाकिनी (स्वर्गकी गङ्गा) मुझ मन्द-बुद्धिके लिये मन्दार (कल्पवृक्ष) की तरह अमन्द सुख-परिपाकयुक्त हो ॥ १ ॥

मरहटा

अयि दीनदुःखहर सकलसौख्यकर दयया दृशमिह देहि
करुणावरुणालय जनितजनाभय सपदि सदयमवधेहि ।
पदपङ्कजसद्मनि संनतसङ्गिनि पतितमेतमवयाहि
अयि दीननाथ तव मञ्जुनाथमिममुद्धर न किल जहाहि ॥२॥

अस्मिन् दीने दयया दृष्टिं देहि । जनितं जनानां भक्तानाम् अभयं येन तत्सम्बुद्धौ । सपदि शीघ्रम्, अवधेहि अवहितो भव । सामान्यपातकी नास्मि, अतएव अवहितः सन्नुद्धारे प्रवर्तस्व । महापातकित्वं ध्वन्यते । संनतानां प्रणतानां सङ्गिनि सहायके तव पदपङ्कजरूपे गृहे पतितम् एतं (माम्) अवयाहि जानीहि । उद्धर, न जहाहि (त्यज) ॥ २ ॥

दीनोंके दुःख हरनेवाले तथा सम्पूर्ण सुखोंकी सृष्टि करनेवाले ! दयापूर्वक इधर (इस दासपर) दृष्टि डालें । हे करुणाके समुद्र ! भक्तोंको अभय देनेवाले ! कृपया थोड़ा सावधान हो जाइये (मैं साधारण पापी नहीं हूँ, अतः मेरे उद्धारके लिये बहुत सावधानीकी आवश्यकता है; क्योंकि मैं महापापी हूँ)। प्रणाम करनेवाले भक्तोंको आश्रय देनेवाले आपके चरण-कमलरूपी घरमें पड़े हुए इस (मञ्जुनाथ) को अच्छी तरह जान लीजिये । और हे दीननाथ ! अपने इस मञ्जुनाथका उद्धार कर दीजिये, टालिये मत ॥ २ ॥

चवपैया

अयि सुखलवलालस प्रियसख मानस
मम मतिरिह यदि नेया ।
तर्ह्यलमभिरामे कीलितकामे
रामे मतिरुपधेया ॥
यत्राहितचापे दनुजदुरापे
देवा दर्पमविन्दन् ।
ते कुपितकपीशा नद्धनदीशा
रावणविभवमभिन्दन् ॥ ३ ॥

मम सम्मतिर्यदि ग्राह्या तर्हि अलं सुन्दरे, अतएव नियन्त्रितकामदेवे रामचन्द्रे बुद्धिः योजनीया । दनुजैः दैत्यैः पराक्रमद्वारा दुष्प्रापे यस्मिन् देवा दर्पम् अगच्छन् । रामशौर्ये देवानां गर्वं आसीदित्यर्थः । नद्धः सेतुना बद्धः नदीशः समुद्रो यैस्ते कुपिताः कपीशाः वानरश्रेष्ठाः रावणोत्कर्षम् अचूर्णयन् ॥ ३ ॥

सुखके लेशके लिये भी मरनेवाले हे प्रियमित्र मन ! यदि तुम मेरी सम्मति लेते हो तो सुन्दरतासे कामदेवको भी लज्जित करनेवाले, सर्वाङ्ग-सुन्दर श्रीरामचन्द्रमें मति लगाओ, जो पराक्रमके द्वारा दैत्योंकी पहुँचसे बाहर हैं (दैत्य जिनके आगे पराजित हो गये); चाप (धनुष) धारण करनेवाले जिनपर देवताओंको गर्व था तथा जिनके

सेवक, समुद्रको बाँधनेवाले उन क्रुद्ध हुए वानरोंने रावणके वैभवको चूर्ण कर दिया था ॥ ३ ॥

पद्धरि

श्रीकृष्णचन्द्र व्रजपतिकिशोर
राधामुखेन्दुचञ्चलचकोर
अयि सकलसूरिगुणनीयगाथ
मम मनसि सर्वदा विहर नाथ ॥ ४ ॥

राधामुखचन्द्राग्रे चकोर ! सकलसूरिभिः कविभिः गुणनीया आवर्तनीया कथा यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ ४ ॥

व्रजराजकुमार ! राधामुख-चन्द्रके लिये अधीर चकोरसदृश श्रीकृष्णचन्द्र ! समस्त विद्वान् आपकी कीर्ति-कथाको आजतक गाते रहे हैं, नाथ ! आपसे प्रार्थना है कि मेरे मनमें सदा विहार करते रहें ॥ ४ ॥

खेलत्कलिन्दजाकूलगामि
गोविन्दचरणनलिनं नमामि ।
मकरन्दबिन्दुमधिगम्य यस्य
मुदमेति मनो मुनिमधुकरस्य ॥ ५ ॥

कलिन्दजायाः यमुनायाः कूलगतं चरणकमलम् । यन्मकरन्दस्य बिन्दुमपि प्राप्य मुनिरूपस्य भ्रमरस्य मानसम् आनन्दति ॥ ५ ॥

लहराती हुई श्रीकालिन्दीके तटपर विचरते हुए, श्रीगोविन्दके चरणरूपी कमलको मैं प्रणाम करता हूँ, जिसके मकरन्दकी एक बूँदको भी पाकर मुनिरूपी भ्रमरका मन आनन्दित हो जाता है ॥ ५ ॥

उल्लाना

सकलजगज्जीवननिधे !
मयि विधेहि करुणां विधे ! ।
चरणतले पतितं सुतं
न किमवसे दयया द्रुतम् ॥ ६ ॥

सकलजगतां जीवननिधिरूप ! हे विधायक भगवन् ! ॥ ६ ॥

सकल जगत्के जीवननिधिरूप ! हे विधानकर्ता भगवन् ! मेरे ऊपर कृपा करें। आपके चरणोंके नीचे पड़े हुए इस पुत्रकी दयासे जल्दी ही रक्षा क्यों नहीं करते ॥ ६ ॥

(४७) गीतिगोपुरम्

प्रभातगीतिः *

विनयमयत मानसेन नन्दगोपबाले।
विनयमयत० ॥ १ ॥
चपलारुचिडम्बरेण परिहितपीताम्बरेण।
वपुषा घनसुन्दरेण नन्दितव्रजबाले ॥ २ ॥ विनय० ॥
कुण्डलमिह गण्डलम्बि चञ्चति चपलाविडम्बि।
कमलोपमचरणचुम्बिलम्बितवनमाले ॥ ३ ॥ विनय० ॥
उरसि कुसुममादधाति शिरसि मुकुटमाविभाति।
यमुनापुलिनानि याति तिलकार्चितभाले ॥ ४ ॥ विनय० ॥
दानवकुलमिदमगाहि येनाहिततितिरदाहि।
प्रणयं मनसानुयाहि तस्मिन् व्रजपाले ॥ ५ ॥ विनय० ॥
क्रीडति कृष्णेऽनुरहसि राधामुखमुग्धमनसि।
कालियफणनृत्यसदसि यमुनार्पितताले ॥ ६ ॥ विनय० ॥
पृथिवीभरभर्जनाय दुर्मदनृपतर्जनाय।
पाण्डवहितसर्जनाय कौरवकुलकाले ॥ ७ ॥ विनय० ॥
दुर्मदमदमीलनाय निजपणपरिशीलनाय।
कल्किनि कटुकीलनाय करधृतकरवाले ॥ ८ ॥ विनय० ॥
निगमागमगीतगाथ देहि दर्श दीननाथ।
दययोद्धर मञ्जुनाथमस्मिन् भवजाले ॥ ९ ॥ विनयमयत० ॥

---

* 'प्रभाती' प्रभृतिशैल्या बहुभिः प्रकारैरस्या गानम्——'ठुमुक चलत रामचंद्र बाजत पैजनियाँ' इत्यादिवत्।

विनयं नम्रतां (भाषानुसारं सादरप्रार्थनाम्) अयत कुरुत इत्यर्थः ॥ १ ॥ चपला (विद्युद्) वत् रुचिडम्बरः कान्तिसमूहो यस्य ईदृशेन परिहितेन धारितेन पीताम्बरेण, तथा घन (मेघ) सुन्दरेण वपुषा च आनन्दिता व्रजबाला (स्त्रियः) न ईदृशे (नन्दगोपबाले) ॥ २ ॥ चपलाविडम्बि विद्युत्तिरस्कारकम् । चरणचुम्बिनी लम्बिता वनमाला यस्य तस्मिन् ॥ ३ ॥ यः कुसुमम् आदधाति धारयति । यः यमुनापुलिनानि याति तस्मिन् अथवा याति गमनं कुर्वति (शतृ) तस्मिन् ॥ ४ ॥ येन दानवकुलम् अगाहि अमाथि (अनाशि) कर्मणि लुङ् ॥ ५ ॥ अनुरहसि एकान्ते क्रीडति क्रीडनं कुर्वति कृष्णे । कालियफणानामुपरि नृत्यस्य यत् सदः सभा तस्मिन् यमुनया अर्पितास्ताला यस्मै, कालियदमनसमये तटपाषाणशिलासु यो जलस्यास्फालनशब्दः तद्धि नृत्यसमये हरिप्रियया यमुनया तालदानं कृतमित्याशयः ॥ ६ ॥ दुर्मदानां मदस्य मीलनाय मुद्रणाय (लोपाय), निजप्रणस्य (यदा यदा धर्मग्लानये दुष्टा विजृम्भन्ते तदाहं धर्मरक्षां करोमीति) रक्षणाय तथा कटूनां (लोकाऽहितकारिणां नृपाणाम्) कीलनाय दमनाय करधृतकरवाले कल्किनि कल्किरूपधारिणि नन्दगोपबाले ॥ ८ ॥

हे सज्जनो ! उन नन्दगोपकुमारकी मनसे (मनको एकाग्र करके) विनय (नम्रतापूर्वक प्रार्थना), करिये, जिन्होंने बिजलीके समान पीले और चमकीले पीताम्बरसे तथा मेघके समान श्याम और सुन्दर शरीरसे व्रजबालाओं-को आनन्दित किया है; जिनके कपोलोंपर बिजलीको भी मात करनेवाले मनोहर कुण्डल लटक रहे हैं तथा जिनकी लंबी वनमाला उनके कमल-सदृश सुन्दर चरणोंको छू रही है (चरणतक लंबी वनमाला है);जो वक्षः-स्थलमें पुष्प (-माला) धारण करते हैं, जिनके मस्तकपर मुकुट शोभित है, जो यमुनाके तटपर जा रहे हैं तथा जिनका ललाट तिलकसे विभूषित है, जिन्होंने इस दैत्यकुलका दलन और शत्रुसमूहका दाह (नाश) किया है, उन व्रजपालक भगवान्के प्रति तुम मनसे प्रेम करो ॥ १–५ ॥ श्रीराधाके मुख-दर्शनसे मुग्धचित्त होकर जब आप एकान्तमें क्रीडा करते हैं किंवा कालिय

सर्पके फणरूपी रङ्गस्थलमें जिस समय आप नृत्य करते हैं, उस समय श्रीयमुनाकी तरङ्गोंका शब्द क्या होता है मानो यमुना प्रसन्न होकर ताल देती हैं ॥ ६ ॥ पृथिवीके भारको दूर करनेके लिये, अभिमानी राजाओंको भयभीत करनेके लिये तथा भक्त पाण्डवोंका हित करनेके लिये जो कौरवोंके लिये काल हो जाते हैं; आत्माभिमानी राजाओंके मदको दूर करने, ('जब-जब दुष्टलोग सज्जनोंको सताते हैं, तब-तब मैं धर्मकी रक्षा करता हूँ') अपनी इस प्रतिज्ञापालन करने तथा दुष्टोंका दमन करनेके लिये जो हाथमें खड्ग लिये 'कल्की' अवतार धारण करते हैं तथा निगम और आगम (वेद और तन्त्रादिशास्त्रों) ने जिनकी गुणगाथा गायी है, ऐसे हे दीनोंके स्वामी ! अब थोड़ी दयादृष्टि डालिये, इस आवागमनके जालमें पड़े हुए (मञ्जुनाथ) का कृपया उद्धार करिये । (क्योंकि इसके पास पातकोंके सिवा पुण्य आदि साधन कोई नहीं है) ॥ ७-९ ॥

देशमल्लार-रागेण

जय जय गणनायक वरदायक !
जय जय० ॥ १ ॥
दुःखहरण सुखकरण गणाधिप, जय जय सिद्धिविधायक ॥
जय० जय० ॥ २ ॥
प्रथमनमस्कृत सकलसुरैरपि शरणापन्नसहायक ॥
जय जय० ॥ ३ ॥
लम्बोदर शिखिवाहनसोदर ! निजजनशुभपरिचायक ॥
जय जय० ॥ ४ ॥
सिन्धुरवदन सदन सम्पत्तेः सिद्धिसुखामृतपायक ॥
जय जय० ॥ ५ ॥
एकदन्त विपदन्तविधायक विघ्नविहिंसनसायक ॥
जय० जय० ॥ ६ ॥

मञ्जुनाथमिममाशु सनाथय, सकरुण सिद्धविनायक ॥
जय जय० ॥ ७ ॥

शिखिवाहनस्य स्वामिकार्तिकस्य सहोदरभ्रातः ! निज (भक्त) जनेभ्यः शुभपरिचयदायक ! सिन्धुर (गज) वदन ! सिद्धिनाम्न्याः प्रियतमायाः सुखरूपस्यामृतस्य पायक ! विघ्नानां विहिंसने दूरीकरणे सायक बाणसदृश !

भक्तोंको वर देनेवाले श्रीगणेश ! आपकी जय हो, जय हो ! ॥ १ ॥ आप दुःखके हरनेवाले, सुखके करनेवाले तथा सिद्धियोंके देनेवाले हैं। आपकी जय हो, जय हो ॥ २ ॥ समस्त देवताओंने भी आपको सबसे प्रथम प्रणाम किया है, आप शरणागत भक्तोंकी सहायता करनेवाले हैं ॥ ३ ॥ आपको लम्बोदर कहते हैं; आप मयूरवाहन (श्रीस्वामिकार्तिक) के (बड़े) भाई हैं। तथा आप अपने जनोंको शुभ परिचय (फल) देते हैं ॥ ४ ॥ आपका मुख हाथीका-सा है। आप सम्पूर्ण सम्पत्तियोंके स्थान हैं। आप सिद्धिरूपी अपनी प्रियाके आनन्दरूप अधरामृतका पान करते हैं ॥ ५ ॥ आप एकदन्त और विपत्तियों (दुःखों) का अन्त करनेवाले हैं तथा विघ्नोंकी शिकार करनेमें बाणके समान हैं ॥ ६ ॥ हे दयालु सिद्धविनायक ! आप इस मञ्जुनाथको शीघ्र ही (अपनी शरणमें लेकर) सनाथ करिये ॥ ७ ॥

दादरा

मम दैन्यं न जानासि नाथ किमु मुहुरावेदये ।
पराधीन्यं न जानासि नाथ किमु मुहुरावेदये ॥ १ ॥
भवत्पदाब्जमुपादेयमस्ति भक्तानाम् ।
न किंचिदन्यदितो रोचतेऽनुरक्तानाम् ॥
क्षयिष्णु नाकसुखं भाति बुद्धिरिक्तानाम् ।
त्वमेव दिव्यनिधिः स्नेहरसासिक्तानाम् ॥
अयि कुत्राधुना यासि नाथ ! किमु मुहुरावे० ॥ २ ॥

अजामिलादिमहापापिनो दिवं याताः ।
त्वया प्रभूतदयासागरेण निध्याताः ॥
इतः परेऽपि किमन्ये प्रभो ! न विख्याताः ।
तवेह ये करुणापात्रतामुपायाताः ॥
अपि मामेव हातासि नाथ ! किमु मुहुरावे० ॥ ३ ॥
भ्रमामि भूरि भृतो भावनाभिमानेऽहम् ।
न जातु मोदमये त्वद्गुणानुगानेऽहम् ॥
भवन्तमेव विभो रक्षकं विजानेऽहम् ।
ऋते भवन्तमवन्तं परं न जानेऽहम् ॥
वद किं मे विधातासि नाथ ? किमु मुहुरावेद० ॥ ४ ॥
भवन्निकेतमहं नाथ समागच्छामि ।
पदाम्बुजस्य तले मस्तकं नियच्छामि ॥
कृपाकटाक्षलवं नाथ किंचिदिच्छामि ।
कदा लभेय तमित्याकुलं विपृच्छामि ॥
शृणु वाक्यानि मे मञ्जुनाथ ! किमु मुहुरावे० ॥ ५ ॥

परस्य आधीन्यं अधीनतां [न जानासि] वारं वारं किम्-निवेदयामि । त्वया निध्याताः विलोकिताः तव ये दयापात्रतामुपायाताः, ईदृशाः किम् एभ्यः अजामिलादिभ्यः अन्ये न विख्याताः ? अपितु बहवः । हे नाथ ! किं मामेव हातासि त्यक्तासि (त्यक्ष्यसि, भविष्यति लुट्) ? भावनायाः अभिमाने भृतः भ्रमामि । त्वद्गुणगाने मोदं न अये न प्राप्नोमि । परमेवं मम स्पष्टे दोषेऽपि भवन्तमेव रक्षकं जानामि । भवन्तम् ऋते (विना) परं अन्यं अवन्तं रक्षन्तम् (रक्षकम्) न जाने । हे नाथ ! मे किं विधातासि कर्तासि (करिष्यसि), वद ॥ ४ ॥ नियच्छामि स्थापयामि । तं (कृपालवम्) कदा लभेय (प्राप्नुयाम्) इति आकुलं यथा तथा पृच्छामि ॥ ५ ॥

हे नाथ ! मेरी दीनताको नहीं जानते, इस पराधीनताको भी नहीं

पहिचानते। आपसे मैं बार-बार क्या निवेदन करूँ ॥ १ ॥ हे भगवन्! आपके भक्तोंको आपका चरण-कमल प्यारा (अभीष्ट) है । आपके अनुरागियोंको इसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु अच्छी नहीं लगती (पसंद नहीं आती) । जो बुद्धिशून्य हैं, उन्हींको एक-न-एक दिन समाप्त हो जानेवाला यह स्वर्गसुख अच्छा लगता है; किंतु प्रेम-रससे जो भीगे हुए हैं, उनके लिये आप ही एकमात्र अलौकिक निधि (खजाने) हैं। हे नाथ ! अपने अधीन करके अब आप कहाँ जा रहे हैं ? ॥ २ ॥ अमोघ दयाके समुद्र आपके दिव्यलोक अजामिल आदि महापापी भी दृष्टिपथमें आये हुए-को चले गये । और हे प्रभो ! इनसे भिन्न क्या और भी प्रसिद्ध महापापी इस जगत्में नहीं हैं, जो आपकी दयाके पात्र बनें ? फिर क्या नाथ ! मेरा परित्याग करेंगे ? बार-बार क्या निवेदन करूँ ॥ ३ ॥ मैं अपनी भावना-के अभिमानमें भरा हुआ बहुत चक्कर लगाता हूँ, आपके गुणगानमें कभी आनन्दका अनुभव नहीं करता; किंतु प्रभो ! इतनी बात अवश्य है कि मैं अपना रक्षक केवल आपको ही जानता हूँ । आपको छोड़कर किसी दूसरेको रक्षक नहीं मानता । अब आप ही कहें, अब मेरे लिये क्या करना चाहते हैं ? बार-बार क्या निवेदन करूँ ? ॥ ४ ॥ हे नाथ ! आपके दरवाजेपर आ पड़ा हूँ, आपके चरणकमलोंके नीचे मस्तक रख रहा हूँ । हे स्वामिन् ! आपके कृपाकटाक्षकी एक कोर चाहता हूँ । 'उसको मैं कब पाऊँगा' यह व्याकुलतासे पूछ रहा हूँ। हे मञ्जुनाथ! मेरे वचनोंको सुनिये, बार-बार क्या निवेदन करूँ ॥ ५ ॥

लावनी

[भगवान्ने यह रासलीला नहीं की, अपि तु कामदेवका विजय किया है। कामदेवको अभिमान हो गया कि इतनी गोपियोंके संसर्गमें आकर भगवान् मेरे प्रभावके वशीभूत हो गये । बस, भगवान् श्रीकृष्णने रासलीलाके बहाने कामदेवका गर्व दूर किया, यह रहस्य यहाँ ध्यानमें रखना चाहिये ।]

[रासलीलायां मदनविजयः]

जयति जगदानन्दनकारी । माधवो मनसिजमदहारी ॥
गोपिकाजनजीवनधारी । सकलनिजभक्तभीतिहारी ॥
निखिलजगदालम्बनकारी । जयति हरिरुन्मदपरिहारी ॥ १ ॥
जयति जगदानन्दनकारी । माधवो मनसिजमदहारी ॥

दो०—व्रजवामाकामानसौ पूरयितुं विजहार ।
तदिह दिव्ययमुनातटे रन्तुं मनश्चकार ॥
कारणं विना प्रणयकारी । माधवो मनसि० ॥ २ ॥

शरदि वियदासीदतिविमलम् । चकाशे शशधररुचिरमलम् ॥
कुमुदकरमुकुलितनवकमलम् । लसति कालिन्दीकूलमलम् ॥

दो०—शशधरकरनिकरैरियं रजनी शुशुभे भूरि ।
परितः प्रमदभरैरिदं सकलं भुवनमपूरि ॥
पूरितः प्रमदैर्गिरिधारी । माधवो० ॥ ३ ॥

गोपिकाकामान् पूरयितुम् । मनोभवदर्पं दूरयितुम् ॥
रसे हृदयानि विनोदयितुम् । वेणुमारेभे वादयितुम् ॥

दो०—मञ्जुमुरलिकानादमिममुपगतमात्मगृहेषु ।
संनिशम्य गोपीगणो गतवान् वनकुञ्जेषु ॥
येषु रेमे स मनोहारी । माधवो० ॥ ४ ॥

इह हि गोपीषु सपरिहासम् । ततो व्यातेने स हि रासम् ॥
विदित्वा मनसिजमदवासम् । तिरोऽभूत्सोऽयं सविलासम् ॥

दो०—हरिमवीक्ष्य वामा इमाः कामाकुलमनसो हि ।
तरुवीथीषु विचिन्वते दर्पौ दूरमरोहि ॥
मोहितः कुसुमचापधारी । माधवो० ॥ ५ ॥

तदनु हरिविरहाकुलहृदया । दृगम्बुजपूरितबाष्पचया ॥
वधूततिरुज्झितहरिविचया । प्रतेपे निहितहरिप्रणया ॥

दो०—हरिचरितानुकरणपरा भृशमनुरागभरेण ।
ब्रजवनिता दयितानुगां जगुः कीर्तिमचिरेण ॥
येन हरिरुदयति भयहारी । माधवो० ॥ ६ ॥
अहह निजभक्तदयाशाली । आविरासीदिह वनमाली ॥
प्रसन्ना रेमे प्रमदाली । पुलककुलकलितगण्डपाली ॥
दो०—मनसिजमदमर्द्दनमिमं मुररिपुमयसि न केन ।
रात्रिंदिवमिममनुभजेमञ्जुनाथ हृदयेन ॥
येन स हि दुष्कृतविनिवारी । माधवो० ॥ ७ ॥

रासलीलाव्याजेन स्मरस्य गर्वो योऽपकृतस्तत्कथा भागवतस्थानुसंधेया । निखिलस्य जगतः आलम्बनकारी आश्रयदाता । उन्मदान् जनान् परिहरति दमयति तच्छीलः । अनेन गर्वितस्य कामस्य अग्रे भावी पराजयः सूच्यते ॥ १ ॥ निष्कारणं स्वार्थं विना प्रणयकारी ॥ २ ॥ रासलीलासमये विरोधिनः कामस्य पूर्णोद्दीपनसामग्री शरदाविर्भावादिकं वर्ण्यते— अमलं यथा तथा शशधरस्य रुचिः कान्तिश्चकाशे । कुमुदस्य चन्द्रस्य करैर्मुकुलितानि नवकमलानि यस्मिन्नीदृशं कालिन्दीकूलम् अलं यथा तथा लसति । प्रमदो हर्षः ॥ ३ ॥ रसे आत्मलीलारसे भक्तानां हृदयानि विनोदयितुं सुखयितुम् । अनेन भगवदवतारस्य भक्तोद्धारः प्रयोजनं सूचितम् ॥ ४ ॥ व्यातेने चकार । रासससमये प्रणयासक्तं हरिमनुमाय मनसिजस्य मदनिवासो गर्वोदयो जातः, तं विदित्वा हरिस्तिरोऽभूत् अन्तर्हितोऽभवत् । तरुवीथीषु वामाः स्त्रियः हरिं विचिन्वते । दर्पः दूरम् अरोहि, स्थापितः, गर्वो दूरीकृत इत्यर्थः । रोहयतेः कर्मणि लुङ् । एतं हरेः प्रभावं दृष्ट्वा कुसुमचापधारी कामः मोहितः ॥ ५ ॥ उज्झितः त्यक्तः हरेर्विचयः अन्वेषणम् यया सा, हरिप्रणयासक्ता वधूततिः (गोपीमण्डली) प्रतेपे, किमित्यस्माभिर्गर्वो विहित इत्यनुतापं चक्रे । दयितस्य श्रीकृष्णस्य अनुगतां तत्सम्बन्धिनीम् कीर्तिं जगुः (भगवद्गुणगानं चक्रुः) ॥ ६ ॥

प्रमदानाम् आलिः पङ्क्तिः । केन न अयसि किमिति शरणं न गच्छसि ? हे मञ्जुनाथ ! इमं श्रीकृष्णं हृदयेन अनुभजेः, स्मर, सेवस्व ॥ ७ ॥

जगत्को आनन्द देनेवाले और कामदेवके मदको हरण करनेवाले माधव सर्वोत्कृष्ट हैं (यह मैं जानता हूँ) । गोपीजनोंके जीवनको स्थिर रखनेवाले, सम्पूर्ण अपने भक्तोंका भय हरनेवाले, सम्पूर्ण जगत्को आश्रय देनेवाले तथा अभिमानमें मत्त हुए लोगोंका गर्व दूर करनेवाले, जगत्को आनन्दित करनेवाले, कामके मदको हरण करनेवाले माधव सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ १ ॥ माघमासमें पर्वस्नान करती हुई गोपिकाओंने मनोरथ किया था कि 'हम भगवान्के साथ क्रीडा करें;' उनकी इस अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये आपने यह विहार किया । इसीलिये इस दिव्य यमुनातटपर रमण करनेका आपने मन किया; क्योंकि भगवान् बिना कारण ही भक्तों-पर प्रेम करनेवाले हैं ॥ २ ॥ शरद्-ऋतुमें आकाश अत्यन्त निर्मल हो गया था, उसमें चन्द्रमाकी कान्ति निर्मल चमक रही थी । ऐसे समय यमुनाका तट, जहाँ चन्द्रमाकी किरण लगनेसे कमल मुकुलित हो गये थे, अत्यन्त सुशोभित हो रहा था । चन्द्रमाके किरणसमूहोंसे यह रात्रि अत्यन्त भली लग रही थी । आनन्दके प्रवाहोंसे यह भुवन (भूमि) चारों तरफ भर गया था । भगवान् गिरिधारी भी आनन्दसे पूर्ण हो गये ॥ ३ ॥ गोपियोंके मनोरथ पूर्ण करने, कामदेवके दर्पको दूर करने तथा जगत्-मात्रके हृदयको आनन्दसे विनोदित करनेके लिये आपने अपनी मुरलीको बजाना प्रारम्भ किया । [यह मुरलीकी ध्वनि क्या थी, मानो दल-बलसहित कामदेवको सम्मुख युद्धके मैदानमें उतरनेके लिये ललकार थी ।] घरोंमें आये हुए इस मनोहर मुरलीके नादको सुनकर गोपियोंका गण उन वन-कुञ्जोंमें जा पहुँचा, जहाँ उनके मनोंको हरण करनेवाले वे (श्रीकृष्ण) क्रीडा कर रहे थे ॥ ४ ॥ फिर इन गोपियोंके बीचमें हास-परिहास करते हुए आपने 'रास' आरम्भ कर दिया । (रासमें लीन भगवान्को देखकर) कामदेव-को घमंड हो गया । वह सोचने लगा कि 'श्रीकृष्णपर मेरा प्रभाव छा गया ।' यह जानकर आप बड़ी सुन्दरताके साथ वहीं अन्तर्हित हो (छिप)

गये। विरहसे व्याकुल-चित्त ये व्रजनारियाँ श्रीहरिको (वहाँ) न देखकर उनको कुञ्जगलियोंमें खोजने लगीं। उनके मनमें (भगवान्‌को अपने अधीन कर लेनेका) जो अभिमान हो गया था, वह दूर हो गया। (अपनी सेनाका यह हाल देखकर) पुष्पका धनुष धारण करनेवाला कामदेव भी मोहित (हक्का-बक्का) हो गया ॥ ५ ॥ इसके अनन्तर श्रीहरिके विरहमें व्याकुल हृदयवाली यह नारीमण्डली नेत्र-कमलोंमें आँसू भरकर श्रीहरिको खोजना छोड़कर अत्यन्त पीड़ित (संतप्त) हो उठीं; क्योंकि भगवान्‌के प्रेममें वे पगी हुई थीं। अब अनुरागमें डूबी हुई गोपियोंने भगवान्‌के चरित्रोंका अनुकरण प्रारम्भ किया। फिर वे व्रजवनिताएँ अपने प्रियतमकी कीर्तिका इस प्रकार गान करने लगीं, जिससे कि भयको हरण करनेवाले श्रीहरि अविलम्ब प्रकट होते हैं [भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' मेरे भक्त जहाँ मेरा गुण-कीर्तन करते हैं, वहाँ मैं (प्रकट) रहता हूँ,] ॥ ६ ॥ अहा, (गोपियोंकी यह विरह-व्याकुलता देखकर) भक्तोंपर दया करनेवाले भगवान् वनमाली वहीं पुनः प्रकट हो गये। बस, प्रमदाओं (गोपियों) की यह मण्डली प्रसन्न होकर आनन्द-मग्न हो गयी। प्रेमके कारण कपोलोंपर रोमाञ्च हो आया। हे मञ्जुनाथ! कामदेवके मदको मर्दन करनेवाले इन मुरारिकी शरणमें क्यों नहीं जाते? रात-दिन इनका हृदयसे भजन और स्मरण क्यों नहीं करते? ये ही तो सबके पातकों (बुरे कर्मके फल) को दूर हटानेवाले हैं॥७॥

नाटकीयगीतिः

नटवर गिरिधर जगदभिराम मामपि तारयस्व हे ॥ नटवर० ॥

शारदशीतकिरणसुन्दरमुख

नयनयुगलजनितानतजनसुख ।

चरणशरणगतभक्तदुरितमिह वारयस्व हे ॥नटवर०॥

प्राणाधार मुनिनुतचार जनिसुखसार

कलिमलहार हृतभूभार गुणकूपार मङ्गलकार।

दुरितकृदपि तव सेवक इत्यवधारयस्व हे ॥ नटवर० ॥२॥

शरत्कालिकः शीतकिरणः चन्द्रः, तद्वत् सुन्दरमुख ! नयन-युगलेन जनितं प्रणतानां जनानां सुखं येन (कृष्णेन) तत्सम्बोधनम् ॥ मुनिभिः नुतः स्तुतः चारः चरितं यस्य तत्सम्बुद्धौ । जनैः जन्मनः सुखस्य सारभूत ! हृतो भूमेर्भारो येन । गुणानां कूपार सागर ! ॥

दोनों नेत्रोंसे प्रणत जनोंको सुख पहुँचानेवाले तथा शरत्कालके चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले श्रीकृष्ण ! चरणोंकी शरणमें आये भक्तोंका पातक दूर कर दीजिये । मुनियोंने भी आपके चरित्रका गान किया है; आप मनुष्य-जन्मके सारभूत, कलिकालके दोषोंका हरण करनेवाले, भूमिके भारको दूर करनेवाले, गुणोंके सागर एवं सदा मङ्गल करनेवाले हैं ! [आरोह-क्रमसे षड्ज आदि सातों स्वरोंमे ये सात विशेषण गाये जाते हैं] । पापी होकर भी मैं आपका सेवक हूँ, यह ध्यान रखे ॥ १-२ ॥

वैवाहिकगीतिवत्*

जयति नवरासविहारी । अहो भक्तजनदुरितनिवारी ॥
असुरनिकरपरिपीड्यमानवसुधाभरहारी रे ॥ जयति नव० ॥ १
बलसूदनमदनिदमनकारी । कालियसर्पदर्पपरिहारी ॥
सुरपतिपीडितनिजजनपालनगिरिवरधारी रे ॥ जयति नव० ॥ २ ॥
सुरभितनववनमालाधारी । ललितलुलितनवकुन्तलभारी ॥
स्मरशरपरवशहृदयनवव्रजनार्यभिसारी रे ॥ जयति नव० ॥ ३ ॥
यमुनाविपुलपुलिनसंचारी । नानाविधनवकौतुककारी ॥
चरणकमलमकरन्दमञ्जुमथुरावनचारी रे ॥ जयति नव० ॥ ४ ॥

बलसूदनस्य इन्द्रस्य मददमनकारी । सुरपतिना इन्द्रेण पीडितानां निजजनानां पालनार्थं गिरिवरस्य धारकः ॥ २ ॥ विलुलितः मृदुः कुन्तल-

---

* 'कृष्ण कूं गावैं गारी । हाँ सखी बरसानेवारी ॥ इति गीतिवत् ।

(केश)-भारो यस्य ॥ ३ ॥ मकरन्देन मञ्जुनि मनोहरे मथुरावने मधुवने चरति तच्छीलः । 'मञ्जु-मथुरा' आभ्यां कर्तुर्नाममुद्रापि ॥४॥

नये (अलौकिक) रासक्रीडा करनेवाले, भक्तजनोंके पापोंको दूर करनेवाले, असुरसमूहसे पीडित इस भूमिके भारको हरनेवाले, बल नामक दैत्यके शत्रु इन्द्रके मदको दूर करनेवाले, कालिय सर्पके दर्प (अभिमान) का दमन करनेवाले, इन्द्रसे पीडित अपने भक्तों—व्रजवासियोंकी रक्षाके लिये गिरिराजको उठानेवाले, सुगन्धित ताजी वनमालाको धारण करनेवाले, क्रीडामें बिखरे हुए सुन्दर नवीन केशोंसे सुशोभित तथा (मुरली-नादको सुनकर) प्रेममें विह्वल हुई व्रजयुवतियोंको अपने पास (बुलानेवाले); यमुनाके विशाल पुलिन (तीर) में विचरनेवाले, नाना प्रकारके अलौकिक कौतुक (खेल) करनेवाले, चरण-कमलके मकरन्द (पुष्परस) से मनोहर ऐसे मधुवनमें विहार करनेवाले श्रीकृष्णकी जय हो । [यहाँ 'मञ्जु' एवं 'मथुरा' इन दो शब्दोंसे कविने अपने नामोंका संकेत भी सूचित किया है ।] ॥ १—४ ॥

देशमल्लाररागेण

जय जय नन्दतनय करुणामय । जय जय० ॥
निजजनदुरितनिकरपरिभञ्जन ! भवभयमाशु विनाशय ॥ १ ॥
यमुनाकूलकदम्बविलम्बितहिन्दोलनमुदिताशय ॥ २ ॥
व्रजवनितावृतगोपकिशोरीभूषितललितलतालय ॥ ३ ॥
सरसरसितजलदालिगलितजलबिन्दुजनितमदनोदय ॥ ४ ॥
चपलाचलितचकितनववनितालिङ्गनसंजनिताभय ॥ ५ ॥
तव चरणाहितनिखिलमनोरथमञ्जुनाथमपि मानय ॥ ६ ॥

कदम्बवृक्षे लम्बितेन हिन्दोलनेन मुदिताशय प्रसन्नचित्त ॥ २ ॥ गोपकिशोर्या श्रीराधया भूषितः लतालयः कुञ्जगृहं यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ ३ ॥ सरसं रसितं गर्जितं यस्याः, ईदृश्याः जलदाल्याः मेघमालायाः गलितैर्जलबिन्दुभिर्जनितः कामोदयो यस्य ॥ ४ ॥ चपलायाः

विद्युतः चलनेन चकितानां वनितानाम् आलिङ्गनेन संजनितम् अभयं येन ॥ ५ ॥

निजजनोंके पाप-समूहोंका नाश करनेवाले दयामय नन्दलाल ! (हमारे) आवागमनके भयको शीघ्र दूर करिये । यमुना-तटके कदम्ब वृक्षमें डाले गये हिँडोले (झूले) से प्रसन्नहृदय (श्रीकृष्ण) ! व्रजाङ्गनाओंसे घिरी हुई वृषभानुकिशोरी (श्रीराधा) के द्वारा भूषित निकुञ्जमें विहरण-शील ! मन्द-मधुर-ध्वनि करनेवाली मेघ-घटासे स्रवित हुए मधुर जलविन्दु-ओंसे प्रमोद धारण करनेवाले ! विजलीकी चमकसे चौंकी हुई नवीन गोपिकाको आलिङ्गनसे अभय देनेवाले श्रीकृष्ण ! आपके चरणोंमें ही सम्पूर्ण मनोरथोंको केन्द्रित कर देनेवाले इस मञ्जुनाथको भी अपना माननेकी कृपा करें ॥ १–६ ॥

नाटकीयगीतिः

जय जय जगदीश मुरारे ! जय करुणाकर कंसारे ॥
भवता कलिता नरलीला । वसुधाभरविशमनशीला ।
चिरसदय सतामुद्धारे । ॥ जय जय० ॥ १ ॥
व्रजगोपवधूष्वविकारम् । रासं कृतवानसि सारम् ।
अयि जितदुर्मद दनुजारे ! ॥ जय जय० ॥ २ ॥
स्वामिन् न च याचे नाकम् । दिव्याभिस्तनुभिः साकम् ।
मम शरणं भव संसारे । ॥ जय जय० ॥ ३ ॥

वसुधाभारस्य दूरीकरणशीला नरलीला भवता कलिता कृता । अतएव सताम् उद्धारे चिरकालात्सदय ! ॥ १ ॥ गोपवधूषु अविकारं मदनविकाररहितं यथा स्यात् तथा । जिताः दुर्मदाः मत्ताः कंसादयो येन तत्सम्बुद्धौ ॥ २ ॥ नाकं स्वर्गम् । दिव्याभिः तनुभिः अमरयोनिभिः साकं सह, अर्थात् देवेषु जन्मापि न याचे ॥ ३ ॥

हे जगदीश मुरारि ! तुम्हारी जय हो ! हे करुणाके खजाने कंसारि (श्रीकृष्ण) ! भूमिके भारको दूर करनेवाली मनुष्यलीला आपने (व्रजमें)

की। सज्जनोंके उद्धारमें आप चिरकालसे दयावश प्रवृत्त रहते हैं ॥ १ ॥ व्रजकी गोपियोंमें अविकार रहकर आपने अलौकिक रास किया। गर्वित दैत्योंको जीतकर यमलोक पहुँचानेवाले (श्रीकृष्ण)! आपकी जय हो! हे स्वामी! मैं स्वर्ग नहीं माँगता; देवताओंमें जन्म ही माँगता हूँ। बस, आप इस संसारमें मेरे शरण (रक्षक) हो जायँ ॥ २—३ ॥

नाटकीयगीतिः

जयति दुरितहारी लसद्गिरिधारी। जयति० ॥
मञ्जुवदन कुञ्जसदन कञ्जचरण रञ्जयन् जनम्।
जयति दुरितहारी लसद् गिरिधारी ॥ १ ॥
त्वयाद्य हर्षिताः स्वसेवकाः कृताः।
खलास्तु धर्षिता मदिताश्च देवताः ॥ २ ॥
जय जय देव।
लोचनचन्द्रिर कौशलमन्दिर मन्मथसुन्दर नीतिनिधे।
जय जय भयहर धर्मधुरन्धर करुणाकर कृतविबुधविधे।
विबुधेश! शुभवेष!! मृदुकेश!!! जयति दुरितहारी ॥ ३ ॥
अयि कंसनिकन्दन निकटमेहि।
तव करुणादृशमिह मयि निधेहि ॥
गोपवधूचेतोहारी। जयति दुरितहारी लसद्गिरिधारी ॥ ४ ॥

कुञ्जः सदनं विहारगृहं यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ १ ॥ मदिताः हर्षिताः कृताः ॥ २ ॥ कृताः विबुधानां देवानां विधयः (रक्षाकार्याणि) येन तत्सम्बुद्धौ ॥ ३ ॥

पापोंके दूर करनेवाले सुन्दर गिरिधारीकी जय हो। सुन्दर मुखवाले, कुञ्जमें विहार करनेवाले, कमलके समान चरणवाले, जनोंको अनुरक्त करनेवाले [यहाँ भी स्वरोंके आरोह-क्रमसे ये विशेषण गाये जाते हैं] प्यारे! आपने आज अपने सेवकोंको हर्षित (प्रसन्न) और दुष्टोंको धर्षित किया है तथा और देवताओंको मस्त किया है (उनके यज्ञभागकी रक्षा करके निश्चिन्त किया

है) ॥१-२॥ (हे) नेत्रोंके लिये चन्द्रमा (सुख देनेवाले), चातुर्यके घर ! कामदेवके समान सुन्दर ! नीतिके निधान ! (भक्तोंका) भय हरण करनेवाले ! धर्मकी मर्यादाको धारण करनेवाले, दयाकी खान ! देवकार्यको सम्पादित करनेवाले, देवताओंके स्वामी ! सुन्दर वेष और कोमल केशवाले ! (आपकी जय हो) । हे कंसको मारनेवाले ! समीप आओ । अपनी करुणादृष्टि इस जनपर डालिये । आप गोपिकाओंका मन हरण करनेवाले हैं ॥ ३-४ ॥

मरुप्रसिद्ध 'माँड' रागेण

जय जय राधिकापते !
जय नटनागर सौभगसागर हे रमापते ॥
दो०—योजितयोगसमाधयो मुनयो यामुपयान्ति ।
त्वद्भक्तास्त्वत्सेवया तां पदवीमनुयान्ति ॥ जय० ॥ १ ॥
कण्टकसंकुलमपि यदा काननमिदमुपयासि ।
मम हृदयावनिमिह पुनर्नागर ! किमिति जहासि ॥
॥ जय जय० ॥ २ ॥
दृप्यत्सुरपतिमदभरं हृतवानसि रभसेन ।
त्वं शरणं करुणानिधे । कलितोऽनेन जनेन ॥ जय० ॥ ३ ॥
कालियफणधरशिरसि यद्विहरसि लयसंचारि ।
तदिह चरणसरसीरुहं शरणं दुरितनिवारि ॥ जय० ॥ ४ ॥

यदा कण्टकाकीर्णं वनमेव अटसि तदा कोमलां हृदयभूमिं किमिति जहासि त्यजसि इति चातुर्यसूचकेन नागरपदेनाक्षिप्यते ॥ २ ॥ 'लय' पूर्वकं संचरति तच्छीलम् । दुरितं निवारयति तच्छीलं च ॥ ४ ॥

हे चतुरनट ! हे सुन्दरताके सागर ! हे लक्ष्मीपति ! आपकी जय हो । मुनिलोग योगकी समाधि लगाकर जिस पदवीपर पहुँचते हैं, आपके भक्त आपकी सेवासे उस पदवीको पाते हैं ॥ १ ॥ जब आप कण्टकोंसे भरे हुए इस वनमें जाते हैं, तब हे नागर (चतुर) ! मेरी हृदय-भूमिका

क्यों त्याग करते हैं ? ॥ २ ॥ आप गर्वयुक्त इन्द्रका भी अभिमान हठात् दूर कर चुके हैं। (अतएव परम समर्थ) आपकी इस मनुष्यने (मैंने) शरण ली है ॥ ३ ॥ आप कालिय सर्पके मस्तकपर नृत्यकी लयके अनुसार जो चरण रखते हैं, वही समस्त पापोंको दूर करनेवाला चरण-कमल मेरा यहाँ रक्षक है ॥ ४ ॥

उर्दूभाषाचत्वरः

'गजल'

[१]

नन्दनन्दन हे मुकुन्द मनोऽरविन्दमुपेहि मे ।
एतदभ्युदितानुरागमिलन्मरन्दमवेहि मे ॥ १ ॥
कण्टकाकुलितानि यासि वनानि गोपरिचारणे ।
कंजलोचन कोमलं क्षणमेव मानसमेहि मे ॥ २ ॥
घूर्णमानमनारतं धनदुर्मदेषु जनेष्वलम् ।
मानसं विमनायते बत लालसालवलेहि मे ॥ ३ ॥
मन्यसे करपल्लवं कमलालयाकरकीलितम् ।
त्वत्पदाम्बुजमेव मौलितटे ततो विनिधेहि मे ॥ ४ ॥
आगमेषु च शासनेषु मतान्तरेषु निरन्तरम् ।
मोहितोऽस्मि परिभ्रमन्नधुना समक्षमुदेहि मे ॥ ५ ॥
मायया परिमुह्य सम्प्रति संततं विचराम्यहम् ।
सान्त्वनं तु दयावतार दयादृशैव विधेहि मे ॥ ६ ॥
मञ्जुनाथनिवेदनं क्षणमात्रमेव निशम्यताम् ।
किंचिदञ्चितलोचनं करुणादृशं तव देहि मे ॥ ७ ॥

मम मनोरूपम् अरविन्दम् उपेहि, कमलमेतदासनरूपेण ते ददामीत्यर्थः । एतत् मनः-कमलम् अभ्युदितो योऽनुरागः स एव मिलन् मकरन्दो यस्मिन् तादृशम् अवेहि जानीहि । त्वत्प्रेम्णा समकरन्द-



वेणुधर

मिदं जानीहि ॥ १ ॥ यदा कण्टकयुक्तानि वनानि यासि तदा कोमलं मे मानसं क्षणकालार्थमेव समागच्छ ॥ २ ॥ घूर्णमानं भ्रमत् । लालसालवं लेढि आस्वादयति तच्छीलम् । सदा लालसाव्याकुलमित्यर्थः ॥ ३ ॥ करपल्लवं लक्ष्म्याः करेण अवरुद्धं मन्यसे तर्हि मे मस्तके ते पदकमलमेव निधेहि ॥ ४ ॥ आगमेषु वेदादिषु, शासनेषु वेदान्तादिशास्त्रेषु, मतान्तरेषु सम्प्रदायेषु । उदेहि उत्+आ+इहि ॥ ५ ॥ किंचित् अञ्चितलोचनं (प्रहितनयनं यथा स्यात् तथा) ॥ ७ ॥

नन्दके नन्दन हे मुकुन्द ! मेरे मनरूपी कमलमें आ विराजें। इसे उत्पन्न हुए अनुराग (प्रेम)-रूपी मकरन्द (सुगन्धित पुष्परस)से संयुक्त जानें ॥ १ ॥ गोचारणके समय आप काँटोंसे भरे वनोंमें जाते हैं तब हे कमललोचन ! इस मेरे कोमल मनमें क्षणभरके लिये तो पधारें ॥ २ ॥ धनमदसे मत्त हुए लोगोंमें यह मेरा मन निरन्तर भटकता हुआ बहुत ही उदास हो गया है। यह विषय-सुखके लेशमात्रको भी बहुत समझकर चाटता रहता है ॥ ३ ॥ यदि आप अपने श्रीहस्तको लक्ष्मीके हाथोंसे जकड़ा हुआ मानते हैं तो अपने चरण-कमलको ही मेरे मस्तकपर रख दीजिये ॥ ४ ॥ आगमों (वेदादिकों) में, स्मृतियों एवं धर्मादि-शास्त्रोंमें, नाना मत-मतान्तरोंमें निरन्तर चक्कर काटता हुआ मैं किंकर्तव्य-विमूढ हो गया हूँ, कृपा करके अब मेरे सम्मुख प्रकट होइये ॥ ५ ॥ आपकी मायासे मोहित होकर इस समय मैं लगातार घूम रहा हूँ, हे दयावतार ! कृपा करके अपनी इस दयादृष्टिसे ही मेरी सान्त्वना (ढाढस) करिये ॥६॥ क्षणमात्रके लिये मञ्जुनाथके निवेदनको सुन लीजिये। नेत्र-कमलको कुछ नीचा करके अपनी कृपादृष्टि डालिये ॥ ७ ॥

[२]

भगवन् ! दयादृगेषा मयि दीयतां दयालो !
अधुनावहेलना मे न विधीयतां दयालो ॥ १ ॥
सुकृतीति को न पायात्पुरुषं सुरोऽपरोऽपि ।
अयमद्य पापकारी परिचीयतां दयालो ॥ २ ॥

करितो न पीनकायो गिरितो गुरुर्न चाहम् ।
दुरितोपरोधतो मे न निलीयतां दयालो ॥ ३ ॥
कति तारिता भवेयुर्भवतापराधिनोऽलम् ।
अपि दीनदुष्कृतोऽयं न विहीयतां दयालो ॥ ४ ॥
विषयाटवीषु बाढं भ्रमितोऽतिदुःखितोऽहम् ।
अयि नाथ ! वेदना मे व्यपनीयतां दयालो ॥ ५ ॥
अहमस्मि सार्वभौमो निखिलाघकारकाणाम् ।
भवताद्य भूरि भूमन्नवधीयतां दयालो ॥ ६ ॥
भ्रमता भृशं भवेऽस्मिन्नयि नाथ ! वीक्षितोऽसि ।
अधुना तु मे समीपान्न निलीयतां दयालो ॥ ७ ॥
कृपया ममावनाय व्यवसीयतामुताहो ।
करुणार्णवेति नाम व्यपनीयतां दयालो ॥ ८ ॥
निगमैस्तवावबोधे कियदङ्ग गीयते स्म ।
अयि मञ्जुनाथवाचा कति गीयतां दयालो ॥ ९ ॥

एषा सुप्रसिद्धा ते दयादृक् मयि दीयताम् ॥ १ ॥ अपरः त्वदन्यः कः सुरः अपि 'सुकृती' (अयं पुण्यवान्) इति विचार्य पुरुषं न पायात् ? अपितु पुण्यवन्तं सर्वं एव देवगणो रक्षेत् परं हे दयालो ! अयं मादृशः पापकारी अद्य परिचीयताम् । पुण्यवता-मुद्धारस्तु कृत एव, किंतु अद्य अस्य पापिनोऽपि परिचयः प्राप्य-ताम् ॥ २ ॥ करितः गजेन्द्रात् पीनशरीरो नास्मि । गिरितः गोवर्द्धन-पर्वताद् गुरुश्च नाहम् । अतएव मे पापोपरोधकारणात् न निलीयतां ॥ ३ ॥ विहीयतां त्यज्यताम् ॥ ४ ॥ भूमन् पृथिवीनाथ ! ॥ ६ ॥ मम रक्षणाय व्यवसीयतां निश्चयः क्रियताम्, उताहो आहोस्वित् करुणार्णवेति दयासागरेति नाम दूरीक्रियताम् ॥ ८ ॥ तव बोधार्थं निगमैर्वेदादिभिः कियद् गीतम् ॥ ९ ॥

हे दयालु भगवन् ! यह अपनी कृपादृष्टि मुझपर डालिये । हे दयालु ! अब मेरा तिरस्कार न कीजिये ॥ १ ॥ 'पुण्यवान् है' यह समझकर

तो कोई दूसरा देवता भी रक्षा कर सकता है ? किंतु हे दयालु ! आज इस पापीका भी परिचय लीजिये ॥ २ ॥ मैं हाथीसे मोटा नहीं हूँ, न पर्वतसे अधिक भारी ही हूँ। फिर मेरे पापोंकी रुकावटसे हे दयालु ! मत छिपिये ॥ ३ ॥ न जाने कितने अपराधियोंका आपने उद्धार किया होगा। हे दयालु ! इस गरीब पातकीको न बिसारिये ॥ ४ ॥ इन विषयोंके जंगलोंमें भटकता हुआ मैं अत्यन्त दुखी हो गया हूँ। अब हे नाथ ! मेरी इस पीड़ाको दूर कर दीजिये ॥ ५ ॥ मैं सम्पूर्ण पापियोंका चक्रवर्ती सम्राट् हूँ। हे दयालु ! मेरे उद्धारके लिये बहुत सावधानी रखिये ॥ ६ ॥ इस भवाटवीमें घूमते हुए आज आपको देख पाया हूँ। अब तो मेरे पाससे न छिपिये ॥ ७ ॥ कृपा करके या तो मेरा उद्धार करनेका निश्चय कर लें, अन्यथा 'दयासागर' इस नामको हटा दें—छोड़ दें ॥ ८ ॥ वेदादि शास्त्रोंने आपका बोध करानेके लिये कितना-कुछ गाया है। अतः हे दयालु ! इस मञ्जुनाथकी वाणीसे और कितना गाया जायगा ? ॥ ९ ॥

[३]

व्रजराज गोकुलेन्दो जय कीर्तिजादृगिन्दो !
परिपाहि दीनलोकानपि सर्वसौख्यसिन्धो ॥ १ ॥
भवदाश्रयं दधाना वयमद्य मोदमानाः ।
करुणावलोकलेशं वितराशु दीनबन्धो ॥ २ ॥
किमु सर्वसंकटेभ्यो यमुनातटे तदानीम् ।
व्रजवासिनोऽविता नो ? वद दैत्यवृन्दकन्दो ॥ ३ ॥
वसुधासुधानिधीशे करुणामहोदधीशे ।
त्वयि को न वानुरज्येद् गुणरम्यरत्नसिन्धो ॥ ४ ॥
तव माययाधिरूढो मूढो भ्रमामि कामम् ।
अधरीकरोषि किं मामपि विश्ववृत्तविन्दो ॥ ५ ॥
सुदिनं समीयतां मे बहुभाग्यमीयतां मे ।
भव लोचनातिथिस्त्वं व्रजभूमिभालबिन्दो ! ॥ ६ ॥

विजहासि लोकलोभाद्धरिपादपद्मशोभाम् ।
अयि मञ्जुनाथ धिक् त्वामपयाहि ब्रह्मबन्धो ॥ ७ ॥

कीर्तिजायाः राधिकायाः [राधामातुः कीर्तिरिति नाम] दृशोः इन्दु-रूप ! ॥ १ ॥ व्रजवासिनः न अविताः (रक्षिताः) इति काकुः । अपि त्ववश्यं रक्षिताः । दैत्यवृन्दानां कन्दो शोषक ! ॥ ३ ॥ वसुधायाः सुधानिधीशे चन्द्रे, करुणायाः महोदधीशे महासागरे त्वयि ॥ ४ ॥ विश्वस्य वृत्तान्तं विन्दति (प्राप्नोति, जानाति) तत्सम्बुद्धौ, हे अन्तर्यामिन् मां किम् अधरीकरोषि धिक्करोषि ॥ ५ ॥ मम सुदिनं समीयतां प्राप्नोतु, महाभाग्यम् ईयताम् आगच्छतु ('ईङ्' गतौ) । हे व्रजभूमेर्भालबिन्दु (तिलक)-सदृश ! त्वं लोचनातिथिर्भव । तव लोचनातिथित्वं मम सुदिनप्राप्तिः, महाभाग्यं चेत्याशयः ॥ ६ ॥ हे ब्रह्म-बन्धो ब्राह्मणाधम ! अपयाहि दूरं गच्छ ॥ ७ ॥

कीर्तिजा (श्रीराधा) के नेत्रोंके लिये चन्द्रमा ! हे गोकुलके चन्द्र सब सुखोंके सागर व्रजराज ! आज इन गरीबोंकी भी रक्षा कीजिये ॥ १ ॥ आपका आश्रय लेकर आज हम अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं । हे दीनबन्धु ! आप शीघ्र ही अपनी कृपादृष्टिका लेशमात्र तो हमपर डालिये ॥ २ ॥ दैत्य-समूहको सुखानेवाले (नाशक) ! क्या उन दिनों (जब आप व्रजमें प्रकट थे) यमुना-तीरपर आपने व्रजवासियोंकी सभी संकटोंसे रक्षा नहीं की थी ? कहिये तो ॥ ३ ॥ हे गुणरूपी रमणीय रत्नोंके सागर ! पृथ्वीके लिये सुधासे भरे चन्द्रमा और करुणाके महासागर ! आपमें किसका अनुराग (प्रेम) न होगा ? ॥ ४ ॥ आपकी मायाका वाहन बना हुआ मैं अत्यन्त मूढ़ होकर निरन्तर घूम रहा हूँ । हे सम्पूर्ण जगत्के जाननेवाले ! मेरा तिरस्कार क्यों कर रहे हैं ? ॥ ५ ॥ मेरा सुदिन (अच्छा दिन) हो तथा मेरा बड़ा भाग्य उदित हो । व्रजभूमिके तिलक ! मेरे नेत्रोंके आप अतिथि हों (मेरे सामने उपस्थित हों) ॥ ६ ॥ अरे मञ्जुनाथ ! तू लौकिक लोभके कारण श्रीहरिचरणकी शोभाको छोड़े बैठा है । धिक्कार है तुझको, ब्राह्मणाधम ! हट जा ॥ ७ ॥

[४]

अये पद्मेऽङ्घ्रिपद्मे मे मनः स्यात् ।
भवत्पादाग्रलग्नोऽयं जनः स्यात् ॥ १ ॥
त्वदग्रे दृश्यते देवोऽपि याचन् ।
कियत्कीटायितोऽयं निर्धनः स्यात् ॥ २ ॥
कथं विन्देय पद्मे ! ते प्रसादम् ।
न चन्द्रं लब्धुमीशो वामनः स्यात् ॥ ३ ॥
न वित्तैः शक्नुते शक्रोऽपि लब्धुम् ।
कुतस्तोषाय दीनोऽकिंचनः स्यात् ॥ ४ ॥
कृपादृक्कोणतस्तुष्येन्मनो मे ।
न किं वा चातकप्रीत्यै घनः स्यात् ॥ ५ ॥
भजेद् बीजं स्वहृत्पदान्तरे यः ।
स वै पद्मालये ! पद्मासनः स्यात् ॥ ६ ॥
कथं वै मञ्जुनाथं नेक्षसे त्वम् ?
दयादृष्टिं विना सिद्धिर्न नः स्यात् ॥ ७ ॥

हे पद्मे लक्ष्मि ! तव अङ्घ्रिपद्मे चरणकमले मे मनः स्यात् ॥ १ ॥ भवत्याः अग्रे देवोऽपि याचमानो दृश्यते तर्हि मादृशः कीटायितः कियत् (क्रियाविशेषणम्) स्यात् ॥ २ ॥ अकिंचनः सर्वथा निर्धनः ॥ ४ ॥ यः जनः भवद्बीजम् श्रीम् इति स्वहृदयकमलान्तरे भजेत् जयेत् स पद्मासनः ब्रह्मा भवेत् ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मी ! आपके चरणकमलोंमें मेरा मन बस जाय । यह दास आपके चरणोंमें लगा रहे ॥ १ ॥ आपके आगे देवता भी याचना करते दिखायी देते हैं । (फिर) यह कीटके समान निर्धन (क्या चीज) है ? ॥ २ ॥ हे पद्मे ! आपका अनुग्रह मैं कैसे पाऊँ ? बौना आदमी चन्द्रमाको नहीं पा सकता ॥ ३ ॥ धनके जोरसे इन्द्र भी आपको नहीं पा सकता; फिर यह अकिञ्चन दीन आपको कैसे प्रसन्न कर सकता

है ? ॥ ४ ॥ मेरा मन आपकी कृपादृष्टिके कोण (लेश) से (भी) संतुष्ट हो जायगा । क्या चातक (पपीहे) की प्रीतिके लिये मेघ पर्याप्त नहीं है ? ॥ ५ ॥ जो आपके बीज ('श्रीम्') का हृदय-कमलमें ध्यान करे, हे लक्ष्मी ! वह पद्मासन (ब्रह्मा) बन जाय ॥ ६ ॥ आप मञ्जुनाथके प्रति दयादृष्टि क्यों नहीं डालतीं ? दयादृष्टिके बिना हमारी गति नहीं ॥७॥

[५]

नन्दसूनो ! किं विधूनोष्यद्य माम् ।
दीनमेनं मुञ्चसे हा किंतमाम् ॥ १ ॥
श्रीपतेस्ते का भवेद्दीने दया ।
सर्वदोत्सङ्गे निधत्से यद् रमाम् ॥ २ ॥
राजभोगान् न्यस्य शाकैः प्रीयसे ।
को न विन्ते ते कृपां भिन्नक्रमाम् ॥ ३ ॥
किं विपृच्छस्यद्य मे वाचालताम् ।
कल्पये वाचं विदां वाचंयमाम् ॥ ४ ॥
त्वन्मुखाग्रे दृश्यते दीनः शशी ।
चेतसा कश्चिन्तयेच्चन्द्रोपमाम् ॥ ५ ॥
तावकानां त्वत्स्मृतौ या जायते ।
मूर्च्छनां मन्येय तां संवित्समाम् ॥ ६ ॥
मञ्जुनाथप्रार्थने चेन्नेक्षसे ।
निःस्पृहो याचामि कस्माद् वा क्षमाम् ॥ ७ ॥

विधूनोषि दुःखं ददासीत्याशयः । किंतमाम् किमर्थम् ॥ १ ॥ निधत्से धारयसि ॥ २ ॥ दुर्योधनस्य राजभोगान् अपास्य विदुरस्य शाकैः प्रसन्नो भवसि, अतएव ते कृपां लोकतो भिन्नमार्गां को न विन्ते विचारयति ॥ ३ ॥ अद्य मे वाचालतां किं पृच्छसि, विदुषां वाणीं वाचंयमां भाषणाद्विरताम् कुर्वे ॥ ४ ॥ चन्द्रस्य उपमाम् (सादृश्यम्) ॥ ५ ॥ त्वदीयानां भक्तानां विरहावस्थायां तव स्मरणे या मूर्च्छा भवति तां चेतना-

सदृशीं जाने ॥ ६ ॥ प्रार्थनायामपि त्वं न पश्यसि, तर्हि अहमपि मान-वशात्तटस्थो भवामि । कस्मात् कारणात् त्वत्तः क्षमां याचे ॥ ७ ॥

हे नन्दकुमार ! आज मुझको दुखी क्यों कर रहे हैं ? इस दीनका त्याग क्यों कर रहे हैं ? ॥ १ ॥ आप लक्ष्मीके स्वामी हैं, आपको दीनपर दया कैसी ? क्योंकि सर्वदा आप लक्ष्मीको गोदमें लिये रहते हैं ॥ २ ॥ दुर्योधनके राजभोग्य (मेवा, मिष्टान्न) छोड़कर विदुरके शाकसे प्रसन्न होते हैं । आपकी कृपाके मार्ग अलग ही हैं, यह कौन नहीं जानता ॥ ३ ॥ आज मेरी वाचालता (अधिक बोलने) की बात क्या पूछते हैं ? मैं पण्डितोंकी वाणीको भी मौनयुक्त (चुप) कर दूँ ॥ ४ ॥ आपके मुखके आगे चन्द्रमा दीन (निष्प्रभ) दीखता है, फिर उसके लिये चन्द्रमाकी उपमा चित्तसे कौन विचारेगा ? ॥ ५ ॥ आपके भक्तोंको आपका ध्यान करते-करते (समय-समयपर) जो मूर्च्छा (बेहोशी) हो जाती है, उसको मैं परम चैतन्यके समान मानता हूँ ॥ ६ ॥ मञ्जुनाथकी प्रार्थनापर यदि आप दृष्टि नहीं देते तो मैं भी निःस्पृह हूँ, आपसे क्षमा क्यों माँगूँ ? ॥ ७ ॥

[६]

भो विभो दयादृगियं दीनदुर्बले देया ।
वेदना ममाद्य घना देव दूरमाधेया ॥ १ ॥
साम्प्रतं विधौ वामे रक्षकोऽस्ति को वा मे ?
याचना मदीयेयं मानसे न किं नेया ? ॥ २ ॥
दोषमेक्ष्य देवा मे दूरतोऽद्य धावन्ते ।
दीननाथ हन्त दया किं त्वयापि नोपेया ? ॥ ३ ॥
त्वत्कृपामुपाश्रयतां चेद् गुणा गवेष्यन्ते ।
दीनबन्धुता तव किं नाथ मादृशैर्गेया ॥ ४ ॥
शीघ्रता प्रसिद्धा ते दीनदुःखदाहार्थम् ।
मन्दता मदर्थमहो नाथ नाद्य निर्मेया ॥ ५ ॥
भ्रामयेदजस्रमियं सर्वतोऽद्य संसारे ।
दैवदुर्लिपिर्निहिता मामकीनभाले या ॥ ६ ॥

द्रोहमोहमानमदा मामहो विबाधन्ते ।
एकतोऽयमेकोऽहम्, सा च वाहिनी जेया ॥ ७ ॥
मायिकप्रपञ्चेऽस्मिन् नाथ नद्धनेत्रोऽहम् ।
तावकी कया विधया रूपमाधुरी पेया ॥ ८ ॥
दृश्यते दया यदि नो दीनहीनलोकेऽस्मिन् ।
विश्रुता तदा भवता दीनबन्धुता हेया ॥ ९ ॥
कर्ममोहितोऽद्य भृशं कीदृशं नु नृत्यामि ।
मञ्जुनाथनाट्येऽस्मिन् दीननाथ दृग् देया ॥ १० ॥

घना निबिडा मे वेदना दूरमाधेया दूरीकर्तव्या ॥ १ ॥ विधौ विधातरि वामे प्रतिकूले ॥ २ ॥ मम दोषम् आ ईक्ष्य । किं त्वयापि दया न उपेया अवलम्बितव्या ? अपि त्ववश्यं कर्तव्या ॥ ३ ॥ तव कृपाम् अवलम्बमानानां दीनानां यदि गुणाः अन्विष्यन्ते तर्हि तव दीनबन्धुता कस्माद् गेया ॥ ४ ॥ दुःखदाहार्थं दुःखानां नाशार्थम् । मन्दता न निर्मेया कर्तव्या ॥ ५ ॥ एकस्मिन् पक्षे एकः अहम्, अग्रतस्तु द्रोहमोहादीनां सेना जेतव्या ॥ ७ ॥ मायाप्रपञ्चे निरुद्धनेत्रः अहम्, आभ्यां नेत्राभ्यां तव रूपमाधुर्यं केन विधिना साभिलाषमास्वाद्यम् ॥ ८ ॥ कर्मवशाद् नानाप्रकारैश्चेष्टां करोमि अस्मिन् नाट्ये कृपादृष्टिः कर्तव्या ॥ १० ॥

हे प्रभु ! अपनी दयादृष्टि इस दीन, दुर्बलपर डालिये । देव, मेरी इस घनी पीड़ाको दूर कर दीजिये ॥ १ ॥ इस समय आप विधाता (भी) यदि प्रतिकूल हो जायँगे, तो मेरा रक्षक कौन होगा ? कृपा करके मेरी इस याचनाको क्या मनमें स्थान नहीं देंगे ? ॥ २ ॥ मेरे दोषोंको देखकर आज देवता (भी) दूर भागते हैं । हे दीनोंके स्वामी ! हाय, क्या आप भी दया नहीं करेंगे ? ॥ ३ ॥ तुम्हारी दयाका आश्रय लेनेवालोंमें भी यदि गुण खोजे जायँगे तो फिर आपकी दीनबन्धुताका हम क्यों गान करें ॥ ४ ॥ दीनोंके दुःख दूर करनेके लिये (जैसी गजेन्द्रमोक्षके समय देखी गयी थी) आपकी उतावली प्रसिद्ध है । हे नाथ ! मेरे लिये आज ढिलाई (सुस्ती) मत कीजिये ॥ ५ ॥ मेरे ललाटमें जो विधाताका दुष्ट

लेख है, वह आज मुझे संसारमें सब ओर भटकायेगा ॥ ६ ॥ अहो ! द्रोह (वैर), मूढता, अभिमान और मद (मस्ती) मुझको पीड़ित कर रहे हैं । एक ओर अकेला मैं हूँ, और (दूसरी ओर) जीतनेके लिये यह उपर्युक्त (द्रोह-मोहादिकी) सेना है ॥ ७ ॥ इस माया-प्रपञ्चके कारण मेरी आँखें मुँदी हुई हैं । (फिर) आपके रूपकी माधुरीका किस प्रकार आस्वादन करूँ ? ॥ ८ ॥ इन (हम) दीन-हीन लोगोंपर यदि दया नहीं की जाती तो अपनी प्रसिद्ध दीनबन्धुता आपको छोड़ देनी चाहिये ॥ ९ ॥ कर्मोंसे अत्यन्त मोहित हुआ हे नाथ ! मैं कैसा नाच रहा हूँ । हे दीननाथ ! इस मञ्जुनाथके नाचपर दृष्टि दीजिये ॥ १० ॥

[७]

कीर्तये कालिन्दि मातस्त्वामहम् ।
शङ्कितः शरणं पुरः प्रायामहम् ॥ १ ॥
त्वं हि चेदवधीरयस्ययि देवि माम् ।
कं परं शरणं सुरं यायामहम् ॥ २ ॥
त्वत्तरङ्गैः सङ्गमङ्गे चेद् दहे ।
भूतिमत्त्रिदिवावनौ भायामहम् ॥ ३ ॥
निर्मलं यदि ते जलं मौलौ वहे ।
संतरेयं त्वत्पतेर्मायामहम् ॥ ४ ॥
पातक ! प्रोत्सर्प दूरम्, नैषि चेत् ।
मज्जये कालिन्दिधारायामहम् ॥ ५ ॥
गोपने यमुने ! न मे समुपेक्ष्यताम् ।
पीडितः पतितोऽस्मि मृत्स्नायामहम् ॥ ६ ॥
मानुमासीर्मञ्जुनाथं निर्बलम् ।
त्वत्तटे प्रायां तरुच्छायामहम् ॥ ७ ॥

(पापैः) शङ्कितः सन् त्वां शरणं प्रायाम् आयासिषम् (आगतः) ॥ १ ॥ चेत् अवधीरयसि तिरस्करोषि ॥ २ ॥ यदि तव तरङ्गैः अङ्गे संगमं प्राप्नोमि

तर्हि वैभववत्यां देवभूमौ स्वर्गे अहं भायां शोभितो भवेयम् ॥ ३ ॥ त्वत्पतेः श्रीकृष्णस्य ॥ ४ ॥ हे पातक ! मत्सकाशाद् दूरमपसर्प ! यदि दूरं न एषि (गच्छसि) तर्हि त्वां कालिन्दीधारायां मज्जयामि ब्रोड-यामि ॥ ५ ॥ गोपने रक्षणे न उपेक्षा क्रियताम् । मृत्स्नायां मृत्तिकायाम् ॥ ६ ॥ निर्बलं मा अनुमासीः मा जानीहि । तव तटे तरूणां छायाम् अहं प्रायाम् आगमम् । त्वत्तटागमनेन निर्बलता गता, अहमात्मबलसम्पन्नो जातः ॥ ७ ॥

माता यमुने ! मैं आपका गुण-कीर्तन करता हूँ; (पापोंसे) शङ्कित होकर आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १ ॥ हे देवी ! यदि तुम भी मेरा तिरस्कार करती हो तो मैं दूसरे किस देवताकी शरण जाऊँ ? ॥ २ ॥ तुम्हारी तरङ्गोंके साथ यदि मेरे अङ्गोंका संगम हो जाय तो वैभवशाली देवभूमि (स्वर्ग) में मैं सुशोभित हो जाऊँ ॥ ३ ॥ यदि आपका निर्मल जल मैं मस्तकपर चढ़ा पाऊँ, तो आपके पति (श्रीकृष्ण) की मायाको तर जाऊँ ॥ ४ ॥ पाप ! दूर हट जा । यदि नहीं जाता तो तुझको मैं कालिन्दीकी धारामें डुबोता हूँ ॥ ५ ॥ हे यमुने ! मेरी रक्षाके विषयमें उपेक्षा (लापरवाही) मत करो । पीड़ित हुआ मैं आपकी मट्टीमें पड़ा हूँ ॥ ६ ॥ तुम इस मञ्जुनाथको निर्बल मत समझो । तुम्हारे तटवर्ती तरुओंकी छायामें आ पड़ा हूँ । (तुम्हारे तटपर पहुँचनेमात्रसे मेरी निर्बलता जाती रही और मैं सब तरह बलसम्पन्न हो गया) ॥ ७ ॥

[८]

भूतेश भवत्पादयुगं भूरि भजेयम् ।
हे भर्ग ! भवन्मूर्तिमवन्धाय यजेयम् ॥ १ ॥
विन्दामि महादुःखमहं मोहमहाब्धौ ।
आख्याहि दयानीरनिधे ! कुत्र व्रजेयम् ॥ २ ॥
दीयेत दयादृष्टिलवो मह्यमयं चेत् ।
कुर्वीत कथं नाम मनोमोहमजेयम् ॥ ३ ॥
पुत्रादिपरीवारजनैर्वित्तमुपात्तम् ।
हा हन्त ! मनोदुःखमिदं कं विभजेयम् ॥ ४ ॥

दीनेषु दयावश्यमपश्यं न सुरं तम्।
हे नाथ भवातङ्कविभङ्गाय भजे यम्॥ ५ ॥
त्वन्मौलिगता देवधुनी पापमपोहेत्।
चेतःपरितापं व्यपनीयान्नगजेयम्॥ ६ ॥
विन्दामि पदाम्भोजयुगं ते शरणं चेत्।
मन्ये न तदा देव! मनोमोहमजेयम्॥ ७ ॥
त्वं देहि दयादृष्टिमये मञ्जुलनाथे।
वाञ्छाद्य महेशान मनाङ् मानसजेयम्॥ ८ ॥

अबन्धाय मोक्षाय भवन्मूर्तिं यजेयं पूजयेयम्॥ १ ॥ इयम् अजा माया मनोमोहं कथं कुर्वीत ॥ ३ ॥ परिवारजनैर्मम धनम् उपात्तं विभक्तम्। किंतु इदं मनसो दुःखं कस्मै विभक्तं कुर्याम्? ॥ ४ ॥ दयाया वश्यं वशीभूतं तं सुरं न अपश्यं यं भवदुःखदूरीकरणाय अहं भजे ॥ ५ ॥ इयं नगजा पार्वती चित्तस्य संतापं व्यपनीयात् दूरीक्रियात् इति आशिष्यते ॥ ६ ॥ मनसो मोहं मूढताम् अजेयं न जेतुं शक्यम् न मन्ये, अपि तु मया स जेयो भवेत्॥ ७ ॥ मानसजा इयं वाञ्छा ॥ ८ ॥

हे भूतनाथ! आपके चरण-युगलका मैं खूब सेवन करूँ, हे भर्ग! (शङ्कर!) आपकी मूर्तिकी मोक्षके लिये मैं पूजा करूँ ॥ १ ॥ मैं इस मोहरूपी महासमुद्रमें महादुःख पा रहा हूँ; हे दयासागर! आप ही कहें, अब मैं कहाँ जाऊँ!' ॥ २ ॥ मुझे दयादृष्टिका एक लेश भी मिल जाय तो यह 'अजा' (माया) मेरे मनको कैसे मोह सकती है!॥ ३ ॥ हाय! पुत्र आदि परिवारके लोगोंने मेरा धन तो बाँट लिया, किंतु यह मनका दुःख किसको बाँटूँ? ॥ ४ ॥ ऐसे देवताको मैंने नहीं देखा दीनोंके प्रति जो दयाके परवश हो और जिसे मैं संसारकी भीतिके भङ्ग (नाश) के लिये भजूँ ॥ ५ ॥ आपके मस्तकपर स्थित देवनदी (गङ्गा) मेरे पापको दूर करे और चित्तके परिताप (संताप) को ये नगजा (पर्वतपुत्री, श्रीपार्वती) दूर करें ॥ ६ ॥ यदि आपके इन युगलचरण-कमलोंकी शरण (रक्षकता) पा जाऊँ तो (फिर) हे देव! इस मानसिक मोहको अजेय (न जीतने योग्य

प्रबल) न मानूँ ॥७॥ आप इस मञ्जुनाथपर दयादृष्टि डालें,' हे महेश्वर! यही 'मानसजा'—मनसे उत्पन्न हुई वाञ्छा आज मेरे मनमें (जाग्रत् हुई) है॥८॥

[९]

भारती मे भवाय बोभूयात् ।
मानसे मे सुखानि सा सूयात् ॥ १ ॥
शेमुषीं मे विशोध्य विज्ञानैः ।
मानसं मे विमोहमालूयात् ॥ २ ॥
किं विशङ्कां करोषि चेतो मे !
त्वामियं देवता गिरां पूयात् ॥ ३ ॥
लालसासौ ममाद्य चित्तस्था ।
शारदा मे प्रमोदमाहूयात् ॥ ४ ॥
शारदासौ सरोजपीठस्था ।
मानसं मे प्रमादमाधूयात् ॥ ५ ॥
त्वं कृपां चेत् करोषि मातर्मे ।
नो कृतान्ताद् बिभेमि सासूयात् ॥ ६ ॥
मौनमेया न मञ्जुनाथेऽस्मिन् ।
गीतिभिस्त्वां परस्तु कः स्तूयात् ॥ ७ ॥

भारती सरस्वती । भवाय कल्याणाय ॥ १ ॥ शेमुषीं बुद्धिम् । आ लूयात् छिद्यात् (इति आशीः) ॥ २ ॥ गिरां देवता सरस्वती पूयात् पवित्रं क्रियात् इत्याशीः ॥ ३ ॥ प्रमोदम् आहूयात् (प्रमोदस्य आह्वानं क्रियात्), प्रमोदमानयेदित्याशयः ॥४॥ सासूयात् असूयासहितात् यमात् ॥ ६ ॥ मौनं न आ+इयाः, मा गच्छेः ॥ ७ ॥

सरस्वती मेरे कल्याणका कारण बनें (मेरा कल्याण करें)। वे मेरे मनमें नानाविध सुखोंको उत्पन्न करें ॥ १ ॥ ज्ञान-विज्ञानोंके द्वारा मेरी बुद्धिको शुद्ध करके मेरे मनके मोहका नाश करें ॥ २ ॥ अरे मेरे चित्त ! तू शङ्का क्यों करता है ? तुझे ये वाणीकी देवता (सरस्वती) पवित्र

करेंगी ॥ ३ ॥ मेरे चित्तमें आज यह लालसा विद्यमान है कि शारदा (सरस्वती) मेरे लिये प्रमोद (आनन्द) का आह्वान करें ॥ ४ ॥ कमलरूपी सिंहासनपर विराजमान भगवती शारदा मेरे मानसिक प्रमाद (भूल, गल्ती) को कम्पित करें (दूर करें) ॥ ५ ॥ माता ! यदि आप मेरे ऊपर कृपा करती हों तो (फिर) असूया (ईर्ष्या-द्रोह) सहित कृतान्त (यम) से भी मैं नहीं डरूँ ॥ ६ ॥ इस मञ्जुनाथके विषयमें आप चुप्पी मत साधो [अर्थात् दूर मत होओ]। आपको नयी-नयी गीतियोंसे दूसरा कौन मनुष्य स्तुति करेगा ? ॥ ७ ॥

[१०]

दया तवेह मामये मुकुन्द ! नन्दयेन्न किम् ?
पदारविन्दमेतकन्मनो मिलिन्दयेन्न किम् ॥ १ ॥
कथं तरामि यन्त्रणां दुरन्तचिन्तयानया ।
निपीडितस्य मोहनो मनोऽभिनन्दयेन्न किम् ॥ २ ॥
भुवोऽतिभारमुद्धरन् जहार यः सदापदम् ।
विमोहमेष माययाधिकं निकन्दयेन्न किम् ॥ ३ ॥
भृशं भ्रमामि वासनावशोऽविशोच्य दुर्नयम् ।
भवद्दया तु दुर्गतेर्गतिं विमन्दयेन्न किम् ॥ ४ ॥
भवान् हि तापहारको न वारको ममापदाम् ।
इयं ममावधीरणा प्रभोऽद्य निन्दयेन्न किम् ॥ ५ ॥
दयालवोऽपि लीलया त्वया चिकीर्ष्यतेऽपि चेत् ।
अखर्वगर्वतत्परैर्नरैः प्रवन्दयेन्न किम् ॥ ६ ॥
वचोऽद्य मञ्जुनाथ ते न चेत्प्ररोचते विदाम् ।
चराचरेशचेतसोऽपि चारु चन्दयेन्न किम् ॥ ७ ॥

अये मुकुन्द ! तव दया मामिह किं न नन्दयेत्, अपि त्ववश्यमानन्दयेत् । एतकद् एतत् ते पदारविन्दं किं मां मिलिन्दं भ्रमरं न कुर्यात् ? तत्करोतीति णिच् ॥ १ ॥ 'यन्त्रणां कथं तरामि' अनया चिन्तया पीडितस्य मे मनः मोहनः (श्रीकृष्णः) किं न अभिनन्दयेत् ? ॥ २ ॥

सताम् आपदन्, सदा आपदं वा मायया अधिकीभूतं मोहं किं न निकन्दयेत् नाशयेत् ॥ ३ ॥ दुर्नयं दुर्नीतिम् अविशोच्य अविचार्य । दुर्गतेः गतिं मां प्रति आगमनस्य शक्तिं किं मन्दां न कुर्यात् ? ॥ ४ ॥ तापहारकोऽपि भवान् मम आपदां वारकः निवारकः न जातः, इति इयं मम अवधीरणा तिरस्कारः किं भवन्तं लोके न निन्दितं कुर्यात् ? ॥५॥ त्वया चेत् लीलयैव दयाया लेशः चिकीर्ष्यते कर्तुम् इष्यते, तर्हि गर्वितनरैः तेषां द्वारा किं मां वन्दनीयं न कुर्यात् ? ॥ ६ ॥ ते वचः विदुषां न रोचते चेत्, तर्हि चराचरनायकस्य चेतसः अपि चित्तमपि, (कर्मत्वेनाविवक्षया षष्ठी किं न चन्दयेत् आह्लादयेत् ? अपि त्ववश्यं प्रमोदयेत् ॥ ७ ॥)

हे मुकुन्द ! आपकी दया क्या मुझको आनन्दित नहीं करेगी ? अपितु अवश्य करेगी । आपका यह चरण-कमल मेरे मनको क्या भौंरा नहीं बनायेगा ? अपितु बनायेगा ही ॥ १ ॥ मैं इस संसार-यन्त्रणाके पार कैसे जाऊँ', इस दुरन्त चिन्तासे पीड़ित मेरे इस मनको क्या मोहन (कृष्ण) प्रसन्न नहीं करेंगे ॥ २ ॥ भूमिके भारका उद्धार करते हुए जो सदा आपत्ति अथवा सज्जनोंकी आपत्ति दूर करते हैं, वे भगवान् मायासे बढ़े हुए मेरे मानसिक मोहका नाश नहीं करेंगे ? ॥ ३ ॥ दुर्नीतिकी परवा न करके विषय-वासनाके वशीभूत हो मैं निरन्तर भटक रहा हूँ, आपकी दया क्या मेरी दुर्गतिकी चाल को धीमी नहीं करेगी ? ॥ ४ ॥ आप संतापहारक होते हुए भी मेरी आपत्तियोंको दूर नहीं करते, यह मेरा तिरस्कार, हे प्रभु ! क्या आपको निन्दाका पात्र नहीं बना देगा ? ॥ ५ ॥ आप खेल-ही-खेल मुझपर लेशमात्र भी दया यदि करना चाहेंगे तो वह (दया-लेश) प्रचण्ड अभिमानमें चूर मनुष्योंके द्वारा मुझे वन्दनीय नहीं बना देगा ? अवश्य बना देगा ॥ ६ ॥ हे मञ्जुनाथ ! तुम्हारी वचन-रचना यदि आज पण्डितोंको नहीं भायी तो भी क्या वह चराचरके स्वामीके चित्तको भी आह्लादित नहीं करेगी ? अवश्य करेगी ॥ ७ ॥

[११]

अयि चित्त ! चिरेण विचिन्तयतोऽपि च चञ्चलता न गता न गता।
अपि नाम निरन्तरयत्नशतैस्तव निष्ठुरता न गता न गता ॥ १ ॥
कियदिच्छसि निर्भरशान्तिसुखं न नियच्छसि पादमथाभिमुखम्।
अयि गच्छसि साधुपथाद्विमुखं तव निष्क्रियता न गता न गता॥२॥
क्षणमेव विमुह्यसि वामदृशा, न फलं परिपश्यसि दूरदृशा।
विमृशामि सखे ! यदि तत्त्वदृशा, तव कामुकता न गता न गता ॥३॥
न हि साधुजनैः सह संरमसे, न फलं विमलं त्वमिहावहसे।
चपलाय सखे यशसे यतसे, तव दुर्मदता न गता न गता ॥४॥
अभिनन्दसि शास्त्रगतं न मतम्, न हि विन्दसि संततमात्महितम्।
बत निन्दसि लोकमतं विमतम्, तव मत्सरता न गता न गता ॥५॥
न हि दीनजनान् परितोषयसे, बहु घोषयसे निजदानरुचिम् ।
अयि चित्त सखे तव लोलुपतानृतकीर्तिवितानगता न गता ॥६॥
भगवद्गुणगीतिषु नाद्रियसे, ह्रियसे मधुगायकगीतिगणे।
जरसा विरसापि तवोत्सुकता मधुरस्वरतानगता न गता ॥७॥
तव विस्वरगीतिमिहार्पयसे न विलोकयसे विविधान् विबुधान्।
अधुनापि च मञ्जुलनाथ मनाक् तव दुर्मुखता न गता न गता ॥८॥

अयि चित्त ! चिरकालाद् विचारं कुर्वतः अपि तव चपलता न गता न गता (न गतेति द्विरुक्त्या निश्चयातिशयः सूच्यते । एवमग्रेऽपि) ॥१॥ शान्तेः सुखं तु कियद् वाञ्छसि, किंतु तदर्थम् अभिमुखं पादं न स्थापयसि, अर्थात् यत्नकरणार्थम् अग्रे न चलसि । निष्क्रियता अकर्मण्यता ॥ २ ॥ वामदृशा वामलोचनया स्त्रिया क्षणे एव मुग्धो भवसि ॥ ३ ॥ चपलाय अस्थिराय कियत्कालं स्थायिने यशसे। दुर्मदता मत्तता ॥ ४ ॥ विमतं तव प्रतिकूलं लोकमतं त्वं निन्दसि । तव मात्सर्यम् ॥ ५ ॥ दानरुचिं दानशीलताम् घोषयसे लोकेषु प्रख्यापयसि । अनृतो मिथ्या यः कीर्तिवितानः यशःकलापः तत्सम्बन्धिनी ते लोलुपता न गता । अतियत्नेऽपि ते

कृत्रिमकीर्तिलालसा न यातेत्याशयः ॥ ६ ॥ नाद्रियसे न आदरं करोषि । मधुरे गायकानां गीतिगणे ह्रियसे आकृष्यसे । वृद्धावस्थया विरसीकृतापि, मधुरो यः स्वरसंतानः तद्गता तव उत्सुकता उत्कण्ठा न गता ॥ ७ ॥ विस्वरां विरूपस्वरयुक्ताम् गीतिम् अर्पयसे निवेदयसि ॥ ८ ॥

हे चित्त ! चिरकालसे विचार करते हुए भी यह तुम्हारी चञ्चलता नहीं गयी, नहीं गयी । निरन्तर सैकड़ों नानाविध यत्नोंसे भी तुम्हारी क्रूरता न गयी, न गयी ॥ १ ॥ पूर्ण शान्तिके सुखको तुम कितना चाहते हो, किंतु (उसकी प्राप्तिके लिये) आगे एक पैंड भी नहीं रखते वरं साधुमार्गसे विपरीत (दिशामें) चलते रहते हो। (सदाचरणके विषयमें) तुम्हारी अकर्मण्यता (बेकारी) नहीं गयी, नहीं गयी ॥ २ ॥ वामलोचना (सुन्दर स्त्री) को देखकर एक क्षणमें मोहित हो जाते हो । दूर-दृष्टिसे इसका (बुरा) परिणाम नहीं देखते । तत्त्वदृष्टिसे सोचता हूँ तो स्पष्ट दीखता है कि तुम्हारी कामुकता (कामीपन) नहीं गयी, नहीं गयी ॥ ३ ॥ तुम साधुजनोंसे प्रसन्न नहीं रहते, इससे (लोकमें) उत्तम फल भी तुम नहीं पाते । हे मित्र ! तुम अस्थिर कीर्तिके लिये (घोर) यत्न करते हो, तुम्हारी यह मस्ती नहीं गयी, नहीं गयी ॥ ४ ॥ शास्त्रोंके मतको तुम नहीं मानते । इसीलिये निरन्तर आत्मकल्याणकी प्राप्ति तुम्हें नहीं होती । अपने प्रतिकूल जो भी लोकोंका मत होता है, उसकी तुम निन्दा करते हो । तुम्हारी मत्सरता (ईर्ष्या-द्वेषकी प्रकृति) न गयी, न गयी ॥ ५ ॥ तुम निर्धन मनुष्योंको संतुष्ट नहीं करते, तो भी अपनी दानशीलता चारों ओर घोषित करते हो । हे चित्त ! झूठे कीर्ति-कलापके प्रति तुम्हारा लोभ नहीं गया, नहीं गया ॥ ६ ॥ भगवान्‌के गुणगानको तुम आदर नहीं देते, मधुर गायकोंके गीतिसमूहसे तुम आकृष्ट हो जाते हो । वृद्धावस्थासे शिथिल हुई भी तुम्हारी जो कि मधुरस्वर और तान सुननेकी उत्कण्ठा नहीं गयी, नहीं गयी ॥ ७ ॥ अपना बेसुरा राग अलापते जाते हो, (सामने बैठे हुए) विविध स्वरज्ञोंको नहीं देखते ।

हे मञ्जुनाथ ! तुम्हारी दुर्मुखता (मुँहफटपना) अब भी किंचिन्मात्र नहीं गयी, नहीं गयी ॥ ८ ॥

[१२]

अये पद्मालये ! मातर्दयातः पाहि दीनं माम् ।
क्षणं वीक्षस्व संसारेऽद्य निस्सारे निलीनं माम् ॥ १ ॥
तवालम्बादहं बालोऽधुना लोकं सुखं मन्ये ।
त्वमेवोपेक्षसे कस्मादकस्माद्धैर्यहीनं माम् ॥ २ ॥
अनन्तैर्दुःखसंवर्तैर्निकामं खिन्नचित्तोऽहम् ।
दृशं सौख्यस्पृशं मातर्दिशन्ती पाह्यधीनं माम् ॥ ३ ॥
न जानन्मार्गमेतं ते दुरन्तेऽस्मिन् भवेऽभ्राम्यम् ।
इदानीं त्वद्दयाधारे नयागारे नवीनं माम् ॥ ४ ॥
भवाब्धौ निर्भरासङ्गैस्तरङ्गैर्भ्रान्तवान् बाढम् ।
न जाले पातयेर्मातर्विदित्वा मूढमीनं माम् ॥ ५ ॥
नृपाः प्राप्याधिकारं ते निकारं वित्सु विन्दन्ते ।
न कुर्वीथाः कृपाम्भोधे! कलौ कस्याप्यधीनं माम् ॥ ६ ॥
सुसूक्ष्मं जीवने मातर्न मे पुण्यं परीक्षेथाः ।
निरीक्षेथाः क्षणं मातः प्रपुष्यत्पापपीनं माम् ॥ ७ ॥
अनन्तेऽस्मिन् विधानेऽहं न जाने तथ्यमीमांसाम् ।
त्वमेवाख्याहि कर्तव्यं कृपाब्धे मामकीनं माम् ॥ ८ ॥
न लज्जेयं भवेत् किं ते ? निमज्जेन्मञ्जुनाथश्चेत् ।
अये मातर्नयेथास्त्वत्पदाब्जे तावकीनं माम् ॥ ९ ॥

दुःखसंवर्तैः दुःखपूरस्य उपप्लवैः । सौख्यस्पृशं सौख्यस्पर्शिनीम्, सुखदामित्यर्थः । अधीनं मां पाहि ॥ ३ ॥ तव मार्गं न जानन् अस्मिन् भवे संसारे अभ्रमम् । इदानीं तव दयाया आधारो यत्र ईदृशे अर्थात् त्वद्दयया प्राप्ये आगारे गृहे नवीनं मां नय । नवीनो हि मार्गं न जानीयात्, अतएव त्वमेव मां त्वत्कृपालभ्ये स्थाने प्रापयेत्याशयः ॥ ४ ॥ निर्भरः आसङ्गः आश्लेषो येषाम् अर्थात् अतिनिबिडैः तरङ्गैः । मां

मूढं मीनं विदित्वा जाले न पातयेः ॥ ५ ॥ नृपाः तव लक्ष्म्याः अधिकारं प्राप्य विद्वत्सु निकारं तिरस्कारं विन्दन्ते दर्शयन्ति ॥ ६ ॥ मम जीवने अतिसूक्ष्ममपि पुण्यं न परीक्षेथाः । सूक्ष्मवस्तुदर्शने तव क्लेशो भवेत् । अतएव पुष्यद्भिः पीनैः पातकैः पीनं पुष्टं मां निरीक्षेथाः । तव दृष्टिदाने च ममोद्धारः ॥ ७ ॥ इदं कर्तव्यम्, इदं कर्तव्यम्, इति अनन्ते विधिप्रपञ्चे अहं तथ्यमीमांसां सत्यनिर्णयं न जाने । मामकीनं मदीयं कर्तव्यं त्वमेव आज्ञापय ॥ ८ ॥ तावकीनः त्वदीय इति ख्यातः मञ्जुनाथो यदि भवसागरे निमज्जेत् तर्हि ते लज्जा किं न भवेत् ? ॥ ९ ॥

माता लक्ष्मी ! मुझ दीनकी दयाके द्वारा रक्षा करिये । इस निःसार संसारमें फँसे हुए मुझको आज एक क्षणके लिये भी देख लीजिये ॥ १ ॥ बालक मैं आपके आश्रयसे (ही) इस मनुष्यलोकको इस समय सुखकारक मानता हूँ । (फिर) अकारण तुम ही मेरी उपेक्षा क्यों करती हो; आपकी (इस) उपेक्षासे मेरा धैर्य छूट जाता है ॥ २ ॥ अनन्त दुःखोंके वेगसे मैं अत्यन्त खिन्नचित्त हूँ । अपनी सुखकारिणी दृष्टि डालती हुई इस वशवर्तीकी रक्षा करिये ॥ ३ ॥ आपके इस (आश्रयरूप) मार्गको न जानता हुआ मैं इस अपार संसारमें अबतक भटकता रहा । अब आपकी दयाके ही आधारसे प्राप्त होनेवाले (अपने) भवनमें मुझ अपरिचितको ले जाइये (नवीन आदमी मार्ग नहीं जानता, अतएव आप ही अपनी कृपासे पाने योग्य स्थानमें पहुँचा दीजिये) ॥ ४ ॥ इस संसार-समुद्रमें निरन्तर आते हुए तरङ्गोंसे प्रेरित होकर मैं बहुत भटक चुका । हे माता ! मुझको मूर्ख मत्स्य (मच्छ) समझकर जालमें मत डालो ॥ ५ ॥ राजालोग आपसे अधिकार पाकर विद्वानोंके प्रति तिरस्कार (अवज्ञा) दिखाते हैं । (अतः) हे दयासागर माँ ! इस कलियुगमें मुझे किसीके भी अधीन मत बनायें ॥ ६ ॥ हे माता ! मेरे जीवनमें थोड़ा-सा भी पुण्य आप नहीं पायेंगी । बढ़ते हुए पापोंसे मोटे हुए मुझको क्षणभरके लिये देख लीजिये ॥ ७ ॥ इस अनन्त विधान ('यह करो, यह करो' इत्यादि विधिशास्त्रों) के पचड़ेमें

पड़कर मैं सत्यका निर्णय करना नहीं जानता। हे दयासागर माता! मुझे मेरा कर्तव्य आप ही बता दीजिये ॥ ८॥ यह मञ्जुनाथ यदि (भवसागरमें) डूब गया तो क्या आपको लज्जा नहीं लगेगी? माता! अपने चरणकमलोंमें अपने मञ्जुनाथको आप ही ले जायँ ॥ ९ ॥

[१३]

दोहाच्छन्दोभिरपि सेयं गीतिः प्रसिद्धा

अये पद्मालये ! मातर्दयातः पाहि दीनं माम् ।
क्षणं वीक्षस्व संसारेऽद्य निस्सारे निलीनं माम् ॥ १ ॥
दो०–मुग्धेन्दीवरसुन्दरे नयने सिन्धुकुमारि !
यदि धत्से दारिद्र्यमपि तत्र न चान्तिकचारि ॥
गलत्कणयाचनालीनं विजीनं पाहि दीनं माम् ॥ २ ॥
दृप्यद्धनपतिदुर्वचननिचयनचिरनिर्वेदि ।
मम मानसमिदमिन्दिरे ! बत बहुतरपरिखेदि ॥
त्वमेवाख्याहि पन्थानं भवारण्याध्वनीनं माम् ॥ ३ ॥
तव पदसरसिजरजसि यदि मानसमिदमुपयाति ।
सततमितरचिन्तनमपि प्रायः सपदि न भाति ॥
अये मथुरापतेः कान्ते ! त्वमन्ते पाहि दीनं माम् ॥ ४ ॥

तत्र दारिद्र्यं समीपचारि समीपगतमपि न भवति। विजीनम्, क्षतावस्थं वृद्धमिति यावत् ॥ २ ॥ दृप्यन्तो गर्विष्ठाः ये धनिकाः तेषां दुर्वचननिचयेन नचिरं तत्कालं वैराग्ययुक्तम् । नचिरेत्यत्र नशब्देन समासः, न तु नञ् ॥ ३ ॥ तर्हि इतरेषां देवधनिकादीनां चिन्तनमपि न भाति ॥ ४ ॥

हे समुद्रकी कुमारी! अधखिले नील कमलके समान सुन्दर ये दोनों नेत्र यदि तुम (किसीकी ओर) प्रेरित करती हो तो दरिद्रता वहाँ पासमें भी नहीं फटकती॥ १ ॥ बिखरे हुए धान्यकणोंकी याचनामें लीन, अतएव वृद्ध हुए इस दीनकी रक्षा करिये ॥ २ ॥ हे इन्दिरे! गर्विष्ठ धन-कुबेरोंके दुर्वचनोंसे तत्काल

विरक्त हुआ यह मेरा मन बहुत दुखी हो चुका है। इस भवाटवीके पथिक (मुझ)को मार्ग आप ही बतायें ॥ ३ ॥ आपके चरण-कमलकी रजमें यह मन यदि चला जाय तो फिर निरन्तर औरोंका चिन्तन भी प्रायः जल्दी नहीं सुहायेगा। हे मथुरापतिकी कान्ता ! अन्तमें इस दीनकी आप ही रक्षा करिये ॥ ४ ॥

[१४]

भो विभो ! मम मानसे सा मञ्जुमूर्तिरुदेतु ते।
दीनदुःखनिबर्हणी या सा दया समुदेतु ते ॥ १ ॥
हन्त मे भ्रमसंततं हृदयं विषीदति संततम्।
किंचिदञ्चतु लोचनं मयि मीलिताखिलहेतु ते ॥ २ ॥
आश्रयोऽसि निराश्रयाणामुच्छ्रयोऽसि सुसम्पदाम्।
आलयोऽसि हि संविदामवदानमन्तरमेतु ते ॥ ३ ॥
दुस्तरं भवसागरं समवाप्य मज्जति मानसम्।
पारमेतदुपेयतामुपयत् पदाम्बुजसेतु ते ॥ ४ ॥
तारिता भवता भवेयुरजामिलप्रमुखाः सुखम्।
पातकी बत तादृशोऽहमियं दयापि बिभेतु ते ॥ ५ ॥
ज्ञानमस्ति न मे, समेति च नापि कापि विचारणा।
संदधामि पदावलम्बनमंहसो जयकेतु ते ॥ ६ ॥
न स्मरत्यथ नो नमस्यति नो गृणाति न सेवते।
हे दयाम्बुनिधे ! तदेषा भावना न समेतु ते ॥ ७ ॥
स्थानमेकमुदीर्यसे सुरभारतीसेवाजुषाम्।
मञ्जुनाथनिवेदनं बत संनिधौ समुदेतु ते ॥ ८ ॥

मम मानसे सा प्रसिद्धा ते मञ्जु (मनोहर) मूर्तिः उदेतु । ते मानसे च दीनदुःखनाशिनी दया उदेतु। निबर्हणीति लेखनी-रमणीत्यादिवत् ॥ १ ॥ भ्रमेण संततं व्याप्तम्। मीलिताखिलहेतु कारणापेक्षाशून्यम् (स्वाभाविकदयात एव) ते लोचनं मयि किंचित् अञ्चतु उप-

यातु ॥ २ ॥ सम्पत्तीनां त्वम् उच्छ्रयः पराकाष्ठा असि । संविदां ज्ञानानाम् आलयः स्थानम् । ते अवदानं बलं मे अन्तरं मानसं प्राप्नोतु ॥ ३ ॥ उपयत् प्राप्नुवत् ते पदाम्बुजमेव सेतुर्यस्मै तद् एतद् मानसं (मम) भवसागरपारम् उपेयतां प्राप्नोतु ॥ ४ ॥ अंहसः पापस्य विजये केतु (ध्वज) सदृशम् ॥ ६ ॥ नो गृणाति (गायति गुणान्) । एष विचारोऽपि मा आगच्छतु ॥ ७ ॥ संस्कृतसेविनां त्वमेव एकं स्थानम् उदीर्यसे प्रोच्यसे ॥ ८ ॥

हे प्रभु ! मेरे मनमें तुम्हारी वह मधुर मूर्ति आ विराजे और दीनोंके दुःखोंको दूर करनेवाली वह आपकी प्रसिद्ध दया आपके मनमें उत्पन्न हो ॥ १ ॥ हाय ! भ्रमोंसे भरा हुआ यह मेरा हृदय सदा ही उदास रहता है। क्या ही अच्छा होता कि कारणकी अपेक्षासे रहित (दीनोंका अकारण बन्धु) आपका नेत्र मुझपर थोड़ा-सा भी झुक जाता ॥ २ ॥ आप निराश्रय दीनोंके आश्रय हैं, सम्पत्तियोंकी पराकाष्ठा हैं, ज्ञानोंके आधार हैं। आपका बल मेरे अन्तःकरणमें समा जाय ॥ ३ ॥ इस अपार भवसागरको पाकर मेरा मन डूबा जाता है, आपके चरणकमलरूपी सेतुको प्राप्त करके यह पार पहुँच जाय ॥ ४ ॥ आपने अजामिल प्रभृतिको सुखसे तार दिया होगा; किंतु मैं वह पापी हूँ कि जिससे आपकी यह दया भी भयभीत हो जाय ॥ ५ ॥ मुझमें विवेक नहीं है, कोई मार्मिक विचार भी मेरे पास नहीं है। पातकोंपर विजय-प्राप्तिको सूचित करनेवाले झंडास्वरूप आपके चरणकमलका मैं आश्रय लेता हूँ ॥ ६ ॥ 'यह न तो मेरा स्मरण करता है, न प्रणाम करता है, न गुणगान करता है, न सेवा ही करता है, हे दयासागर ! यह विचार आपके हृदयमें न आये ॥ ७ ॥ संस्कृतसेवियोंके तो आप ही एकमात्र आश्रय हैं, इसलिये मञ्जुनाथका यह निवेदन आपके समीप पहुँच जाय ॥ ८ ॥

[१५]

अयि व्रजराज ! मुञ्चसे किं माम् ? ।
पदपतितं न वीक्षसे किं माम् ॥ १ ॥

अवति शिशुं दयालुरन्योऽपि ।
भवपतितं निरीक्षसे किं माम् ॥ २ ॥
तव भुवने दयालुता ख्याता ।
अपि दुरितैरुपेक्षसे किं माम् ॥ ३ ॥
सुवहु मयास्ति वेदना सोढा ।
भवगहनैः परीक्षसे किं माम् ॥ ४ ॥
यदि पशवोऽपि तारिता भवता ।
न यदुपतेऽवलम्बसे किं माम् ॥ ५ ॥
प्रकटय मे सुमञ्जुमूर्तिं ते ।
नयनसुखान्निबर्हसे किं माम् ॥ ६ ॥
चरणसरोजमञ्जुलामोदैः ।
प्रमदयसे न मानसे किं माम् ॥ ७ ॥
अधमतमोऽपि मञ्जुनाथोऽयम् ।
त्वदनुचरं न मन्यसे किं माम् ॥ ८ ॥

अन्यः मार्गे गच्छन् तटस्थोऽपि शिशुं रक्षति । मां केवलं निरीक्षसे, किमिति न त्रायसे इत्याशयः ॥ २ ॥ भवगहनैः संसारजालैः ॥ ४ ॥ पशवः गजेन्द्र-व्रजगवीप्रभृतयः ॥ ५ ॥ निबर्हसे वञ्चयसि ॥ ६ ॥ मानसे मां किमिति न प्रमोदयसे ॥ ७ ॥ मां किं त्वं विदीर्णहृदयं वाञ्छसि ? मम हृदयस्फोटदशा संनिहितेत्याशयः ॥ ८ ॥ मञ्जुः (सुन्दरः, त्वम्) नाथो यस्य, तथा च त्वत्स्वामिकोऽहं त्वद्दयायोग्यः ॥ ९ ॥

हे व्रजराज ! मेरा परित्याग क्यों करते हैं, पैरोंमें पड़े हुए मेरी ओर क्यों नहीं देखते ? ॥ १ ॥ कोई बालक यदि किसी खड्डेमें पड़ा हो तो दूसरा कोई भी दयालु उसे उबार लेता है । (फिर) इस संसारसमुद्रमें पड़े हुए मुझको आप (बचाते क्यों नहीं, केवल) देख क्यों रहे हैं॥ २॥ संसारमें आपकी दयालुता प्रख्यात है, फिर क्या मेरे पापोंके कारण मेरी उपेक्षा करते हैं ?॥ ३ ॥ मैंने बहुत पीडा सही है। (ऐसी दशामें) संसाररूपी खड्डोंमें डालकर मेरी परीक्षा क्यों ले रहे हैं? ॥ ४ ॥ हे भगवन् ! यदि आपने गजेन्द्र एवं व्रजकी गौएँ आदि पशुओंका

भी उद्धार किया है तो हे यदुपति ! मुझे आश्रय क्यों नहीं देते ? ॥ ५ ॥ वह अपनी मधुरमूर्ति मेरे सम्मुख प्रकट करिये। नेत्र-सुखसे मुझे वञ्चित क्यों करते हैं ? ॥ ६ ॥ अपने चरण-कमलोंकी मधुर सुगन्धसे मुझे मन-ही-मन प्रमुदित क्यों नहीं करते ? ॥ ७ ॥ मैं अत्यन्त अधम हूँ, तो भी 'मञ्जुनाथ' (सुन्दर आप-सदृश है नाथ, स्वामी जिसका ऐसा) हूँ। क्या आप मुझको अपना अनुचर नहीं मानते ? ॥ ८ ॥

[१६]

'गजेन्द्रमोक्षः'

हे गजेन्द्रदयानिधे ! गुणवारिधे ! द्रुतमीयताम्।
विजहासि किं करुणाम्बुधे ! सविधेऽद्य नाथ समीयताम् ॥ १ ॥
गजराज एष मनोहरे विजहार दिव्यसरोवरे।
सह संस्फुरत्प्रमदच्छटां करिणीघटामुपनीय ताम् ॥ २ ॥
करकीर्णपङ्कजरेणुभिः स करेणुभिर्विहरंश्चिरम्।
ह्रदमध्यमेष गतो ह्यभूदनुभूय तद्रमणीयताम् ॥ ३ ॥
पयसीह कोऽपि दुरुद्धरो मकरोऽङ्घ्रिमस्य समाक्षिपत्।
अथ तौ महामकरद्विपौ दधतुर्मिथो दमनीयताम् ॥ ४ ॥
मकरो महाप्रबलो जले स बलेन दन्तिनमाहरत्।
करुणां दशामुपगच्छता करिणाथ किं नु विधीयताम् ? ॥ ५ ॥
सुहृदोऽथ भीतहृदोऽद्रवन् करिणीषु किंकरणीयता।
अवशोऽधुना भृशगद्गदो द्विरदो दधौ भवदीयताम् ॥ ६ ॥
हृदि चिन्तयंश्चरणोत्पलं कमलं करेण विनिक्षिपन्।
करुणं जुहाव जगत्पते ! त्वरितेन नाथ समीयताम् ॥ ७ ॥
अयि नाथ ! यामि जलान्तरे मकरेण निर्मथितोऽन्तरे।
अयि हे परेश ! करेण मे ह्यवलम्बनं प्रतिदीयताम् ॥ ८ ॥
गजपुङ्गवस्य सवेदनं करुणं निशम्य निवेदनम्।
निजलोकतस्त्वरितोऽभ्यया द्विरदेऽवयान् दयनीयताम् ॥ ९ ॥

अयि नाथ ! सम्प्रति पश्य मां विषमामवेहि दशामिमाम् ।
पतितस्य किं नु भवार्णवे करलम्बनं न विधीयताम् ॥१०॥
मथितोऽस्मि वासनयाऽनया व्यथितोऽस्मि नाथ निरन्तरम् ।
अधुना तु कंजरुचिस्पृशा करुणादृशा परिचीयताम् ॥११॥
अयि दीनमेनमवेहि रे ! वत मञ्जुनाथशिरोऽन्तरे ।
करपल्लवस्तु न चेत् क्षणं पदपल्लवोऽपि निधीयताम् ॥१२॥

गजेन्द्रोपरि दयायाः सागर ! ईयताम् आगम्यताम् ॥ १ ॥ संस्फुरन्ती प्रमदच्छटा हर्षच्छविः यस्याः तादृशीं करिणीघटां करेणुसमूहं सह संनीय ॥ २ ॥ करेण शुण्डया कीर्णाः क्षिप्ताः पङ्कजपरागा याभिः । तस्य ह्रदस्य रमणीयतामनुभूय ॥ ३ ॥ गजस्य दमनीयः अभिभवनीयः मकरः, मकरेण दमनीयो गज इति मिथो दमनीयताम् ॥ ४ ॥ आहरत् आकर्षत् ॥ ५ ॥ किं करणीयं यासां तद्भावः किं कर्तव्यता विमूढता । भवदीयतां पूर्वजन्मनो भवदीयभक्तताम्, शरणागतिमित्यर्थः ॥ ६ ॥ सवेदनं वेदनासहितम् । द्विरदे गजे दयायोग्यताम् अवयान् जानन् अभ्ययाः आगतोऽभूः ॥ ९ ॥ करेण आलम्बनं न विधीयताम् ? अपि तु अवश्यं क्रियताम् ॥ १० ॥ विषयवासनया । कंजरुचिस्पृशा कमलशोभाधारिण्या दृष्ट्या ॥ ११ दीनम् एनं मञ्जुनाथम् अवेः रक्षेः । शिरसः अन्तरे मस्तकस्योपरि ॥ १२ ॥

हे गजेन्द्रके लिये दयाके निधान ! गुणोंके सागर ! जल्दी आइये । हे करुणासागर ! मुझे आप क्यों त्याग रहे हैं, हे नाथ ! अब समीप आइये ॥ १ ॥ जिनके आनन्दकी शोभा प्रत्यक्ष प्रकट हो रही थी, ऐसी हथिनियोंके समूहको साथ लेकर यह गजेन्द्र मनोहर किसी दिव्य झीलमें विहार करता था ॥ २ ॥ जिन्होंने सूँडसे कमलके परागको अपने ऊपर डाल रखा था, ऐसी हथिनियोंके साथ बहुत कालतक विहार करके, और उस सरोवरकी सुन्दरता देखकर वह उस झीलके मध्यभागमें चला गया ॥ ३ ॥ जलमें एक भयंकर मगर छिपा हुआ था, उसने इसके पैर दृढ़तासे पकड़ लिया। अब यह मगर और गजेन्द्र दोनों एक दूसरेको दमन करनेकी कोशिश करने

लगे ॥ ४ ॥ जलमें मगर बड़ा प्रबल होता है, इसलिये वह बड़े वेगसे हाथीको जलमें खींच ले गया । इस दयनीय दशामें पड़ा हुआ हाथी बिचारा अब क्या करता ॥ ५ ॥ मित्र-बान्धव भीतहृदय होकर दूर भाग गये, निर्बल हथिनियाँ भी किंकर्तव्यविमूढ हो गयीं । अब विवश और अत्यन्त गद्गद हुआ हाथी पूर्वजन्ममें प्राप्त आपकी भक्तिको धारण करता हुआ आपके शरण हुआ ॥ ६ ॥ हृदयमें आपके चरण-कमलका ध्यान करता हुआ, और सूँडसे एक कमल तोड़कर ऊपर फेंकता हुआ दीनतासे भगवान्‌को पुकारने लगा—'हे जगत्पति ! हे नाथ ! शीघ्र पधारिये ॥७॥ हे नाथ ! अब तो जलमें डूबने ही जा रहा हूँ, भीतर मगरने मुझको दबा रखा है । हे परात्पर स्वामी ! अब अपने श्रीहस्तसे मुझको अवलम्बन दीजिये' ॥८॥ यों वेदनापूर्ण गजेन्द्रका करुण निवेदन सुनकर और उसको दयायोग्य समझते हुए आप अपने लोक वैकुण्ठसे अत्यन्त उतावले होकर आये [मार्गमें शीघ्रताके कारण गरुडको भी छोड़कर पैदल ही दौड़ पड़े ।] ॥ ९ ॥ हे नाथ ! अब मुझपर दयादृष्टि डालें । मेरी इस दीन दशाका विचार करें । भवसागरमें पड़े हुए मुझको क्या श्रीहस्तका अवलम्बन नहीं देंगे ? अवश्य देंगे ॥ १० ॥ इस विषय-वासनासे सताया हुआ मैं निरन्तर पीड़ित रहता हूँ । अब तो कमलकी शोभाको धारण करनेवाली सदय दृष्टिसे मेरी ओर निहारिये ॥ ११ ॥ हे हरि ! इस दीनकी रक्षा करिये । मञ्जुनाथके मस्तकपर हस्तकमल नहीं, तो चरणपल्लव ही क्षणभरके लिये स्थापित करें ॥ १२ ॥

[१७]

भूयात् प्रभोऽधुना तु दया दीनदुर्जने ।
किं वा विलम्बसे मम सौभाग्यसर्जने ॥ १ ॥
नानाविधैर्न धैर्यमहो तापसंचयैः ।
दह्ये दयानिधान भृशं भूरिभर्जने ॥ २ ॥
पश्याग्रतोऽयमेति यमो मां विकर्षयन् ।
हा हन्त ! याति धैर्यमिदं तीव्रतर्जने ॥ ३ ॥

संतोषमाप्य चित्तमिदं शान्तिमेतु मे ।
संतापितो भ्रमामि सदा सम्पदर्जने ॥ ४ ॥
भ्राम्यामि मूढ एष महाघोरसंकटे ।
कस्मादुपेक्षसेऽद्य ममोन्मार्गवर्जने ॥ ५ ॥
वीक्षस्व दीन एष कियत् क्रन्दते चिरात् ।
कस्माच्छृणोषि नाथ विपद्घोरगर्जने ॥ ६ ॥
संतापितस्य दीनदशां किं न वीक्षसे ।
यातासि किं प्रसादमसूनां विसर्जने ? ॥ ७ ॥
हे नाथ ! मञ्जुनाथमिमं न्यक्करोषि किम् ।
सैषोऽस्ति चक्रवर्तिसमो दुष्टदुर्जने ॥ ८ ॥

दीने सत्यपि दुर्जने (मयि) ॥ १ ॥ सांसारिकेऽस्मिन् संतापजनित-भर्जने दाहे दग्धो भवामि ॥ २ ॥ मम उन्मार्गाद् वर्जने निवारणे कस्मात् उपेक्षां करोषि ? ॥ ५ ॥ मम विपत्तीनां घोरं गर्जनं भवति, तस्य कोलाहले मम क्रन्दनं कस्मात् श्रृणुयाः इत्याशयः ॥ ६ ॥ मम असूनां प्राणानाम् विसर्जने निर्गमने एव किं प्रसन्नतां यातासि यास्यसि ? ॥ ७ ॥ दुष्टे दुर्जने च लोके अयं चक्रवर्तिसदृशः (महापापी), अतएव चक्र-वर्तिनस्तिरस्कारो नोचितः ॥ ८ ॥

हे प्रभु ! दीन होनेपर भी दुर्जनता न छोड़नेवाले मुझपर अब तो दया होगी (यह आशा है) । मेरे सौभाग्य-निर्माणमें (मुझे बड़भागी बनानेमें) अब क्यों देरी कर रहे हैं ॥ १ ॥ नाना प्रकारके संतापोंके कारण मुझको धैर्य नहीं । हे दयानिधान ! सांसारिक तापोंसे भूना जाकर मैं जल रहा हूँ ॥ २ ॥ सामने देखिये, यह यमराज मुझको घसीटता चला आ रहा है । हाय, हाय ! इसकी तीव्र तर्जना (डाँट-डपट) से मेरा धैर्य छूटा जा रहा है ॥ ३ ॥ संतोष धारणकर यह मेरा चित्त शान्त हो जाय, (यही मेरी प्रार्थना है) । (क्योंकि अभी तो) मैं संपत्तिके उपार्जनमें (ही) सदा संतापित हुआ घूमता रहता हूँ ॥ ४ ॥ मैं ऐसा मूढ हूँ कि इस महाघोर संकटमें भी घूमता रहता हूँ । मुझे कुमार्गसे बचानेमें अब आप उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ॥ ५ ॥

देखिये, यह दीन कितनी देरसे कितना चिल्ला रहा है। हे नाथ! विपत्तियोंकी इस घोर गर्जनामें मेरी आवाज आप क्योंकर सुनेंगे? ॥ ६ ॥ पीड़ितकी इस दीन दशाको आप क्यों नहीं देखते। क्या मेरे प्राण चले जानेपर ही आप प्रसन्न होंगे? ॥ ७ ॥ हे नाथ! इस मञ्जुनाथका तिरस्कार क्यों करते हैं? यह दुष्ट दुर्जनोंमें चक्रवर्तीके समान है ॥ ८ ॥

[१८]

अये कामये नाथ किंचिद्दृशं ते ।
क्षणं देहि दीनेऽनुकम्पालवं ते ॥ १ ॥
अहो मे बहोः कालतो लालसेयम् ।
कदाऽऽलोकयेयं पदाम्भोरुहं ते ॥ २ ॥
क्षणं वीक्ष्यतां नाथ दीना दशा मे ।
धरायां विलोठामि हा सम्मुखं ते ॥ ३ ॥
न किं वैद्य! संवीक्षसे रुग्णमेतम् ।
वराकश्चिरादागतोऽयं गृहं ते ॥ ४ ॥
चिरं चिन्तया किं तयाहं न दूये ।
प्रभो! हन्ति या दीनमेनं जनं ते ॥ ५ ॥
प्रभो भासि सर्वस्य चित्तान्तराले ।
किमालेखये दुःखमेतच्चिरं ते ॥ ६ ॥
बलं धर्मकर्मादि केषांचन स्यात् ।
अलं केवलं मेऽनुकम्पाबलं ते ॥ ७ ॥
यमाद् दुर्यमाद् रक्षणं दूरमास्ताम् ।
प्रभो! प्रार्थयेऽहं क्षणं वीक्षणं ते ॥ ८ ॥
कथं वा हरेऽहं हरे! मन्दकर्मा ।
सरोजप्रभामोचनं लोचनं ते ॥ ९ ॥
लभेताञ्जसा मूढचेता नु मादृक् ?
लभन्ते बुधाः संविदन्ते पदं ते ॥ १० ॥

अहं पातकी ख्यातकीर्तिर्जनानाम् ।
परं किं दयाब्धेर्दयायाल्लयं ते ॥ ११ ॥
प्रभुः पातकान्येक्ष्य चित्रायितोऽभूत् ।
अये मञ्जुनाथ ! प्रभावो ह्ययं ते ॥ १२ ॥

लालसा इयम् ॥ २ ॥ हे वैद्य (हे भगवन्) एतं रुग्णं (माम्) ॥ ४ ॥ एतद् दुःखं ते किम् आलेखयेयं सूचयेयम् इत्याशयः । आलेखये इति णिजन्तादात्मनेपदे लट उत्तमपुरुषैकवचनम् ॥ ६ ॥ दुष्करो यमः (यमनं दमनम्) यस्य तस्माद् यमात् ॥ ८ ॥ हे हरे ! मन्दकर्मा अहं ते लोचनं कथं हरे (मदभिमुखं कथमाकर्षयेयम्) ॥ ९ ॥ मूढो मादृशस्ते पदम् अञ्जसा सहजम् नु किम् लभेत ? नैवेत्यर्थः । बुधाः संविदन्ते तत्त्वज्ञानस्यान्ते ते पदं लभन्ते ॥ १० ॥ अहं प्रसिद्धः पातकी अस्मि, परं दयासागरस्य ते दया किं लयम् अयात् याता ? अपि तु न लुप्ता ॥ ११ ॥ प्रभुस्ते पातकानि दृष्ट्वा चकितोऽभूत्, अयं ते प्रभावः । धन्योऽसि ॥ १२ ॥

हे नाथ ! मैं आपकी तनिक-सी दृष्टि चाहता हूँ । क्षण भरके लिये इस दीनको लेशमात्र दयाका दान दीजिये ॥ १ ॥ अहा ! मेरी यह बहुत दिनोंसे लालसा थी कि आपका चरण-कमल कब देख पाऊँगा ॥ २ ॥ एक क्षणके लिये मेरी दीन दशाका अवलोकन कीजिये । हाय, हाय ! आपके आगे मैं जमीनपर लोट रहा हूँ ॥ ३ ॥ हे भवरोगके चिकित्सक ! इस रोगीपर दृष्टि क्यों नहीं डालते ? यह विचारा बहुत कालसे तुम्हारे घरमें आया है ॥ ४ ॥ क्या मैं उस चिन्तासे चिरकालसे पीड़ित नहीं हूँ, जो हे प्रभु ! तुम्हारे इस दीन सेवकको मार रही है ? ॥ ५ ॥ हे प्रभु ! आप सबके हृदयमें विराजते हैं । आपको यह दुःख देरतक क्या सुझाऊँ ॥ ६ ॥ धर्म-कर्मादिका बल किन्हींके पास होगा । मुझको तो केवल आपकी दयाका ही पूर्ण बल है ॥ ७ ॥ दुर्दमनीय यमराजसे रक्षा करना दूर रहे, हे प्रभु ! मैं तो एक क्षणके लिये आपकी दृष्टि चाहता हूँ ॥ ८ ॥ हे हरि ! मन्दकर्मा (पातकी अथवा मन्दभाग्य) मैं कमलकी शोभाको हरण करनेवाले आपके नेत्रको अपनी ओर कैसे आकर्षित करूँ ? ॥ ९ ॥

मेरे सदृश मूढ क्या सहज ही आपका स्थान पा सकता है ? विवेकी (मुनि लोग) तत्त्वज्ञानके अनन्तर आपका पद पाते हैं ॥ १० ॥ मैं लोगोंमें ख्यातिप्राप्त पापी हूँ । किंतु दयासागर ! क्या आपकी दया विलीन हो गयी ? ॥ ११ ॥ प्रभु तेरे पावोंको देखकर चित्रलिखितकी तरह रह गये । हे मञ्जुनाथ ! तेरा ही यह प्रभाव है ॥ १२ ॥

[१९]

मानुगृह्णासि न किं पासि विभो दीनं माम् ? ।
किं न जानन्नपि जानासि विभो दीनं माम् ॥ १ ॥
पश्य मे दीनदशामद्य दयालो ! किंचित् ।
किं प्रगल्भोऽपि न पुष्णासि विभो दीनं माम् ॥ २ ॥
कर्मबन्धेन निबद्धोऽस्मि महामूढोऽहम् ।
किं पुनर्मोहतो बध्नासि विभो दीनं माम् ॥ ३ ॥
नावलम्बं ददसे किं विलम्बं कुरुषे ।
किं न कारुण्यतो गृह्णासि विभो दीनं माम् ॥ ४ ॥
हन्त संतापयुतो भूरि रमे संसारे ।
किं मुधा मायया मथ्नासि विभो दीनं माम् ॥ ५ ॥
कोऽसि कुत्रासि कथं लभ्यसेऽहं नो जाने ।
तत्त्वमिदं किं न समाख्यासि विभो दीनं माम् ॥ ६ ॥
दर्शनं नो ददसे वैषयिकैर्मोहयसे ।
मूढमालक्ष्य विमुष्णासि विभो दीनं माम् ॥ ७ ॥
पादमुद्राङ्कनतो मौलिमिमं मुद्रय मे ।
किं विमोहेन विमृद्नासि विभो दीनं माम् ॥ ८ ॥
मूर्तिमेतां मधुरां किं न हरे दर्शयसे ।
दीननाथोऽपि न किं यासि विभो दीनं माम् ॥ ९ ॥
ज्ञानशून्योऽपि चिरादद्य गुणान् गायति ते ।
मञ्जुनाथोऽपि, न विजहासि विभो दीनं माम् ॥ १० ॥

किं न अनुगृह्णासि अनुग्रहं करोषि ? किं न पासि । सर्वज्ञतया सर्वं जानन्नपि मां किं न जानासि ॥ १ ॥ प्रगल्भश्चतुरः ॥ २ ॥ ददसे 'दद दाने' । गृह्णासि स्वीकरोषि ॥ ४ ॥ संतापयुक्तोऽपि संसारे रमे सुखमनुभवामि ॥ ५ ॥ वैषयिकैः विषयसम्बन्धिभिः प्रपञ्चैः । विमुष्णासि वञ्चयसि ॥ ७ ॥ तव चरणं संस्थाप्य तच्चिह्नेन मे मस्तकं चिह्नितं कुरु । विमृद्नासि मर्दयसि ॥ ८ ॥ किं न यासि रक्षणार्थं मां किं नोपगच्छसि ? ॥ ९ ॥ मञ्जुनाथश्चिराद् ज्ञानशून्योऽपि अद्य ते गुणान् गायति । अत एव दयालुस्त्वमपि तं न त्यजसि ॥ १० ॥

हे प्रभु ! मुझ दीनपर अनुग्रह क्यों नहीं करते, उबारते क्यों नहीं ? मुझे जानते हुए भी अजान क्यों हो रहे हैं ॥ १ ॥ हे दयालु ! मेरी दीन दशापर भी कुछ दृष्टि डालिये । आप समर्थ होकर भी मेरा पालन-पोषण क्यों नहीं करते ? ॥ २ ॥ महामूर्ख मैं कर्मोंकी डोरीसे पहले ही बँधा हुआ हूँ । फिर इस दीनको हे प्रभो ! मोह (के पाश)से क्यों जकड़ रहे हैं ॥ ३ ॥ आप मुझे सहारा नहीं देते, (इतना) विलम्ब क्यों करते हैं, दयापूर्वक मुझ दीनको स्वीकार क्यों नहीं करते ॥ ४ ॥ हाय, मैं संतापयुक्त हूँ, तो भी इस संसारमें ही मस्त रहता हूँ । फिर व्यर्थ ही मुझ दीनको हे प्रभो ! इस मायाके द्वारा क्यों कष्ट दे रहे हैं ॥ ५ ॥ आप कौन हैं, कहाँ रहते हैं, किस तरह प्राप्त होते हैं—यह मैं (कुछ) नहीं जानता । हे प्रभु ! मुझ दीनको यह तत्त्व क्यों नहीं समझा देते ॥ ६ ॥ आप दर्शन नहीं देते, किंतु विषयप्रपञ्चोंसे मोहित करते हैं । मुझे मूढ देखकर प्रभु ! आप भी ठगते हैं ॥ ७ ॥ आपकी चरणमुद्रासे मेरे मस्तकपर मुहर कर दीजिये । इस मोहके द्वारा मुझ दीनका मथन क्यों करते हैं ॥ ८ ॥ हे हरि ! अपनी इस मधुर मूर्तिका दर्शन क्यों नहीं कराते । दीननाथ होकर भी मुझ दीनके पास आप क्यों नहीं आते ॥ ९ ॥ यह मञ्जुनाथ चिरकालसे ज्ञानशून्य है, किंतु आज आपके गुण गाता है । आप भी दयालु हैं, इसीलिये इसको नहीं छोड़ते ॥ १० ॥

[२०]

भवाटवी

अहो कं वाऽऽश्रयेयं दीनबन्धो ।
स्वदुःखं कं वदेयं दीनबन्धो ! ॥ १ ॥
महाघोरे घनेऽहं काननेऽस्मिन् ।
वद त्वं कं भजेयं दीनबन्धो ! ॥ २ ॥
वनाग्निः सर्वतो मे संवृतोऽयम् ।
अहो कुत्र द्रवेयं दीनबन्धो ? ॥ ३ ॥
पथि श्रान्तो नितान्तोत्पीडितोऽहम् ।
कथं शान्तिं वहेयं दीनबन्धो ॥ ४ ॥
प्रभो ! भ्राम्यामि दिङ्मूढोऽतिवेलम् ।
कथं मार्गं जुषेयं दीनबन्धो ! ॥ ५ ॥
अहो वन्यद्विपो मामेति हन्तुम् ।
वटेऽस्मिन्नापटेयं दीनबन्धो ! ॥ ६ ॥
द्रुतं शाखां प्रगृह्यालम्बितोऽहम् ।
परं कूपस्तलेऽयं दीनबन्धो ॥ ७ ॥
अधः कूपो द्विपोऽयं सम्मुखे मे ।
कथं शाखां त्यजेयं दीनबन्धो ! ॥ ८ ॥
परं क्षौद्रस्य वृक्षाद् विन्दवो मे ।
मुखे ह्यायान्त्यमेयं दीनबन्धो ॥ ९ ॥
इमां शाखामपीमौ मूषकौ द्वौ ।
लुनीतः किं चरेयं दीनबन्धो ॥ १० ॥
क्व भो गच्छामि कुर्वे किं प्रभो मे ।
त्वमेवाख्याह्युपेयं दीनबन्धो ॥ ११ ॥
विहाय त्वां कमन्यं मञ्जुनाथम् ।
वटेऽस्मिन्नारटेयं दीनबन्धो ! ॥ १२ ॥

घने परस्परं वृक्षाणामाश्लेषेण निबिडे ॥ २ ॥ पथि श्रान्तः मार्ग-चलनेन खिन्नः ॥ ४ ॥ पूर्वादयो दिशः का इति दिग्भ्रमान्मोहयुक्तः । अतिवेलं निरन्तरम् । जुषेयं प्राप्नुयाम् ॥ ५ ॥ वटवृक्षे आपटेयम् आगच्छेयम् ॥ ६ ॥ शीघ्रं शाखां गृहीत्वा लम्बितः । वृक्षस्य अधस्तात् कूपः ॥ ७ ॥ परं कूपहस्तिभयात् वृक्षशाखां कथं त्यजेयम् ? ॥ ८ ॥ परं वटवृक्षे 'मधुचक्र' स्रुतस्य क्षौद्रस्य मधुनः बिन्दवो मम मुखे अमेयं अपरिमितं यथा स्यात् तथा आयान्ति इति लोभः ॥ ९ ॥ उपरि दर्शनेन ज्ञातं यद् अवलम्बिताम् इमां शाखां शुक्लकृष्णौ द्वौ मूषकौ निरन्तरं छिन्तः । दार्ष्टान्तिके तु जीवस्य आयुःकालरूपां शाखां दिनरात्रि-रूपौ शुक्लकृष्णौ द्वौ मूषकौ अनवरतं कर्तयतः ॥ १० ॥ उपेयम् उपगन्तव्यं शरणं त्वमेव आख्याहि ॥ ११ ॥ मन्जुं त्वां नाथं विहाय जीवनरूपेऽस्मिन् वटवृक्षे कम् आरटेयम् आह्वयेयम् ॥ १२ ॥

अहो दीनबन्धु ! मैं किसका आश्रय लूँ, किसको अपना दुःख कहूँ ॥ १ ॥ महाघोर इस घने जंगलमें हे दीनबन्धु ! किसके पास जाऊँ, आप ही कहिये ॥ २ ॥ यह जंगली आग मेरे चारों ओर फैल गयी है । हाय, मैं अब कहाँ भागूँ ॥ ३ ॥ मार्ग चलनेके परिश्रमसे मैं खिन्न हूँ, अति पीड़ित हूँ । हे दीनबन्धु ! मुझको शान्ति कैसे मिले ॥ ४ ॥ हे प्रभु ! दिशा भूलकर बहुत देरसे मैं भटक रहा हूँ । हे दीनबन्धु ! मुझको मार्ग कैसे मिले ॥ ५ ॥ अहो, दीनबन्धो ! यह जंगली हाथी मुझे मारनेको आ रहा है । मैं दौड़कर इस बड़के वृक्षपर चढ़ जाऊँ ॥ ६ ॥ जल्दीसे उसकी जटा पकड़कर मैं लटक गया हूँ । किंतु दीनबन्धु ! इसके नीचे एक कुआँ है ॥ ७ ॥ नीचे कुआँ और सामने मेरे यह जंगली हाथी है । हे दीनबन्धु ! अब यह शाखा छोड़ूँ तो कैसे ॥ ८ ॥ पर दीनबन्धु ! वृक्षके ऊपरसे मेरे मुखमें शहदकी बूँदे बराबर गिर रही हैं ॥ ९ ॥ इस शाखाको भी दो चूहे काट रहे हैं; दीनबन्धु ! (अब) मैं क्या करूँ ॥ १० ॥ हे प्रभु ! मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? (अतः) दीनबन्धु ! जाने योग्य स्थान आप ही बतायें ॥ ११ ॥ सर्वाङ्गसुन्दर नाथ आपको छोड़कर इस

जीवनरूपी वट-वृक्षके सहारे लटका हुआ मैं और किसको टेरूँ ॥ १२ ॥
[यहाँ जन्म-मरणरूप आवागमनका चक्र ही जंगल है, सांसारिक क्लेश अग्नि हैं, काल जंगली हाथी है, यह संसार वटवृक्ष है, नीचे नरकादिका भय कुआँ है, सांसारिक विषय-सुख शहदकी बूँदें हैं। आयुरूपी वटकी जटाको काले और सफेद (रात्रि और दिनरूप) दो चूहे धीरे-धीरे समाप्त कर रहे हैं]।

[२१]

भ्रमन्तं भूरि संसारे मुरारे ! पाहि दीनं माम् ।
पदाब्जे ते विलोठन्तं द्रुतं संयाहि दीनं माम् ॥ १ ॥
मुहुः क्लिश्नाति चिन्तासौ समन्तादाकुलीभूतम् ।
ततोऽपि व्रीडयत्येषा महत्त्वाशा हि दीनं माम् ॥ २ ॥
न दूये दुर्जनालापैः पराभूये न संतापैः ।
चिरायोपेक्षणं ते बाधते सदा हि दीनं माम् ॥ ३ ॥
न भाग्यं तादृशं यत् ते विलोके रूपसौभाग्यम् ।
धिनोति ध्यानसौख्यं ते सुधासंवादि दीनं माम् ॥ ४ ॥
न दैन्याद् दूयते चित्तं न वित्तं स्तूयते भूरि ।
अधैर्यं किंतु संधत्ते सदा संनाहि दीनं माम् ॥ ५ ॥
अविश्रान्तं प्रतीक्षातो नितान्तं श्रान्तचित्तोऽहम् ।
दयालो ! दृक्सुधासारैर्नवं निर्माहि दीनं माम् ॥ ६ ॥
श्रुतीनां भूरिभूतीनां विकल्पैर्दिग्विमूढोऽहम् ।
कथंकारं विलोके त्वां मनागाख्याहि दीनं माम् ॥ ७ ॥
कृपापीयूषलेशार्थं प्रयस्यन् दूयमानोऽहम् ।
निलीनं द्वारदेशे ते न प्रत्याख्याहि दीनं माम् ॥ ८ ॥
दयामालम्ब्य ते भूमन् ! सनाथो मञ्जुनाथोऽहम् ।
इदानीं त्वद्वशोऽहं पाहि मा वा पाहि दीनं माम् ॥ ९ ॥

संयाहि रक्षणार्थम् आगच्छ ॥ १ ॥ व्रीडयति लज्जितं करोति ॥ २ ॥

पराभूये पराजितः (पराभूतः) भवामि। संदाहि हृदयदाहकम् ॥ ३ ॥ सुधासंवाहि अमृतप्रवाहकं ते ध्यानसुखमेव मां धिनोति प्रीणयति ॥ ४ ॥ वित्तं भूरि न स्तूयते न अभिनन्द्यते, वित्तार्थमेव बहुलं प्रयासो न क्रियत इत्याशयः । परं संनाहि सदा संनद्धं (सज्जम्) अधैर्यं मां संधत्ते आश्रयति । त्वं मम कामवस्थां करिष्यसीति अधैर्यं सदा मे तिष्ठतीति भावः ॥५॥ दृष्टिसुधावर्षणेन दीनं मां नवीनं कुरु, संसारभ्रमणपरिश्रमं छिन्धि, इत्याशयः ॥ ६ ॥ भूरिशाखानां वेदानां विकल्पैः 'केन मार्गेण गच्छेयम्' इति किंकर्तव्यविमूढः ॥ ७ ॥ प्रयस्यन् प्रयासं कुर्वन् । न प्रत्याख्याहि निषेधं मा कुरु ॥ ८ ॥

इस संसारमें निरन्तर भटकते हुए मुझ दीनकी हे मुरारि ! रक्षा करो। आपके चरण-कमलोंमें लोटते हुए मेरे पास जल्दी आइये ॥ १ ॥ चारों तरफ घबराये हुए मुझको यह सांसारिक चिन्ता बार-बार क्लेश देती है। इसपर भी यह बड़प्पनकी जो दुराशा लगा रखी है, वह और भी मुझे लज्जित करती है ॥ २ ॥ दुर्जनोंद्वारा की गयी चर्चासे मैं दुखी नहीं होता, संतापोंसे भी मैं नहीं घबराता; किंतु चिरकालसे आपकी ओरसे की गयी मेरी उपेक्षा हृदयको जलाती है और पीड़ा देती है ॥ ३ ॥ मेरा ऐसा भाग्य कहाँ जो आपका स्वरूप-सौन्दर्य देख सकूँ। अमृतकी तरह सुखकी धारा बहानेवाला आपके ध्यानका आनन्द ही मुझको प्रसन्न करता है ॥ ४ ॥ मेरा चित्त दीनतासे पीड़ित नहीं होता, न धनकी ही बहुत अधिक प्रशंसा करता हूँ। 'किंतु मेरी आगे क्या दशा होगी' यह सदा उपस्थित रहनेवाला अधैर्य मुझ गरीबके साथ लगा रहता है ॥ ५ ॥ निरन्तर आपकी बाट देखते-देखते मैं खिन्नचित्त हो गया हूँ। हे दयालु ! अपनी दृष्टिरूपी सुधाकी वर्षासे मुझे नया बना दीजिये, संसार-भ्रमणका परिश्रम दूर कर दीजिये ॥६॥ अनन्त शाखावाले वेदोंके विभिन्न मतोंसे मैं किंकर्तव्यमूढ हो गया हूँ। मैं आपको कैसे देखूँ, यह मुझ गरीबको आप ही तनिक बतला दें ॥ ७ ॥ आपकी कृपारूपी अमृतकी बूँदके लिये प्रयास करता-करता मैं पीड़ित हो गया हूँ । आपके दरवाजेपर चुपचाप चिपके हुए मुझ गरीबको

दुतकारिये (टालिये) मत ॥ ८ ॥ हे परमात्मन् ! आपकी दयाका आश्रय लेकर यह मञ्जुनाथ सनाथ (सुरक्षित, निश्चिन्त) हो रहा है। अब मैं आपके ही अधीन हूँ, इस गरीबकी रक्षा करें, चाहे न करें ॥ ९ ॥

[२२]

दयालो ! किमालोकसे निःस्पृहम् ।
चिरं व्याकुलो हन्त लोठाम्यहम् ॥ १ ॥
न किं वीक्षसे नाथ ! दीनाननम् ।
चिरं चिन्तया हन्त दैन्यावहम् ॥ २ ॥
खरैरश्रुपूरैर्निरुद्धे दृशौ ।
कथं नाम शोके विलोके त्वहम् ॥ ३ ॥
सुहृत्-सूनु-सम्बन्धिनोऽप्यद्य माम् ।
विमुञ्चन्ति भूमौ गतं निस्सहम् ॥ ४ ॥
न कंचित्सहायं विलोके विभो !
क भो दर्शयिष्यामि चित्ताग्रहम् ॥ ५ ॥
मतेर्दीनबन्धो ! न गन्धोऽस्ति मे ।
सदा मन्दकर्माणि कुर्वेऽन्वहम् ॥ ६ ॥
कथं पुण्यमन्वेषये जीवने ।
इदं दुष्कृतानन्तदावेऽदहम् ॥ ७ ॥
इदानीं प्रभो मञ्जुनाथो धृतिम् ।
दयालोस्तवैवाद्य हस्तेऽवहम् ॥ ८ ॥

निःस्पृहम् तटस्थः सन् किं पश्यसि, रक्षां किं न करोषि ? ॥ १ ॥ दैन्यावहम् दीनतासूचकम् ॥ २ ॥ खरैः शोकवर्द्धकत्वात् निष्ठुरैः ॥ ३ ॥ निस्सहं स्पर्शमात्रस्यापि असहनम्, मुमूर्षुमिति यावत् ॥ ४ ॥ यदा कश्चित् सहायक एव नास्ति तदा चित्तस्य आग्रहम् अभिनिवेशं कुत्र दर्शयिष्यामि ? न कुत्रापीत्यर्थः ॥ ५ ॥ मम बुद्धेर्लेशोऽपि नास्ति, अत एव बुद्धिशून्यः प्रतिदिनं मन्दकर्माणि करोमि ॥ ६ ॥ इदं पुण्यं पाप-

रूपे अनन्ते दावे वनाग्नौ अदहम् ॥ ७ ॥ इदानीं मञ्जुनाथोद्धारस्तव हस्ते एवास्ति ॥ ८ ॥

हे दयालु ! तटस्थ (उदासीन)-से होकर क्या देख रहे हो। हाय, हाय ! मैं व्याकुल होकर चिरकालसे भूमिपर लोट रहा हूँ ॥ १ ॥ हे नाथ ! क्या इस गरीबके मुँहको नहीं देखते, जो हाय-हाय ! चिन्ताके कारण चिरकालसे दीनतापूर्ण दिखायी देता है॥ २ ॥ इन निठुर आँसुओंसे आँखें रुँध गयी हैं, इस शोकपूर्ण अवस्थामें आपका दर्शन भी कैसे करूँ ॥ ३ ॥ मित्र-पुत्र-सम्बन्धी मुझे आज ऐसी असहाय अवस्थामें मुझे भूमिपर डालकर छोड़ दे रहे हैं जब कि मैं दूसरेके छूनेको भी सहन नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ हे प्रभु ! कोई सहायक नहीं दीखता। (ऐसी दशामे) किसके आगे अपने चित्तका आग्रह (हठ) प्रकट करूँ ?॥ ५ ॥ हे दीनबन्धु ! मुझमें बुद्धिका गन्ध (लेश) भी नहीं है, अतएव मैं नित्य निरन्तर निकृष्ट काम करता रहता हूँ ॥ ६ ॥ अपने जीवनमें मैं पुण्य कहाँसे खोजूँ, वह तो मेरे पापरूपी अपार दावाग्निमें जल गया ॥ ७ ॥ हे प्रभु ! इस समय मञ्जुनाथका उद्धार दयालु आपके ही हाथोंमें छोड़ दे रहा हूँ ॥ ८ ॥

[२३]

हंहो मुकुन्द मामहो दीनं न पासि किम् ?।
दीनं दयानिधे तवाधीनं जहासि किम् ?॥ १ ॥
आकण्ठमग्नमेनमहो मोहसागरे ।
हित्वा दयावतार विदूरे प्रयासि किम् ॥ २ ॥
बद्धोऽस्मि पूर्वमेव पुराकर्मबन्धनैः ।
तस्योपरि प्रभोऽद्य विमोहं ददासि किम् ॥ ३ ॥
भ्रान्तो भ्रमामि भूरि विभो कर्मकानने ।
मायामरीचिकां पुनर्मूढे दधासि किम् ॥ ४ ॥
चित्तेन चिन्तयैव चिरादर्तिराचिता ।
प्रेमाम्मयेन नाथ न चेमां लुनासि किम् ॥ ५ ॥
नेमां रुणत्सि मोहिनीं मायास्ति सम्मुखे ।
कूपान्तिकेऽन्धमेनमपास्यापयासि किम् ॥ ६ ॥

चित्तान्तरे जनस्य निवासं करोषि चेत् ।
चित्तस्य वेदनां तदा मे नावयासि किम् ॥ ७ ॥
पश्याद्य दयादृष्ट्ये द्वारे लुठामि ते ।
पश्यन्नपि प्रभोऽद्य न पश्यन्निवासि किम् ॥ ८ ॥
तापेन भूरि तापितो लोठामि भूतले ।
हंहो दयानिधान ! दयां नोपयासि किम् ? ॥ ९ ॥
दीनोऽपि तावकोऽस्मि विहीनोऽपि साधनैः ।
मामद्य मञ्जुनाथ विमोहैः प्रमासि किम् ॥ १० ॥

मोहसागरे आकण्ठं मग्नम् एनं मां हित्वा त्यक्त्वा ॥ २ ॥ पुराकर्म०—पूर्वं कृतानां कर्मणां बन्धनैः ॥ ३ ॥ भ्रान्तो भ्रमामि कर्तव्येषु भ्रमयुक्तोऽहं कर्मवने भ्रमामि । मायारूपां मरीचिकां मृगतृष्णाम् ॥ ४ ॥ चित्तेन चिन्ताद्वारा चिरात् अर्तिः पीडा संचिता, इमां प्रेमवर्षया किं न छिनत्सि ॥ ५ ॥ कूपसमीपे अन्धम् एनं माम् अपास्य त्यक्त्वा किमिति गच्छसि ? माया क्रूरसदृशीत्यर्थः ॥ ५ ॥ अवयासि जानासि ॥ ७ ॥ साधनैः हीनः दीनः अपि अहं त्वदीयः अस्मि । विमोहैः मां किं प्रमासि ? विमोहानुत्पाद्य तेषां द्वारा मां किं परीक्षसे ॥१०॥

हे मुकुन्द ! मुझ दीनकी रक्षा क्यों नहीं करते । हे दयानिधान ! अपने वशवर्ती इस दीनका त्याग क्यों कर रहे हैं ॥ १ ॥ मोहरूपी समुद्रमें कण्ठपर्यन्त डूबे हुए इस दीनको छोड़कर हे दयाके अवतार ! आप इतना दूर कैसे जा रहे हैं ॥२॥ पूर्वजन्मोंके कर्मबन्धनोंसे मैं पहले ही जकड़ा हूँ, उसके ऊपर हे प्रभु ! आज आप यह मोह (कर्तव्योंमें मूढता) क्यों उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ३ ॥ कर्तव्यके विषयमें भ्रमित हुआ मैं इस कर्मरूपी वनमें निरन्तर भटक रहा हूँ । इस मूढके आगे फिर यह माया-की 'मृगतृष्णा' क्यों उपस्थित कर रहे हैं [मरुस्थलके टीबोंमें वायुके झकोरोंसे ऐसी लहरें-सी पड़ जाती हैं, जो प्यासे हिरनोंको दूरसे पानी-भरे तालाबमें लहर-जैसी दि-खायी देती हैं । फिर पास पहुँचनेपर और आगे वैसी ही दिखायी देती हैं । यों दौड़ते-दौड़ते मृगकी आयु समाप्त हो जाती है, परंतु वह दृश्य समाप्त नहीं होता । यही 'मृगतृष्णा' है] ॥ ४ ॥ इस चित्तने चिन्ताके द्वारा चिरकालसे

एक पीड़ा संचित कर ली है। अब प्रेमवर्षासे हे नाथ ! इसे क्यों नहीं शान्त करते ॥ ५ ॥ यह मोहिनी माया मेरे सामने है, इसे क्यों नहीं रोक देते। कुएँके पास इस अंधेको छोड़कर किसलिये जाते हैं ॥ ६ ॥ इस मनुष्यके चित्तमें यदि आप निवास करते हैं तो फिर मेरे चित्तकी वेदनाको आप क्यों नहीं जानते ॥ ७ ॥ देखिये, आपकी दयादृष्टिके लिये आपके दरवाजेपर मैं लोट रहा हूँ। देखते हुए भी न देखनेवालेकी तरह हे प्रभु ! आप कैसे हो रहे हैं ॥ ८ ॥ तापसे संतप्त होकर मैं भूतलपर लोट रहा हूँ। (इसपर भी) हे दयानिधान ! क्या आपको दया नहीं आती ? ॥ ९ ॥ मैं उद्धारके साधनोंसे हीन और दीन हूँ, फिर भी, आपका कहलाता हूँ। हे सर्वाङ्गसुन्दर स्वामी ! नाना तरहके मोह पैदा करके मेरी परीक्षा क्यों ले रहे हैं ? ॥ १० ॥

[२४]

दोषं ददासि चेद् विभो ! चित्तं तदा व्यकारि किम् ? ।
पुण्यं परीक्षसे प्रभो ! बुद्धिर्न सा व्यतारि किम् ? ॥ १ ॥
जाने प्रभो ! त्वदिच्छया लोकोऽखिलं विचेष्टते ।
हंहो दयानिधे तदा दोषो मम व्यचारि किम् ॥ २ ॥
स्वामिन् ! ममैनसामहो संख्यां कथं करिष्यसे ?
सेयं परार्द्धपूरिणी पूर्वं प्रभो ! ह्यकारि किम् ॥ ३ ॥
पूर्वं त्वजामिलादयस्त्रातास्त्वया दयावशात् ।
अस्मत्कृते दयानिधे ! सेयं दया न्यवारि किम् ॥ ४ ॥
पापीति मां कथं त्यजेर्वादं भजे दयानिधे !
पृच्छाम्यहम्–'पुरा त्वया पापी न वोद्धारि किम् ?' ॥ ५ ॥
माहं विशेषलम्पटो बाढं पटो ! परीक्ष्यताम् ।
किंतु प्रलोभनैः प्रभो ! ज्ञानं मम त्वहारि किम् ॥ ६ ॥
स्वामी स मञ्जुनाथ ते स्तोकं न दोषमीक्षते ।
पुण्यैः प्रसन्नताथ चेद् दानं दयानुसारि किम् ? ॥ ७ ॥

'त्वं पापान्याचरसि' इति मह्यं त्वं दोषं ददासि, तर्हि हृदि स्थितेन त्वया मम चित्तं किं व्यकारि विकृतं कृतम् । सा बुद्धिः पुण्यानुसारिणी किं न व्यतारि अदायि ? ॥ १ ॥ मम दोषः किं व्यचारि कथं विचारितः ॥ २ ॥ एनसां पापानाम् । सेयं संख्या परार्द्धपूरिणी परार्द्धपर्यन्ता किमिति अकारि ? मम दोषाः परार्द्धसंख्यातोऽप्यधिकाः, अतएव अग्रे संख्याभावात् परिमाणं कथं भवेदित्याशयः ॥ ३ ॥ न्यवारि निवारिता, त्यक्ता ॥ ४ ॥ पापीति कृत्वा मां कथं त्यजसि ? हे दयानिधे ! अस्मिन् विषये वादं भजे करोमि, अतएव पृच्छामि—'किं त्वया कश्चित् पापी न उदधारि उद्धृतः । यदि पूर्वं पापी उद्धृतस्तर्हि अहं किमर्थं त्यक्तो भवितुमर्हामि ? ॥ ५ ॥ हे पटो ! चतुर बाढं परीक्षा क्रियताम्—अहम् अतिलम्पटो लुब्धः नास्मि । प्रलोभनैः मम ज्ञानं तु अहारि । प्रलोभनानि दत्त्वा मम ज्ञानस्यापहरणं कृतम् । अत एव मम लम्पटताप्रवृत्तिदर्शनम् ॥ ६ ॥ स स्वामी स्तोकमपि दोषं न ईक्षते । यतः यदि पुण्यैः प्रसन्नता तर्हि दयानुसारि दानं किं जातम् । पुण्याभावेऽपि यदि कृपा भवेत् तदैव दयादानमित्याशयः ॥ ७ ॥

हे प्रभु ! पाप करनेका दोष यदि मुझको देते हैं तो मेरे चित्तको विकृत (विकारयुक्त) क्यों किया ? (हृदयमें स्थित आप ही तो प्रेरक हैं)। मेरे पुण्योंकी परीक्षा करते हैं तो वैसी (उनके अनुकूल) बुद्धि मुझको क्यों नहीं दी ॥ १ ॥ प्रभु ! मैं जानता हूँ कि सब लोग आपकी इच्छासे ही चेष्टा करते हैं । फिर हे दयानिधान ! इसमें मेरा दोष क्यों विचारा गया ? ॥ २ ॥ हे स्वामी ! मेरे दोषोंकी गिनती आप कैसे कर सकेंगे । यदि गिनती करनी ही थी तो आपने संख्याको 'परार्द्ध' पर्यन्त ही पहले क्यों बनाया ? (मेरे दोष परार्द्ध संख्यासे भी अधिक हैं) ॥ ३ ॥ आपने पूर्वकालमें अजामिल आदि पापियोंकी दयाके वशीभूत होकर रक्षा की थी। फिर मेरे लिये ही उस दयाको क्यों मना कर दिया ॥ ४ ॥ दयानिधान ! 'पापी हो' कहकर मेरा आप त्याग कैसे करेंगे । मैं आपसे इस विषयमें 'वाद' (विवाद) करूँगा । अतएव मैं पूछता हूँ कि 'क्या पहले आपने किसी पापीका कभी उद्धार नहीं किया ?'

(यदि आप कहें कि किया है तो फिर मेरा त्याग कैसे उचित है ?) ॥५॥ हे निपुण (भगवन्) ! मेरी अच्छी तरह परीक्षा कर लीजिये—मैं अधिक लम्पट (लोभी) नहीं हूँ । किंतु प्रलोभन-सामग्रीके द्वारा आपने मेरे ज्ञानको क्यों हर लिया ? ॥ ६ ॥ अरे मञ्जुनाथ ! तेरा वह स्वामी कुछ भी दोष नहीं देखता । यदि पुण्योंके द्वारा उन्हें प्रसन्नता होती हो, तब तो फिर दयासे प्रेरित दान कहाँ रहा । (पुण्यके बिना भी यदि कृपा हो, तभी दयानिधानका दयादान समझा जाय) ॥ ७ ॥

[२५]

हरे ! संतरेद् भाग्यनौका ममेयम् ।
क्षणं क्षेपणी स्याद् दया चेत् तवेयम् ॥ १ ॥
भवाब्धिस्तु कल्लोलमालाकुलोऽयम् ।
महाजर्जरा नाथ ! नौका ममेयम् ॥ २ ॥
ततोऽप्यद्य विद्योतते नैव भास्वान् ।
घटा चोत्कटा व्योम्नि विस्फूर्जितेयम् ॥ ३ ॥
न पश्यामि मार्गं निरुद्धोऽन्धकारे ।
विचारेण हीनातिदीना दशेयम् ॥ ४ ॥
महासागरे दुस्तरे वाति वायौ ।
मिमङ्क्षुस्तरिर्दोलते चञ्चलेयम् ॥ ५ ॥
भ्रमीणां भ्रमिर्भूरि भीतिं विधत्ते ।
न जाने कदानेन लीयेत सेयम् ॥ ६ ॥
इदानीं न मे शक्तिरस्याः प्रवाहे ।
क्षणादेव हे देव मग्नो भवेयम् ॥ ७ ॥
न वीक्षेऽधुना त्वां विना रक्षकं मे ।
यदन्तःस्थितं त्वां किमावेदयेयम् ॥ ८ ॥
इदानीं तु हे नाथ नेत्रे निबद्धे ।
निरुद्धेयमत्रैव नौः किं चरेयम् ? ॥ ९ ॥

दृशा मञ्जुनाथं क्षणं वीक्षसे चेत् ।
निमग्नोऽपि कामं हरे संतरेयम् ॥ १० ॥

क्षणार्थं तव दया यदि क्षेपणी नौकादण्डः स्यात् तर्हि मम भाग्यरूपा नौका संतरेत् ॥ १ ॥ विस्फूर्जिता विजृम्भिता ॥ ३ ॥ विचारेण हीना, विचारमपि कर्तुं मे सामर्थ्यं नास्ति ॥ ४ ॥ मिमङ्क्षुः मज्जनाशङ्काग्रस्ता तरिर्दोलते आलोडिता भवति । आशङ्कायां सन् ॥ ५ ॥ भ्रमीणां जलावर्तानाम् भ्रमिः भ्रमणम् । अनेन (आवर्तभ्रमणेन) न जाने सेयं तरिः कदा लीना भवेत् ॥ ६ ॥ ×××××××चरेयं करोमि ॥ ९ ॥ यदि तव दयादृष्टिर्भवेत् तर्हि तदिदं मे जलं निमज्जनं संतरणं भवेदित्याशयः ॥ १० ॥

हे हरि ! यह मेरे भाग्यकी नौका तैर जाय यदि क्षणकालके लिये आपकी यह कृपा डाँड़ बन जाय ॥ १ ॥ यह संसार-समुद्र बड़ी-बड़ी तरङ्गमालाओंसे व्याप्त है; किंतु हे नाथ ! मेरी यह नौका अत्यन्त जर्जर (पुरानी) है ॥ २ ॥ उसपर भी आज सूरज नहीं चमक रहा है । आकाशमें प्रचण्ड घटा घिर रही है ॥ ३ ॥ मैं अन्धकारसे घिरा हूँ, मार्ग दिखायी नहीं देता । मैं विचारतक नहीं कर सकता कि अब क्या होगा । ऐसी मेरी दीन दशा है ॥ ४ ॥ इस अपार महासागरमें हवा (वेगसे) चल रही है । मेरी नाव चञ्चल हो रही है, डूबना ही चाहती है ॥ ५ ॥ इसपर भी 'भँवरों' का वेग और भी भीति बढ़ा रहा है (कि न जाने इनमें पड़कर यह कब—किस क्षण डूब जाय) ॥ ६ ॥ अब इसको चलानेकी शक्ति मुझमें नहीं है । हे भगवन् ! एक क्षणमें मैं डूब जाऊँगा ॥ ७ ॥ अब आपको छोड़कर किसी (दूसरे) को मैं रक्षक नहीं देखता । आप मेरे हृदयके बीच विराजते हैं, आपसे क्या निवेदन करूँ ? ॥ ८ ॥ हे नाथ ! अब तो आँखें मिच गयी हैं । अरे ! यह नौका भी यहीं रुक गयी, क्या करूँ ॥ ९ ॥ हे स्वामी ! यदि इस मञ्जुनाथको क्षणभरके लिये एक नजर भी देख ले तो अच्छी तरह डूबा हुआ भी मैं तर जाऊँगा ॥ १० ॥

[२६]

उपेक्षयालं जहासि कालम्, द्रुतं न किं पासि भो विभो माम् ।
सुधामये ! कामयेऽनुकम्पां मुधावजानासि भो विभो माम् ॥१॥
तवावलम्बेन निर्भयोऽहम्, न वा विलम्बेन लाभमीक्षे ।
समन्ततो व्याधिसंततोऽहम्, कुतो न गृह्णासि भो विभो माम् ॥२॥
अयेऽवलोकस्व बन्धबाधाम्, ममापराधांस्तु मानुमासीः ।
दयाब्धिराकर्णितो मया त्वम्, कथं विमृद्नासि भो विभो माम् ॥३॥
निरन्तरं बाधते विचिन्ता दुरन्तसंतापसंकुलं माम् ।
किरन्तमश्रूणि दुःखदूनं कथं न पुष्णासि भो विभो माम् ॥४॥
त्रिलोकलक्ष्मीललाममूर्तिर्विलोकनीयोऽसि लोकपालैः ।
अकिंचनं माययानया ते कथं नु मुष्णासि भो विभो माम् ॥५॥
भ्रमन्ननेकासु भूमिकासु श्रमं कियन्नाथ धारयेऽहम् ।
न पारये, हन्त पालयेथाः, कियद् विमश्नासि भो विभो माम् ॥६॥
क्व यामि, किं वाऽऽचरामि, कीदृग् भवामि, कस्मै निवेदयामि ।
कथं विलोठामि ते पदाब्जे न किं त्वमाख्यासि भो विभो माम् ॥७॥
विशीर्यते देहसंधिबन्धो, न दीनबन्धो ! सहे निवोढुम् ।
न चेतना चेष्टतेऽधुना किं न वानुगृह्णासि भो विभो माम् ॥८॥
न कोऽपि मार्गावबोधको मे, भवन्निकेतं वदेत् तु को मे ?
व्यथाशतैराकुलं किलेमं वृथा निगृह्णासि भो विभो माम् ॥९॥
सुमञ्जुना ते गुणेन भूमन् ! स मञ्जुनाथोऽद्य निर्भयोऽयम् ।
विना भवन्तं न वेद्म्यवन्तम्, पुनर्न किं पासि भो विभो माम् ॥१०॥

उपेक्षां मा कुरु, कालं जहासि मे उद्धारकालं वृथैव यापयसि । 'अये हरे ! अहम् अनुकम्पां सुधाम् दयारूपम्, अमृतम् (व्यस्तरूपकम्) कामये वाञ्छामि । व्यर्थमेव माम् अवजानासि तिरस्करोषि ॥ १ ॥ गृह्णासि स्वीकरोषि ॥ २ ॥ मम सांसारिकबन्धनानां बाधाम् अवलोकस्व । मम अपराधानाम् अनुमानं मा कुरु ['सांसारिकी इयती अस्य पीडा, अत एव अनेन पापानि अपि बहूनि कृतानि' इति]। विमृद्नासि अपराधदण्ड-

दाने मर्दयसि ॥ ३ ॥ पुष्णासि रक्षसीति यावत् ॥ ४ ॥ अकिंचनं दीनम् मां मायया कथं मुष्णासि प्रतारयसि । लोकपालैरपि समये दर्शनीयस्य ते इदं नोचितमित्यर्थः ॥ ५ ॥ अनेकासु भूमिकासु अनेकेषु जन्मसु इत्याशयः । परिश्रमं कियत् (क्रियाविशेषणम्) धारयामि ॥ ६ ॥ अङ्गानां संधिबन्धो विशीर्यते, मम देहो विशीर्णप्राय इत्याशयः । मम चेतना न चेष्टते, मम चैतन्यं नास्तीत्याशयः । किं न अनुगृह्णासि अनुग्रहं करोषि ॥ ८ ॥ निगृह्णासि दमयसि ॥ ९ ॥ गुणेन दयागुणेन । सः अयं मञ्जुनाथः । भवन्तं विना अन्यम् अवन्तम् रक्षकम् न जानामि ॥ १० ॥

(अब और अधिक) उपेक्षा न करें, मेरे उद्धारका काल व्यर्थ जा रहा है । हे प्रभु ! शीघ्रतासे मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ? हे नाथ ! मैं दया-रूपी अमृत चाहता हूँ, व्यर्थ मेरा तिरस्कार क्यों करते हैं ? ॥ १ ॥ मैं आपके (आसरे)से निर्भय हूँ, अब आपके विलम्ब करनेसे कोई लाभ नहीं देखता । मैं सब ओरसे व्याधियोंसे घिरा हूँ, हे प्रभु ! मुझे अपनाते क्यों नहीं ? ॥ २ ॥ हे प्रभु ! मेरे सांसारिक बन्धनोंसे होनेवाली बाधाको देखें, मेरे अपराधोंका अनुमान न करें [यह न सोचें कि इसको इतनी पीड़ा है, इसलिये अवश्य इसने इतने अपराध किये हैं] । मैंने आपको दयासागर सुन रखा है, फिर आप मुझे इस प्रकार क्यों रगड़ रहे हैं ? ॥ ३ ॥ कठिनतासे दूर होनेवाले संतापोंसे व्याकुल मुझको नाना तरहकी चिन्ता पीडित कर रही है । अतएव आँसू बरसाते हुए, दुःखसे सताये मेरा आप पालन क्यों नहीं करते ? ॥ ४ ॥ आपकी मूर्ति त्रिलोकीकी शोभासे मण्डित है । इन्द्र-कुबेरादिक लोकपालोंके लिये (भी) वह दर्शन करनेयोग्य है । फिर मुझ अकिंचनको आप अपनी मायासे क्यों ठगते हैं ! ॥ ५ ॥ अनेक योनियोंमें घूमता हुआ मैं कितना थक गया हूँ । हाय ! अब शक्ति नहीं रही, (अतः) रक्षा करिये । प्रभु ! अब कितना (और) मुझे रगड़ेंगे ॥ ६ ॥ कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कैसा बनूँ, किसके आगे निवेदन करूँ । आपके चरणोंमें (आकर) कैसे लोटूँ, प्रभो ! यह आप मुझे क्यों नहीं बताते ? ॥ ७ ॥ अङ्गोंके जोड़-जोड़ ढीले होते जाते हैं, हे दीनबन्धु ! अब (और) सहा नहीं जाता । अब मेरी

चेतनाशक्ति काम नहीं करती (मुझमें चेतना नहीं रही)। हे प्रभु! फिर भी मुझपर अनुग्रह क्यों नहीं करते?॥ ८ ॥ कोई भी मार्ग-निर्देशक नहीं है, (फिर) आपका स्थान मुझे कौन बताये। सैकड़ों पीड़ाओंसे व्याकुल इस जीव (मुझ) को वृथा ही दण्ड दे रहे हैं ॥ ९ ॥ आपके सुन्दर गुण (दया) से यह मञ्जुनाथ निर्भय है। आपके बिना मैं किसी दूसरेको अपना रक्षक नहीं जानता, फिर आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते! ॥ १० ॥

[२७]

अयि नाथ दयादृष्टिं तव देहि दयालो! मे।
विद्धासि तिरस्कारं किल केन कृपालो मे ॥ १ ॥
भ्रान्तोऽस्मि भृशं भूमन्! भ्रमभूरिभवारण्ये।
अधुना तु वनान्तेऽस्मिन् भव नाथ! निभालो मे ॥ २ ॥
मम मन्दकृतिस्तोमो बत बीजमभूत् पूर्वम्।
कृतकर्मतरुः सोऽयम्, अधुना तु विशालो मे ॥ ३ ॥
अयि नाथ! गजेन्द्रेऽभूद् भवदीयदया पूर्वम्।
अधुना तु दयासिन्धो! वद केन करालो मे ॥ ४ ॥
लोठामि भृशं भूमौ दीनोऽयमहं त्वग्रे।
निद्रासि कथंकारं ननु शेषशयालो! मे ॥ ५ ॥
विद्धासि दयादृष्टिं यदि किंचिदपि स्वामिन्!
न हि नाथ! भयं किंचित् कलयेदपि कालो मे ॥ ६ ॥
यदि कष्टमये काले न करोषि करालम्बम्।
तव भूरिकृपालोकैः किमकारि कपालो मे? ॥ ७ ॥
भृशमन्यजनप्रीत्यै सुरशाखिचयोऽप्यास्ताम्।
व्रजभूमिभवो भूत्यै भवतात्स तमालो मे ॥ ८ ॥
अयि नाथ! न नाथेऽन्यत्, परमस्तु भवच्चित्ते।
बत मञ्जुलनाथोऽयं चपलोऽपि च बालो मे ॥ ९ ॥

हे कृपालो! मे तिरस्कारं केन विद्धासि ॥ १ ॥ भ्रमबहुले भवरूपे अरण्ये। हे नाथ! मे निभालः (निभालयतीति निभालः, निरीक्षकः)

भव ॥ २ ॥ मम मन्द (निषिद्ध) कर्मसमूहः पूर्वं बीजरूपे अभूत् । अधुना मे कृतकर्मरूपः तरुः विशालो जातः । बीजरूपेण स्थितं मन्दकृत्यं विशालवृक्षरूपे परिणतमित्यर्थः ॥ ३ ॥ मे मदर्थं केन करालः क्रूरः असि ॥ ४ ॥ अयमहं दीनस्तु भूमौ लुठामि, हे मम शेषशायिन् ! त्वं कथं निद्रासि ? एवं कष्ट-करुणकाले निद्रा ते किं उचिता ? ॥ ५ ॥ कालः साक्षात् यमः अपि ॥ ६ ॥ यदि कष्टसमयेऽपि मम करावलम्बनं न करोषि, तर्हि तव कृपाकटाक्षैः किम् ॥ ७ ॥ अन्यजनानां प्रीतये कल्पवृक्षसमूहः भवतु । मम तु भूत्यै (कल्याणाय) व्रजभूमिजातः तमालवृक्षः श्रीकृष्णः अस्तु, इति आशीः । रूपकातिशयोक्तिः ॥ ८ ॥ नाथे आशासे, याचामि । मञ्जुनाथः चपलः अपि मे बालः शिशुः अस्ति इति भवच्चित्ते अस्तु ॥ ९ ॥

हे नाथ ! हे दयालु ! अपनी दयादृष्टि मुझपर डालिये । हे कृपालु ! मेरा तिरस्कार क्यों करते हैं ? ॥ १ ॥ हे पृथ्वीनाथ ! इस भ्रमबहुल [जिसमें पैंड-पैंडपर भ्रम हो] आवागमनरूप जंगलमें बहुत चक्कर काट चुका हूँ, इस विपिनमें अब मेरे निरीक्षक आप बन जाइये ॥ २ ॥ मेरे नीच कार्य-कलाप पहले बीजरूपमें छोटे थे । अब तो मेरे द्वारा किये कार्यरूप वृक्ष विशाल हो गये ॥ ३ ॥ हे नाथ ! पहले गजेन्द्रपर आपकी दया हो चुकी है; (फिर) हे दयासिन्धु ! इस समय मुझपर आप क्रूर क्यों हैं, बताइये ॥ ४ ॥ मैं दीन आपके आगे भूमिपर लोट रहा हूँ, फिर हे शायी ! आप शेषकी शय्यापर लेटे हुए खुर्राटे कैसे ले रहे हैं ? ॥ ५ ॥ हे स्वामी ! यदि आप थोड़ी भी दयादृष्टि डालें तो हे नाथ ! साक्षात् काल भी मुझे भयभीत नहीं कर सकता ॥ ६ ॥ यदि इस कष्टमय समयमें भी आप हाथका सहारा नहीं देते तो फिर आपकी कृपादृष्टिने क्या किया—मेरा सिर ? (लोकोक्ति) ॥ ७ ॥ और लोगोंकी प्रीति तो कल्पवृक्षोंके समूहसे चाहे ही हो जाय, मेरा कल्याण तो व्रजभूमिमें उत्पन्न हुए उस (श्रीकृष्ण) से ही हो । (रूपकातिशयोक्ति) ॥ ८ ॥ किंतु हे नाथ ! मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल आपके चित्तमें यह बात रहे कि 'यह मञ्जुनाथ चपल है तो भी मेरा बालक है' ॥ ९ ॥

[२८]

नवप्रचलितगीतिः

भयभीतमेनमालोक्य स मामविता भविता वनमाली मे।
भृशमन्धकारिभवभीतिपथे सविता भविता वनमाली मे ॥ १ ॥
भ्राम्यामि भूरि संतापभृतो भुवनेषु नेह मिलितो ह्यविता।
तत्तस्य भूरिकारुण्यसुधास्रविता भविता वनमाली मे ॥ २ ॥
ननु कस्य पुरो वाचाभरेण याचामि दैन्यचिन्ताकरेण।
संसारघोरसंतापलेशलविता भविता वनमाली मे ॥ ३ ॥
धनगर्वमत्तधनिकालयेषु लिप्साभरेण घनपङ्किलोऽस्मि ।
कारुण्यपूरपीयूषभरात् पविता भविता वनमाली मे ॥ ४ ॥
यदि मञ्जुनाथसूक्तिर्न मता कविताप्रबन्धमाधुर्यविदाम्।
कीर्तिप्रसारसौभाग्यसारसविता भविता वनमाली मे ॥ ५ ॥

एनं मां भयभीतम् आलोक्य सः दयालुत्वेन प्रसिद्धः वनमाली मे अविता रक्षकः भविता भविष्यति [अद्य न चेत् तर्हि मम दीनतामालोच्य श्वः अवश्यं रक्षको भविष्यतीति व्यञ्जनाय अनद्यतनभविष्यति लुट्]। अन्धकारयुक्ते भव (संसार) भयपूर्णे मार्गे वनमाली मे सविता सूर्यः भविष्यति। भवमार्गे श्रीकृष्ण एव मम मार्गदर्शको भविष्यतीत्याशयः ॥ १ ॥ हि अविता रक्षकः । तत्तस्य मम कृते कारुण्यरूपायाः सुधायाः स्रविता स्रावकः, वर्षकः ॥ २ ॥ दैन्यचिन्ताजनकेन वाणीभरेण कस्य जनस्य पुरः अग्रे याचामि । संसारतापलेशस्य लविता छेदकः, नाशकः ॥ ३ ॥ घनं यथा स्यात् तथा पङ्किलः अतिकलुषः अस्मि । पविता पावकः, शोधकः ॥ ४ ॥ न मता न सम्मता तर्हि वनमाली मे कीर्तिप्रसाररूपस्य सौभाग्यसारस्य सविता उत्पादकः भविता ॥ ५ ॥

मुझ दीनको भयभीत देखकर वे वनमाली मेरे रक्षक होंगे। अत्यन्त अन्धकारयुक्त संसारके भयानक मार्गमें वे वनमाली मेरे लिये पथप्रकाशक सूर्य

होंगे ॥१॥ संतापयुक्त हुआ इन लोकोंमें खूब भटक रहा हूँ; किंतु (कहीं) रक्षक नहीं मिला। अब तपे हुए मेरे लिये वे वनमाली अपार दयारूपी अमृतके वरसानेवाले होंगे ॥ २ ॥ मैं दीनता और चिन्ताजनक अपने वाक्य-समूहसे किसके आगे याचना करूँ। वे वनमाली ही मेरे सांसारिक घोर संतापके लेशको भी न रहने देंगे, उसका सर्वथा नाश कर देंगे ॥ ३ ॥ धनके गर्वसे मत्त हुए धनिकोंके घरोंमें जाकर मैं विविध लालसाओंसे मलिन हो रहा हूँ; दया-प्रवाहरूपी अमृत-स्रोतसे वनमाली ही मेरे पवित्र करनेवाले होंगे ॥४॥ काव्य-प्रबन्धोंमें माधुर्यके परीक्षकोंको यदि मञ्जुनाथकी सूक्ति (कविता) पसंद नहीं आयी, तो वनमाली ही कीर्तिप्रसाररूपी सौभाग्यभारके उत्पादक होंगे ॥ ५ ॥

[२९]

भगवान् शंकरः

अये गिरीन्द्रनन्दिनीश ! नन्दयस्व माम्।
अये शशाङ्कशोभिभाल ! पालयस्व माम् ॥ १ ॥
जाता नितान्ततान्तता संतापितस्य मे।
पीयूषपूरपोषतः संतोषयस्व माम् ॥ २ ॥
याचे न चेतसा भवन्तमीहितान्तरम्।
दृशा दयास्पृशा तु तत् सम्भावयस्व माम् ॥ ३ ॥
यदा पशुर्विशाम्पते ! भवताधिरुह्यते।
तदा पदाग्रदानतः सम्मानयस्व माम् ॥ ४ ॥
भवान् भवानुकीर्तने ख्यातस्त्रिलोचनः।
एकेन लोचनेन तु प्रतिभालयस्व माम् ॥ ५ ॥
जाने भवन्तमद्रिजाजाने ! ममाश्रयम्।
मा मा निराशतां प्रदाः परिवारयस्व माम् ॥ ६ ॥

चित्तेन अहम् ईहितान्तरम् अन्यद् ईहितं वाञ्छितम् न याचे ॥३॥ पशुः नन्दीश्वरो वृषभः ॥ ४ ॥ हे भव ! कीर्तनकथायां भवान् त्रिलोचनः

प्रसिद्धः । प्रनिभालयस्व विलोकय ॥ ५ ॥ मह्यं निराशतां मा प्रदेहि मां निराशं मा कुरु, मां परिवारयस्व निजं परिवारं 'सेवकं' कुरु ॥ ६ ॥

हे पर्वतकुमारी (पार्वती) के स्वामी ! आप मुझे आनन्दित करें । चन्द्रमासे शोभित मस्तकवाले ! आप मेरा पालन करें ॥ १ ॥ संसार-तापोंसे संतप्त मुझको बड़ी खिन्नता हो गयी है । (अतः) अमृतपूरसे पोषण करके मेरा संतोष कर दीजिये ॥ २ ॥ मैं अपने मनसे आपसे और कोई अभीष्ट वस्तु नहीं माँगता । अतः दयायुक्त दृष्टिसे ही मेरा सम्मान कर दीजिये ॥ ३ ॥ हे लोकस्वामी ! जिस समय आप अपने वाहन (नन्दीश्वर) पर आरोहण कर रहे हों, चरण-का अग्रभाग मात्र मुझे देकर मेरा सम्मान कर दीजिये ॥ ४ ॥ हे शंकरजी ! कीर्तनोंमें आप त्रिलोचन कहलाते हैं, तब मुझे एक लोचनसे तो अच्छी तरह ध्यानसे देख लीजिये ॥ ५ ॥ हे पार्वतीपति ! मैं आपको अपना आश्रय जानता हूँ (ऐसी दशामें) आप मुझे निराश मत करिये, अपना सेवक बना लीजिये ॥ ६ ॥

[३०]

अहो शम्भो ! भवेत्किं भो ममैवार्थे विलम्बोऽयम् ? ।
समुद्धारेच्छया नूनं पुरारे ! तेऽवलम्बोऽयम् ॥ १ ॥
कियद् भ्राम्यामि भो भूमन् ! भवेऽस्मिन् भूरिभीतोऽहम् ।
अहो भूतेश ! किं कुर्वे, भवाध्वा भूरिलम्बोऽयम् ॥ २ ॥
मनोमोहाय जायन्ते जगद्वस्तूनि पर्यन्ते ।
अहो मे लोलुपस्याग्रे धृतोऽभूत् किं करम्भोऽयम् ॥ ३ ॥
बहिर्जानन्ति मां सन्तं हृदन्तं केऽपि नेक्षन्ते ।
अहो किं दर्शयेदग्रे दुरन्तं दुष्टदम्भोऽयम् ॥ ४ ॥
विभो ! वीक्षस्व चिन्तासौ न किं तावद् दुरन्ता मे ।
अहो लग्नो हृदन्ते मे न कृन्तेत् किं कलम्बोऽयम् ॥ ५ ॥
अहो भूतेश ! भुक्तेभ्यो न भोगेभ्यो विरज्येऽहम् ।
कथं मुञ्चेन्मुखायातं तृषार्तो मिष्टमम्भोऽयम् ॥ ६ ॥

सुखं मोदेत मेदिन्यां सनाथो मञ्जुनाथोऽयम् ।
भवेद् भूतेश ! भावत्को दयालेशोऽ*वलम्बोऽयम् ॥ ७ ॥

निश्चितं समुद्धारस्येच्छया अयं ते अवलम्बः आश्रयः कृतोऽ-भूत् ॥ १ ॥ भवस्य अध्वा मार्गः अतिदीर्घः ॥ २ ॥ पर्यन्ते अवसाने मोहाय भवन्ति । करम्भो दधिमिश्रसक्तुः । ॥ ३ ॥ हृदन्तं हृदयपर्यन्तम् । अयं दम्भः बाह्याडम्बरः किं दुरन्तम् दुष्परिणामम् दर्शयेत् ॥४॥ हृदन्ते लग्नः कलम्बः बाणः किं न कृन्तेत् । इयं चिन्ता बाणसदृशीत्याशयः ॥ ५ ॥ तृषार्तः मुखागतं मिष्टम् अम्भः जलम् कथं मुञ्चेत् ॥ ६ ॥ दयालेशः अवलम्बः बलम् भवेत् । पाठान्तरे तु अद्य भवदीयः दया-लेशो भवेत् तर्हि मञ्जुनाथः सनाथः सन् मोदेत ॥ ७ ॥

हे शम्भु ! क्या मेरे लिये ही यह विलम्ब होगा ? निस्संदेह उद्धारकी आशासे (ही) हे पुरारि ! आपका इस प्रकार आश्रय लिया गया है ॥ १ ॥ व्यापक प्रभु ! अत्यन्त डरा हुआ मैं इस संसारमें कहाँतक भटकूँगा । हे भूतनाथ ! मैं क्या करूँ, यह संसारका मार्ग बड़ा लंबा है ॥ २ ॥ ये जगत्‌की वस्तुएँ अन्तमें मनके मोहका कारण बन जाती हैं । अरे, मुझ लोभीके आगे यह दही-मिला सत्तू क्यों रखा गया ॥ ३ ॥ बाहरसे सब मुझको साधु समझते हैं, हृदयके भीतरी भागको कोई नहीं देख पाते । अरे, न जाने यह दुष्ट दम्भ अगाड़ी क्या दुष्ट परिणाम दिखाये ॥ ४ ॥ हे प्रभु ! देखिये, क्या यह मेरी चिन्ता कठिनतासे दूर होनेवाली नहीं ? हृदयके भीतर लगा यह बाण क्या मुझको नही सालेगा ? ॥ ५ ॥ हे प्राणिमात्रके स्वामी ! इन भोगे हुए भोगोंसे मुझे विरक्ति नहीं होती । प्याससे पीडित यह जीव मुखमें आये हुए शीतल मिष्ट जलको कैसे छोड़े ॥ ६ ॥ हे भूतनाथ ! यदि आपकी दयाका लेश भी मेरा अवलम्बन हो जाय तो सनाथ (सुरक्षित, निर्भय) हुआ यह मञ्जुनाथ पृथिवीमें सुखपूर्वक मौज करे ॥ ७ ॥

---

*'द्य शम्भोऽयम्' इति पाठान्तरम् ।

[३१]

वन्दामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ।
सेवामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ १ ॥
संतापितस्य तापहरं किंचिदस्ति चेत् ।
बुध्यामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ २ ॥
लीयेत लाभलोभलवोऽप्यन्तरस्य चेत् ।
विन्दामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ ३ ॥
यायाद् यमोऽपि मौनमहो नम्रमौलि चेत् ।
अर्चामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ ४ ॥
संसारसागरस्य महापोतमाततम् ।
श्लाघामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ ५ ॥
एतावदेव देव ! सदाभ्यर्थयामहे ।
पश्याम हे महेश ! पदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ ६ ॥
गर्वोद्धुरं कदापि न याचामहे नरम् ।
याचामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ ७ ॥
काव्येषु मञ्जुनाथ ! न नः स्पर्द्धया फलम् ।
वीक्षामहे महेशपदाम्भोजमुज्ज्वलम् ॥ ८ ॥

तापहरं यदि किंचिदस्ति, तर्हि तत् शिवचरणकमलं बुध्यामहे जानीमः ॥ २ ॥ यदि शिवचरणं विन्दामहे प्राप्नुमः तर्हि चित्तस्य लोभलेशः अपि लुप्येत ॥ ३ ॥ नतमस्तकं यथा स्यात् तथा यमोऽपि मौनं यायाद् यदि वयं शिवचरणम् अर्चामः ॥ ४ ॥ आततं विस्तृतम् ॥ ५ ॥ एतत् अर्थयामहे याचामः यत् हे महेश ! ते पदाम्भोजं पश्याम (प्रार्थनायां लोट्) ॥ ६ ॥ नरं (नरात्, अविवक्षायां द्वितीया) न याचामहे, अपि तु पदाम्भोजम् पदकमलात् अभीष्टं याचामः ॥ ७ ॥

श्रीमहेश्वरके उज्ज्वल चरण-कमलोंका हम वन्दन करें । श्रीमहेशके उज्ज्वल चरण-कमलोंका हम सेवन करें ॥ १ ॥ संतापित पुरुषके

लिये कोई तापहारक वस्तु है तो हम जानते हैं कि वह महेशका उज्ज्वल पद-कमल ही है ॥ २ ॥ अन्तःकरणमें लाभके लोभका लेशमात्र भी लुप्त हो जाय, यदि हम महेशके उज्ज्वल चरण-कमलोंको पा जायँ ॥ ३ ॥ यमराज भी नम्रमस्तक होकर चुप हो जाय, यदि हम महेशके उज्ज्वल चरण-कमलोंका पूजन करें ॥ ४ ॥ जो संसाररूपी सागरको पार करनेके लिये एक विस्तृत जहाज है, ऐसे श्रीमहेशके उज्ज्वल चरण-कमलोंकी हम प्रशंसा करते हैं ॥ ५ ॥ हे देव ! हम सदा इतनी ही प्रार्थना करते हैं कि हे महेश ! आपके उज्ज्वल चरण-कमलोंका दर्शन करें ॥ ६ ॥ गर्वमें भरे किसी मनुष्यसे हम नहीं माँगते; हम तो याचना करते हैं श्रीमहेशके उज्ज्वल चरण-कमलसे ॥ ७ ॥ हे मञ्जुनाथ ! कविता-रचनामें किसीसे स्पर्द्धा करनेसे हमें कोई लाभ नहीं । हम तो देखते हैं श्रीमहेशके उज्ज्वल चरण-कमल ॥ ८ ॥

[३२]

हे गणेयगुणावधे करुणानिधे ह्यवधीयताम् ।
दृष्टिरुज्ज्वलभारते तव भारते विनिधीयताम् ॥ १ ॥
एष भूवलये विशेषविधोऽस्ति देशवरश्चिरात् ।
सर्वसभ्यसमाज एष विभाति यद्रमणीयताम् ॥ २ ॥
किं नु कोऽपि निदर्शयेद् बत देशमीदृशमुन्नतम् ।
यस्य वाङ्मयमावहेन्निगमागमैस्तुलनीयताम् ॥ ३ ॥
यत्र कुङ्कुमकेसराः कलयन्ति कामपि सुच्छविम् ।
देश ईदृश ईक्ष्यते किमिहापरोऽपि विचीयताम् ॥ ४ ॥
रत्नराशिरलुण्ठि लुण्ठनतत्परैर्बहुधा परैः ।
किंतु साम्प्रतमप्यसौ वहते परं महनीयताम् ॥ ५ ॥
कूटनीतिनियन्त्रणैः परतन्त्रता नाभूद् यदा ।
देश एष दधौ तदा तव देव ! दुर्दमनीयताम् ॥ ६ ॥
अस्य खड्गतले बलेन परैः शिरो नमितं पुरा ।
काममद्य कठोरनीतिपरैः परैर्बत जीयताम् ॥ ७ ॥

किंतु सभ्यवराः! समेत्य भवद्भिरेव विचार्यताम्।
एकतामवलम्ब्य कार्यपथे यथावदुदीयताम् ॥ ८ ॥
वक्तृतां परिहाय सम्प्रति कर्तृतां कलयेम चेत्।
उन्नतिः स्वयमावृणीत मनागिदं परिचीयताम् ॥ ९ ॥
निर्मले यमुनातटे निकटे कदम्बमहीरुहाम्।
अत्र वै विहरन् हरिर्विदधे महाकमनीयताम् ॥ १० ॥
किंतु सैव विहारभूरपहारभूर्जनिताधुना।
हेलयापि दयानिधान! दयादृगत्र विधीयताम् ॥ ११ ॥
तावकीं करुणामुपेत्य न वेत्त्यसौ हृदि वेदनाम्।
धार्मिकेषु दयावता भवता द्रुतं समुदीयताम् ॥ १२ ॥
गीयते निगमागमैर्गुणगौरवं तव सर्वदा।
नाथ! सम्प्रति मञ्जुनाथगिरा कियद् वत गीयताम् ॥ १३ ॥

गणनीयानां गुणानाम् अवधि (पराकाष्ठा) सदृश! 'गणनीयं तु गणेयम्' इत्यमरः। उज्ज्वलायां भायां कान्तौ रते, सत्कार्यकरणेन कीर्तिसम्पादके इत्याशयः। तव भारते भवदीये भारते दृष्टिः स्थाप्यताम्॥ १॥ विशेषविधः, नानाविधविशेषतानां कारणात् सर्वेभ्यो विशिष्टः। विमाति जानाति ॥ २ ॥ कुङ्कुमस्य कश्मीरजस्य केसराः किञ्जल्काः। सुच्छविं शोभाम् ॥ ४ ॥ परैः अन्यदेशीयैः, अलुण्ठि लुण्ठिता। धनिकतया सत्करणीयताम् ॥ ५ ॥ हे देव! तदा एष तव देशः दुर्दमनीयताम् अजेयतां दधौ ॥ ६ ॥ अद्य परैर्जीयताम्, अद्य वैदेशिका विजयशालिनो भवेयुः ॥ ७ ॥ × × × वक्तृतां वचनव्यापारं प्रति कर्तृतां विहाय, कार्यं प्रति कर्तृभावं चेत् कलयामस्तर्हि उन्नतिः स्वयं वरणं कुर्यादित्याशयः ॥ ९ ॥ अपहारस्य विलुण्ठनस्य भूमिः ॥ ११ ॥ असौ देशः तावकीं दयामुपेत्य हृदये वेदनां न वेत्ति अनुभवति ॥ १२ ॥

गणनीय गुणोंकी अवधि हे करुणानिधान! कृपा करके थोड़ा ध्यान दीजिये, अच्छे आचरणोंके द्वारा सदा कीर्तिको प्राप्त करनेवाले अपने

इस 'भारत' पर दृष्टि डालिये ॥ १ ॥ यह श्रेष्ठ प्रदेश सम्पूर्ण भूमण्डलमें चिरकालसे एक विशेषता रखता आया है, जिसकी रम्यताको यह सम्पूर्ण सभ्य समाज जानता है ॥ २ ॥ क्या कोई ऐसे उन्नत देशका दृष्टान्त दे सकता है, जिसका साहित्य 'निगमागमों' (वेद-उपनिषत् आदि शास्त्रों) से तुलना कर सके ॥ ३ ॥ जिस देशमें 'केसर' के 'केसर (गुच्छे)' अद्भुत शोभाको धारण करते हों, क्या इस भूमण्डलमें ऐसा कोई दूसरा भी देश दिखायी देता है, खोजकर देख लीजिये ॥ ४ ॥ लूट-खसोटमें प्रवृत्ति रहनेवाले शत्रुओंने यहाँकी रत्नराशिको कई बार लूटा है; किंतु अब भी यह (धनादि) में आदरके योग्य हुआ है ॥ ५ ॥ कूटनीतिके द्वारा नियन्त्रण (रोक-टोक) से आपका यह देश जब परतन्त्र नहीं हुआ था, तब यह दुर्दमनीय (अजेय) था ॥ ६ ॥ इसके खड्गके नीचे हठात् शत्रुओंने पहले सिर झुकाया था । चाहे आज कठोर नीतियोंके परायण रहकर विजेता हो गये हों ! ॥ ७ ॥ किंतु सभ्यवरो ! इकट्ठे होकर आपलोग ही विचार कीजिये । एकता (संगठन) करके कार्यपथमें भलीभाँति उतर आइये ॥ ८ ॥ केवल आज वे (सब) व्याख्यान देना छोड़कर हम यदि इस समय कर्तव्य-परायण हो जायँ तो उन्नति स्वयमेव हमारा वरण (आश्रय) करे, जरा इसकी परीक्षा तो कीजिये ॥ ९ ॥ निर्मल श्रीयमुनाके तटपर कदम्ब वृक्षोंके निकट विहार करते हुए श्रीहरिने अद्भुत सुन्दरता, पवित्रता उत्पन्न कर दी थी ॥ १० ॥ किंतु वही श्रीहरिकी विहारभूमि लूटपाटका क्षेत्र बन गयी है। हे दयानिधान ! बेपरवाहीसे भी जरा इसपर दयादृष्टि डाल दीजिये ! ॥ ११ ॥ आपकी दयाको पाकर यह हृदयमें (तनिक भी) वेदनाका अनुभव नहीं करेगा । धार्मिकों-पर दया रखनेवाले आपको अब शीघ्र ही पधारना चाहिये ॥ १२ ॥ हे नाथ ! निगमागमोंके द्वारा सदा आपका गुण-गौरव गाया जाता है । इस युगमें मञ्जुनाथकी वाणीसे भला कितना गाया जायगा ॥ १३ ॥

[३३]

अये स्वामिन् ! समायातो व्यथार्तो द्वारि दीनोऽयम् ।
कृपापीयूषलेशार्थं पदाब्जे ते निलीनोऽयम् ॥ १ ॥ अये स्वामिन्०

शतं शाखा विलोकयन्ते त्वमेवाख्याहि मार्गं ते ।
भवे भूयः परिभ्रान्तोऽधुना श्रान्तोऽध्वनीनोऽयम् ॥ २ ॥ अये०
दया दीनेषु ते ख्याता परिज्ञाता ममापीयम् ।
दयालो ! हन्त भालो मे तवेदानीमधीनोऽयम् ॥ ३ ॥ अये०
नितान्तं चिन्तया खिन्नो रतिं नो जीवने प्रापम् ।
व्यथाभोगेऽपि नोत्तापी प्रभो पापो नवीनोऽयम् ॥ ४ ॥ अये०
तवालोकेन लोकेऽस्मिन् विलोके सुस्थितं सर्वम् ।
कियज्जीवेज्जलाधीनो विना तोयेन मीनोऽयम् ॥ ५ ॥ अये०
भवेदिन्द्रोऽनुयाता मे विधाताप्यर्घ्यदाता स्यात् ।
क्षणं चेन्मन्यसे चित्तेऽतिदीनो मामकीनोऽयम् ॥ ६ ॥ अये०
लघीयान् कोऽपि पापी ते न चापीक्षापथं गच्छेत् ।
कथं न प्रेक्षणं यायात् पुरस्तात् पापपीनोऽयम् ॥ ७ ॥ अये०
प्रतीतिं कोऽपि किं यायाद् दयायाः सागरे देवे ।
दयालेशाय चेत् ताम्ये तपस्वी तावकीनोऽयम् ॥ ८ ॥ अये०
प्रभो काचिन्न चिन्ता स्यात् समन्तात् सम्पदं मन्ये ।
कृपापाङ्गोऽद्य ते स्वामिन् भवेच्चेत् सम्मुखीनोऽयम् ॥ ९ ॥ अये०
कृपालोकेन ते स्वामिन् सनाथे मञ्जुनाथेऽस्मिन् ।
न किं कौतूहलात् कामं कृपां कुर्यात् कुलीनोऽयम् ॥ १० अये स्वामिन्० ॥

व्यथातः व्यथायाः पीडायाः कारणात् ॥ १ ॥ इयं दया ममापि परिज्ञाता । मम भालः भाग्यम् ॥ ३ ॥ जीवने रतिं सुखम् न प्रापम् । व्यथानुभवेऽपि नोत्तापो न उद्विग्नः, अत एवायं पापी नवीनः ॥ ४ ॥ अर्घ्यदाता आदरकर्ता इत्यर्थः 'अयं मामकीनः ।' इत्येव यदि क्षणकालार्थं निजचेतसि मह्यं स्थानं ददासि ॥ ६ ॥ लघुः पापी कदाचिद् दृष्टिपथं न गच्छेत्, किंतु पापेन पीनः, सोऽपि पुरस्तात् अग्रे एव तिष्ठन् ते प्रेक्षणपथं न गच्छेत् ? अपितु गच्छेदेव ॥ ७ ॥ त्वदीयो जनो दयाया लेशार्थमपि चेत् खिद्येत तर्हि ते दयासागरत्वं कथं प्रतीयेत

इत्यर्थः ॥ ८ ॥ त्वत्कृपाकटाक्षेन सनाथे कुलीनजनः अवश्यं कृपां कुर्यादित्यर्थः ॥ १० ॥

हे स्वामी ! यह दीन पीडाके कारण आपके द्वारपर आया है। कृपारूपी अमृतके कणके लिये आपके चरण-कमलोंमें यह पड़ा है ॥ १ ॥ (मार्गकी) सैकड़ों शाखाएँ दिखायी दे रही हैं, (अतः) अपना मार्ग आप ही बतायें। इस संसारमे बहुत भटक चुका, यह पथिक अब थक चुका है ॥ २ ॥ आपकी दीनोंपर दया विख्यात है, यह मेरी भी जानी हुई है; किंतु हे दयालु ! यह मेरा भाग्य अब आपके अधीन है (अर्थात् देखें ऐसे दयालुके पास आकर भी मेरा भाग्य कुछ फल दिखाता है या नहीं) ॥ ३ ॥ मैं चिन्तासे रात-दिन दुखी रहा, जीवनमें चैन कभी नहीं मिला। आप देखेंगे कि दुःख भोगनेपर भी नहीं घबरानेवाला (अर्थात् फिर भी पापोंसे न हटनेवाला) यह पापी नवीन ही है ॥ ४ ॥ आपके प्रकाशसे ही इस लोकमें सब कुछ सुव्यवस्थित देखता हूँ। जलके अधीन जीवनवाली यह मछली बिना जलके कितना जी सकती है ? ॥ ५ ॥ यदि आप अपने चित्तमें यह विचार भी कर लें कि 'यह गरीब मेरा है' तो इन्द्र मेरा अनुचर बन जाय, नहीं-नहीं विधाता भी मेरे लिये अर्घ्यदाता (स्वागतकर्ता) हो जायँ। [मेरे ऊपर अपनेपनकी दृष्टि पड़ते ही इतनी उन्नति हो जाती है; फिर यदि पूर्ण कृपा हो जाय, तब तो कहना ही क्या ?] ॥ ६ ॥ छोटा-मोटा कोई पापी चाहे आपके दृष्टिपथमें न भी आये, किंतु पापोंसे पुष्ट हुआ यह पापी सामने ही बैठा हुआ क्यों नहीं दृष्टिपथमें आयेगा ॥ ७ ॥ दयाके सागर आपके प्रति किसीको विश्वास कैसे होगा, यदि तुम्हारा यह गरीब दास दयाके लेशके लिये दुखी होता रहा ॥ ८ ॥ यदि हे स्वामी ! आपका यह कृपाकटाक्ष आज मेरे सम्मुख आ जाय तो हे प्रभु ! मुझे कोई चिन्ता न रह जाय और अपने चारों ओर मैं सम्पत्तियोंको देखूँ ॥ ९ ॥ आपके कृपाकटाक्षसे सनाथ हुए इस मञ्जुनाथपर क्या कौतुकसे इन कुलीन लोगोंकी कृपा न होगी ? ॥ १० ॥

[३४]

गोविन्दमार्तबन्धुमिमं विन्दसे न किम् ।
पादारविन्दमस्य सखे ! वन्दसे न किम् ॥ १ ॥ गोविन्द०
प्राप्यापि दीनदुःखहरं राधिकावरम् ।
संतप्यसे मुधैव रसे सेवसे न किम् ॥ २ ॥ गोविन्द०
दुर्दान्तदीर्घदुःखदवासौ भवाटवी ।
भूरि भ्रमन्निहापि सखे दूयसे न किम् ॥ ३ ॥ गोविन्द०
खेलत्कलिन्दनन्दिनीतीरे त्रितापहम् ।
एतं तमालशालमिहालम्बसे न किम् ॥ ४ ॥ गोविन्द०
संसारमतीसारमिमं प्राप्य पोड्यसे ।
एतस्य भङ्गभेषजं निषेवसे न किम् ॥ ५ ॥ गोविन्द०
ताम्यामि ते विलोकनाय नाथ निर्भरम् ।
अन्तःस्थितोऽपि भावमिमं बुध्यसे न किम् ॥ ६ ॥ गोविन्द०
हा हन्त तवोपेक्षयैव मे सुदुर्दशा ।
प्राणात्ययेऽपि नाथ मम प्रीयसे न किम् ॥ ७ ॥ गोविन्द०
दूरात् प्रपन्नमार्तमिमं मां जहासि चेत् ।
नाथ ! त्वमेव पश्य प्रणं लङ्घसे न किम् ॥ ८ ॥ गोविन्द०
संसारतापतापितो लोठामि भूतले ।
संतापमुषानाथ दृशा वीक्षसे न किम् ॥ ९ ॥ गोविन्द०
भीतिं भजामि भूरिभयाढ्ये भवाम्बुधौ ।
हे नाथ मञ्जुनाथमिमं त्रायसे न किम् ॥ १० ॥
गोविन्दमार्त० ॥

आर्तानां दुःखितानां बन्धुं सहायकम् । किं न विन्दसे प्राप्नोषि शरणं गच्छसि ॥ १ ॥ राधिकावरं श्रीकृष्णं प्राप्यापि मुधैव संतप्यसे, रसे भक्तिरसे (मग्नः सन्) किं न सेवसे ॥ २ ॥ दीर्घं दुःखमेव दवो वनाग्निर्यस्यां सा ॥ ३ ॥ तमालशालं (वृक्षम्) श्रीकृष्णं किं न आलम्बसे शरणं गच्छसि ॥ ४ ॥ संसाररूपम् अतीसारं तन्नामकं रोगम् । भङ्गस्य

नाशस्य भेषजम् औषधम् श्रीकृष्णरूपम् । अतीसारस्य भेषजं 'भङ्गः' भङ्गा, (मातुलानी) प्रसिद्धैवेत्यप्यर्थः ॥ ५ ॥ ताम्यामि दुःखितो भवामि ॥ ६ ॥ तव प्रणो 'यः कोऽप्यार्त्तो मामुपगच्छेत् तमहं रक्षेयम् [सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥] इति ॥ १० ॥

दुःखितोंके सहायक इन गोविन्दके शरण क्यों नहीं जाते ? हे मित्र ! इनके चरणारविन्दकी वन्दना क्यों नहीं करते ? दीनोंके दुःखहारी इन राधिकावल्लभको प्राप्त करके भी व्यर्थ क्यों संतप्त हो ? प्रेमसे इनकी सेवा क्यों नहीं करते ? ॥ १-२ ॥ यह आवागमनरूपी जंगल बड़ा ही गहन और विस्तृत दुःखरूपी दावानलसे व्याप्त है । इसमें इतना घूम चुके, तो भी हे मित्र ! तुम पीड़ित नहीं होते ? (अर्थात् पीड़ाके कारण अबतक इससे तुम्हें ऊब जाना चाहिये था) ॥ ३ ॥ लहराती हुई यमुनाके तीरपर तीनों तापोंको दूर करनेवाले इस तमाल वृक्ष (श्रीकृष्ण) का सहारा क्यों नहीं लेते ? ॥ ४ ॥ जन्म-मरणरूपी इस अतिसार नामक रोगसे तुम पीड़ित हो, इसके भङ्ग (नाश) की दवा (श्रीकृष्ण) का सेवन क्यों नहीं करते ? [यहाँ 'भङ्ग' (भाँग) रूपी भेषज, यह अर्थ भी सूचित होता है; क्योंकि भाँग भी अतीसारकी एक दवा है] ॥ ५ ॥ नाथ ! आपके दर्शनके लिये मैं अत्यन्त छटपटा रहा हूँ । मेरे अन्तःकरणमें स्थित रहकर भी क्या आप इस भावको नहीं जानते ? ॥ ६ ॥ हे नाथ ! आपकी उपेक्षा (बेपरवाही) से ही मेरी यह दुर्दशा है । क्या प्राणान्तके समय भी इस दासपर प्रसन्न नहीं होंगे ? ॥ ७ ॥ शरणमें आये हुए इस पीडितका भी यदि आप दूरसे परित्याग कर रहे हैं तो आप ही देखिये कि क्या आप अपने प्रणको नहीं उलाँघ रहे हैं ? आपका प्रण है—'सकृदेव प्रपन्नाय०' ॥ ८ ॥ संसारके संतापोंसे पीड़ित हुआ मैं जमीनपर लोट रहा हूँ, (अतः) तापको दूर करनेवाली दृष्टिसे, नाथ ! एक बार मेरी ओर क्यों नहीं देख लेते ? ॥ ९ ॥ इस भयंकर भवसागरमें पड़ा हुआ मैं डर रहा हूँ, (फिर भी) हे नाथ ! इस मञ्जुनाथकी रक्षा क्यों नहीं करते ? ॥ १० ॥

[३५]

अयि नाथ कथं रुद्धा दीनेषु दया सेयम् ।
अपि किं सुधामयूखाल्लुप्येत सुधा सेयम् ? ॥ १ ॥
संसारघोरतापात् तीव्रं वितापितोऽहम् ।
अयि देव दयासिन्धो मम पश्य दशा सेयम् ॥ २ ॥
दुःखं भयं शुचं वा किं किं तवालपेयम् ।
अयि नाथ नोपशाम्येद् दुःखस्य कथा सेयम् ॥ ३ ॥
हे नाथ नेत्रकोणो दासेऽपि दीयते चेत् ।
चित्तस्य चिराद् रूढा मुच्येत पिपासेयम् ॥ ४ ॥
निस्साधनावलम्बं परिमुच्य ते पदाब्जम् ।
दीनोऽद्य दीनबन्धो वद कुत्र यियासेयम् ? ॥ ५ ॥
इयती कृपा विधेया दासेऽत्र मञ्जुनाथे ।
चरितामृतातिरिक्तं किंचिन्न पिपासेयम् ॥ ६ ॥

सुधामयूखात् चन्द्रात् ॥ १ ॥ पिपासा इयम् ॥ ४ ॥ यियासेयं यातुमिच्छेयम् सन्नन्ताल्लिङ् ॥ ५ ॥ पिपासेयं पातुमिच्छेयम्, लिङ् ॥ ६ ॥

हे नाथ ! दीनोंके ऊपर यह दया क्यों रोक दी गयी ? क्या सुधाकर (चन्द्र) से भी यह सुधा (अमृत) लुप्त हो जायगी ? ॥ १ ॥ संसारके घोर तापसे मैं अत्यन्त तापित हूँ; हे देव ! हे दयासागर ! देखो, मेरी यह दशा है ॥ २ ॥ दुःख, डर, सोच—क्या-क्या आपसे कहूँ; हे नाथ, यह दुःखकी कथा समाप्त ही नहीं होगी ॥ ३ ॥ हे नाथ ! यदि एक (कृपा-) कटाक्ष इस दासपर भी डालें तो बहुत दिनसे बढ़ी हुई यह चित्तकी प्यास दूर हो ॥ ४ ॥ निस्साधनोंके सहारे आपके चरणारविन्दको छोड़कर हे दीनबन्धु ! बताइये, मैं दीन अब कहाँ जाना चाहूँ ॥ ५ ॥ इस दास मञ्जुनाथपर इतनी कृपा कर दीजिये कि आपके चरितामृतके अतिरिक्त कुछ भी पान करनेकी इच्छा न करूँ ॥ ६ ॥

[३६]

कृपालो ! कालकौटिल्याद् दया दीनेषु लुप्ता किम् ।
अजस्रं जाग्रती सेयं मदर्थायैव सुप्ता किम् ॥ १ ॥
त्रिलोकीमण्डले भूमन् ! दया ते विश्वविख्याता ।
महन्मे पातकं दृष्ट्वा घृणातो हन्त गुप्ता किम् ॥ २ ॥
श्रुतं किं वा व्रतं किं वा दृढामासक्तिमाधत्ते ।
समन्ताद् बन्धमाधातुं मया बीजालिरुप्ता किम् ॥ ३ ॥
असंख्याः पापिनः पूर्वं त्वयैवोत्तारिताः श्रीमन् ।
युगेऽस्मिन् दीनसंतारे दया ते हन्त तृप्ता किम् ॥ ४ ॥
भवेऽस्मिन् भ्राम्यता भूरि प्रतीतं किं सखे सौख्यम् ।
मतिर्नाद्यापि निर्विण्णा ततस्तापोपतप्ता किम् ॥ ५ ॥
शतांशस्यापि तुल्यो मे पुरा किं पातकी दृष्टः ।
तदा साधारणोद्धाराद् दया ते देव ! दृप्ता किम् ॥ ६ ॥
युगेऽस्मिन् भारतीया गौः समन्तात् पूरिता दुःखैः ।
दयालोस्ते दयादृष्टिं न कर्षेत् तापतप्ता किम् ॥ ७ ॥
युगेऽमुष्मिन् कदर्याणां समीपे क्वास्ति लाभाशा ।
अये मे चित्त ! वृत्तिस्ते मुधा लोभोपलिप्ता किम् ॥ ८ ॥
प्रशस्तं मार्गमुल्लङ्घ्य प्रयस्यन्त्युत्पथं गन्तुम् ।
अमीषां नव्यनेतृणां मतिर्दैवेन शप्ता किम् ॥ ९ ॥
पुराणा एव दुर्दान्ता न शेकुश्चेत् सुखं लब्धुम् ।
तदा सम्पूर्णवृद्धेषु प्रगल्भेताद्य नप्ता किम् ॥ १० ॥
न मग्ना श्रीपतिध्याने न लग्ना तद्गुणोद्गाने ।
मतिस्ते मञ्जुनाथेयं मुधा मत्तावलिप्ता किम् ॥ ११ ॥

कालस्य कलियुगस्य कौटिल्याद् दौरात्म्यात् । सेयम् दया मत्प्रयोजनसाधनायैव किं सुप्ता ? ॥ १ ॥ शास्त्रज्ञानं किं स्यात्, व्रतनियमादिकं वा किं स्यात् मम सांसारिकविषयेषु आसक्तिं स्थापयति । ततः किं बन्धनं कर्तुं मया बीजपङ्क्तेः वापः कृतः ? ॥ ३ ॥ अस्मिन् युगे दीनाना-

मुद्धारात् किं तृप्ता जाता ? ॥ ४ ॥ किं सौख्यं प्रतीतम्, अनुभूतम् ? अपि तु नानुभूतमित्यर्थः । अद्यापि ततः संसारात् तापोपतप्ता सती मतिर्न निर्वेदं प्राप्ता ? ॥ ५ ॥ साधारणानां सामान्यपातकिनाम् उद्धारादेव दृप्ता गर्विता जाता ? ॥ ६ ॥ गौः भारतीया भूमिः । 'गौरिला कुम्भिनी क्षमा' इत्यमरः । गोपदेन दयायोग्यत्वातिशयः ॥ ७ ॥ लोभेन लिप्सया उपलिप्ता व्याप्ता ॥ ८ ॥ शासनस्वीकारेऽपि सनातनधर्मिजनतां 'हिन्दूकोडबिल', 'अस्पृश्यानां मन्दिरप्रवेशादि' कार्यैः खेदयन्तीति—ऐक्यं दूरीकर्तुं दैवस्यैव सोऽयमभिशाप इत्यर्थः । प्रशस्तं मार्गं त्यक्त्वा उन्मार्गं गन्तुं प्रयासं कुर्वन्ति ॥ ९ ॥ प्राचीना उच्छृङ्खला वेनादयः यथामनीषितं स्वेच्छां साधयितुं चेत् न प्राभवन् तर्हि (तदा) वृद्धानां पितामहादीनाम् अग्रे नप्ता पौत्रः समर्थो भवेत् ? पितामहादिषु असफलेषु सत्सु पौत्रः कथं सफलः स्यात् ? अपि तु न इत्याशयः ॥ १० ॥ तस्य श्रीपतेः गुणानां गाने अवलिप्ता गर्विता ॥ ११ ॥

हे कृपालु ! (इस) कालकी कुटिलताके कारण गरीबोंपर दयाका क्या लोप हो गया ? अखण्डरूपसे जागनेवाली यह (दया) क्या मेरे लिये ही सो गयी ? ॥१॥ हे पृथ्वीनाथ! आपकी दया त्रिलोकीमें सबपर विख्यात है। वह दया मेरा महापातक देखकर घृणाके कारण क्या छिप गयी ? ॥ २ ॥ क्या शास्त्रज्ञान और क्या व्रत, ये सभी दृढ़ आसक्ति पैदा करते हैं, तो क्या चारों ओर बन्धन फैलानेके लिये ही मैंने यह बीजपङ्क्ति बोयी थी ? ॥३॥ श्रीमन्! पहले आपने ही असंख्य पापियोंका उद्धार किया था, तो क्या इस युगमें दीनोंका उद्धार करनेमें आपकी दया तृप्तिका अनुभव करने लगी ? ॥ ४ ॥ हे मित्र मन! इस संसारमें निरन्तर भटकते हुए तुमने किस सुखका अनुभव किया कि संसार-तापसे तप्त हुई तुम्हारी बुद्धिको आज भी उससे निर्वेद (वैराग्य) नहीं हुआ ? ॥५॥ मेरे सौवें हिस्सेके बराबर भी क्या कोई पापी आपने पहले देखा था ? फिर साधारण लोगोंके उद्धारसे आपकी दया कैसे अभिमानवश फूल गयी ॥ ६ ॥ इस युगमें यह भारतकी भूमि चारों ओरसे दुःखोंसे भर गयी है। फिर तापोंसे तप्त हुई यह दयालु आपकी दयादृष्टिको क्या नहीं खींचेगी ? ॥ ७ ॥ इस

युगमें तुच्छोंके समीप लाभकी क्या आशा है। हे चित्त! फिर व्यर्थ तुम्हारी वृत्ति लोभसे सनी क्यों है ? ॥ ८ ॥ प्रशस्त मार्गको लाँघकर उल्टे मार्गमें जाना चाहते हैं। अहो, हमारे आधुनिक नेताओंकी बुद्धिपर क्या दैवका शाप लगा है ? ॥ ९ ॥ पूर्वकालमें जो लोग उच्छृङ्खल (किसी मर्यादाको नहीं माननेवाले) हो गये थे, वे ही जब सुख नहीं पा सके, तब बुड्ढोंके आगे क्या आज ये 'नाती' बाजी ले जायँगे ? ॥ १० ॥ मञ्जुनाथ ! तुम्हारी यह बुद्धि न तो भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हुई, न उनके गुणगानमें लीन हुई। फिर यह व्यर्थ ही प्रमत्त और गर्विष्ठ क्यों है ॥ ११ ॥

श्लोकाः

(४८)

दर्पान्धीकृतचेतसोऽखिलजगज्जङ्घालदुस्साहसाः
संरुन्धन्ति वसुन्धरामिह महादैत्याः प्रकृत्या खलाः ।
तेऽपि त्वद्भ्रुकुटीविलासविहताः क्षुभ्यन्ति पादानताः
संसाराभयदानदक्षिण विभो गोविन्द तुभ्यं नमः ॥ १ ॥

अखिलजगति जङ्घालम् उत्कृष्टजङ्घायुक्तम् दृढमित्यर्थः (लच्) दुस्साहसं येषां तेऽपि महादैत्याः भ्रूविलासविहताः अतएव चरणयोरानताः सन्तः क्षोभं गच्छन्ति ॥ १ ॥

जो गर्वसे अंधे हुए रहते हैं तथा जिनका दुस्साहस सम्पूर्ण जगत्‌में दृढ़रूपसे व्याप्त है, स्वभावसे दुष्ट ऐसे बड़े-बड़े दैत्य इस पृथ्वीको घेरे रहते हैं; किंतु वे भी आपके भ्रुकुटि-विलासमात्रसे परास्त और क्षुब्ध होकर अन्तमें पादानत हो जाते हैं। संसारको अभयदान देनेमें कुशल श्रीगोविन्द ! आपको प्रणाम है ॥ १ ॥

संदृप्यद्दितिसुतदर्पधर्षिणी सद्-
भक्तानाममृतरसप्रवर्षिणीयम् ।
गोविन्द ! भ्रुकुटिलता प्रहर्षिणी ते
सम्मोदं दिशतु दयाभिमर्षिणी नः ॥ २ ॥

नः अस्मदर्थे दयाभिमर्षिणी दयासंसर्गिणी ते भ्रूलता ॥ २ ॥

गर्वित दैत्योंके दर्पको धर्षण और भक्तोंके लिये अमृतवर्षण करनेवाली, हमलोगोंके लिये दयायुक्त यह आपकी प्रहर्षिणी (हर्ष देनेवाली) भ्रूलता हे गोविन्द ! हमें प्रमोद दे । [यहाँ छन्द भी प्रहर्षिणी है] ॥२॥

प्रोल्लासाय दिवौकसां दितिसुतत्रासाय लीलाकथा-
विन्यासाय समस्तभावुकमनस्संविद्विकासाय च ।
दिव्याभिस्तनुभिः सदावतरतः सम्बिभ्रतः काश्यपीं
त्रैलोक्याधिपते ! चिरं विजयते गोविन्द ते वैभवम् ॥ ३ ॥

मनसः संवित् चेतना, तस्या उज्जृम्भणाय । तनुभिः मूर्तिभिः (एतद्द्वारा एताभिः सह वा) । काश्यपीं पृथ्वीम् ॥ ३ ॥

हे त्रैलोक्याधिपति गोविन्द ! देवताओंके उल्लास, दैत्योंके त्रास,-लीला-कथाओंके विन्यास और समस्त भक्तोंके मन और चैतन्यके विकासके लिये नाना दिव्य मूर्तियोंके द्वारा अवतार लेने और भूमिका पालन करनेवाले आपका वैभव चिरकालसे लोकातीत है ॥ ३ ॥

विश्वं चैतदशेषमेव किमपि भ्रूवल्लरीवेल्लना-
न्नानाधापि विचेष्टते विधिमुखैर्देवैः कृतप्रश्रयः ।
भक्तानामभयाय योऽवतरति प्रायो धरित्रीतले
गोविन्दाय सदा समस्तजगदानन्दाय तुभ्यं नमः ॥ ४ ॥

यस्य किंचिद् भ्रूलतासंचलनात् अशेषमेव एतद् विश्वं नानाप्रकारैः चेष्टां करोति । यः ब्रह्मादिभिर्देवैः कृताश्रयः ॥ ४ ॥

जिनकी भ्रूलताके संचालनमात्रसे यह सम्पूर्ण जगत् नाना रूपसे चेष्टा करता रहता है, ब्रह्मादि देवता भी जिनका आश्रय लेते हैं, भक्तोंको अभय करनेके लिये जो अनेकों बार भूमिपर अवतार लेते हैं, समस्त जगत्को आनन्द देनेवाले ऐसे आपको सदा प्रणाम है ॥ ४ ॥

यत्कोपाकदृगञ्चलेन सुमहादृप्ताः सुरेशादय-
श्चर्यां वैनयिकीं पुरा रुचिरया रीत्या समध्यापिताः ।
तस्याग्रे तव वैभवस्तवभरप्रस्तावनासाहसं
संत्यज्य क्षणमानमामि चरणे कर्णे गुणान् वर्तये ॥ ५ ॥

यस्य तव कोपाक्तेन दृक्प्रान्तेन कर्त्रा महागर्विष्ठा इन्द्रादयः सुन्दररीत्या (न तु क्रोधप्रकाशनेन) विनयसम्बन्धिनीं चर्याम् विनीतचर्यामिति यावत् शिक्षिताः । तस्य तव अग्रे ते वैभवस्तुतिप्रपञ्चप्रस्तावनारूपं साहसं त्यक्त्वा तव चरणे आनतो भवामि तव गुणांश्च कर्णे आवर्तयामि ५

जिनके कुपित नेत्रप्रान्तने महागर्विष्ठ इन्द्रादितकको विनीतचर्याका पाठ अच्छी रीतिसे पढ़ा दिया, ऐसे आपके सम्मुख आपकी वैभव-स्तुतिकी प्रस्तावनाका साहस छोड़कर मैं क्षणभर केवल आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ और कानोंमें आपके गुणोंको ढालता हूँ ॥ ५ ॥

येनेदं जगदिच्छया विरचितं येनेदमापूरितं
येनेदं रघुरामचन्द्रसदृशैर्भूपैः सनाथीकृतम् ।
लोकानां स्थितये सतां विधृतये योऽवातरत् स स्वयं
सत्सेवोचितपादपद्मविभवो देवो जगद् रक्षतात् ॥ ६ ॥

येन देवेन भगवता रघुरामसदृशैर्भूपालैर्जगत् इदं सनाथीकृतं नाथवद् विहितम् । सतां विधृतये धारणाय यः स्वयमवातरत् सः ॥ ६ ॥

जिन्होंने अपनी इच्छासे यह जगत् बनाया, भरा-पूरा किया और रघु एवं श्रीरामचन्द्र-जैसे राजाओंसे सनाथ किया, लोकोंकी स्थितिके लिये तथा सज्जनोंको धैर्य देनेके लिये जिन्होंने अवतार लिये, जिनके चरण-कमलोंका वैभव सज्जनोंका सेवनीय है, वे भगवान् जगत्‌की रक्षा करें ॥ ६ ॥

दृप्यद्धिरण्यकशिपोरुपकण्ठसीम्नि
संदर्शितोग्रनखरप्रखरक्रमस्य
गोविन्द ते धृतवतो नरसिंहमूर्तिं
तेजोमयं किमपि वैभवमाविरस्तु ॥ ७ ॥

उपकण्ठसीम्नि कण्ठसमीपदेशे (उरसि) संदर्शितः प्रकाशितः उग्रनखानां प्रखरः क्रमः येन तस्य। नरसिंहरूपं धृतवतस्ते तेजोमयं वैभवं प्रकाशताम् ॥ ७ ॥

गर्वित हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलपर जिन्होंने अपने उग्र नखोंका प्रखर पराक्रम दिखाया, नृसिंहकी मूर्ति धारण करनेवाले हे श्रीगोविन्द! आपका वह अनिर्वचनीय तेजोवैभव (हमारे सम्मुख) प्रकट हो ॥ ७ ॥

नितान्तं गूढानां निगमवचनानामनुगमं
न मन्दोऽहं जाने बहुविधविधानेषु धृतधीः।
चतुर्दिक् चिन्ताभिर्व्यपगतसुखं यत्नविमुखं
मनो मे गोविन्दे सकलसुखकन्देऽभिरमताम् ॥ ८ ॥

अनुगमं लक्ष्येषु समन्वयम्। बहुविधविधानेषु नानाविधेषु विधिशास्त्रेषु धृतधीः दत्तमतिः ॥ ८ ॥

नाना प्रकारकी विधियोंमें दत्तचित्त रहनेके कारण भ्रमित हुआ मैं अत्यन्त गूढ़ाशय वेदवाक्योंकी वास्तविक संगति नहीं जानता। चारो ओरकी चिन्ताओंसे दुखी रहनेपर भी दुःखनिवारणके यत्नमें विमुख मेरा यह मन समस्त सुखोंके मूल श्रीगोविन्दमें रमण करे ॥ ८ ॥

त्वदाधारादाप्ता किमपि कविता तत्परिचया-
दवाचां च प्राचां वचनरचना चाप्यनुकृता।
अये मे वाग्ब्रह्मन्निदमनुनये त्वन्तसमये
दयालुर्गोविन्दो धृतदृगरविन्दो मयि भवेत् ॥ ९ ॥

अवाचां नवीनानाम्। अनुनये प्रार्थये। धृतदृगरविन्दः अर्थात् गोविन्दो मयि दयां कृत्वा दृष्टिलेशं दद्यादिति भावः ॥ ९ ॥

हे मेरे वाग्ब्रह्म (वाग्देवी)! आपके आधारसे मैंने कुछ कवित्व-शक्ति प्राप्त की, उसीके प्रसङ्गसे नवीन और प्राचीन कवियोंकी वचन-रचनाका भी मैंने अनुकरण किया। अब यही प्रार्थना है कि अन्त समयमें दयालु श्रीगोविन्द मुझपर नयनारविन्द डालनेकी कृपा करें ॥ ९ ॥

(४९)

उपसंहारः

संस्कृतभाषा

यथैवादौ सृष्टा नरजगति सभ्यत्वसरणि-
यदीयं साम्राज्यं क्वचन समये प्राज्यमभवत्।
यतोऽमूः सम्भूता जगदुदरसूता नरगिरो
गिरासौ गैर्वाणी जयति वरवाणीपरिवृढा ॥ १ ॥

सभ्यत्वसरणिः सृष्टा, सभ्यतामार्ग आविष्कृतः । जगदुदरसूताः जगन्मध्ये उत्पन्ना अमूः नरगिरो मानवानां भाषा यतो यस्याः सकाशादुत्पन्नाः ॥ १ ॥

मानव-जगत्में सभ्यताका मार्ग पहले-पहल जिसने प्रचारित किया, जिसका साम्राज्य किसी समय बहुत विस्तृत था, जगत्की ये सम्पूर्ण भाषाएँ जिससे उत्पन्न हुई हैं, समस्त वाणियोंमें श्रेष्ठ उस गीर्वाण वाणीकी जय हो ॥ १ ॥

प्रशस्यायां यस्यां स किल समभूद् दर्शनचयो
न कस्यांचिद् वाचि प्रभवति तुला यस्य जगति।
सवित्री शास्त्राणामहह महयित्री मतिमतां
सतामाविष्कर्त्री मनसि रमतां सा सुरगवी ॥ २ ॥

मतिमतां कौटिल्यार्थशास्त्रादिप्रणेतृणां लोके सम्मानयित्री । नीत्याद्युपदेशेन सतां सज्जनानाम् उत्पादयित्री ॥ २ ॥

जिस प्रशंसनीय भाषामें वे दर्शनग्रन्थ उत्पन्न हुए, जिनकी तुलना जगत्की किसी भी भाषामें नहीं हो सकती, शास्त्रोंको प्रकट करनेवाली, बुद्धिमानों (कौटिलीय अर्थशास्त्र-सदृश ग्रन्थ बनानेवालों) को सम्मान देनेवाली, धर्म-नीत्यादि-विषयक उपदेशोंसे सज्जनोंको प्रकाशमें लानेवाली वह संस्कृतवाणी हमारे मनमें विहार करती रहे ॥ २ ॥

पुरा ब्रह्मा यस्यां सविधि वरिवस्यामरचयत्
ततो दिव्यज्ञानैर्मुनिभिरभिधानैरपि नुता।

पुराणोद्यद्व्यासोदितमतिविलासोत्सवभृता
सुराणां सा भाषा मतिमदभिलाषान् सफलयेत् ॥ ३ ॥

वरिवस्यां सामादिवेदैरुपासनामरचयत् । मुनिभिः कर्तृभिः नानानामभिः स्तुता । पुराणेषु उद्यन्तो ये व्यासोदिता मति-तजन्यैरुत्सवैः पूर्णा ॥ ३ ॥

पहले-पहल सामादि वेदोंके द्वारा ब्रह्माने जिसमें (भगवान्‌की) उपासना (वन्दना-प्रार्थना) की, फिर दिव्य ज्ञान-सम्पन्न मुनियोंने नाना नामोंसे जिसकी स्तुति की तथा पुराणोंमें व्यासजीद्वारा प्रकट किये गये बुद्धि-विलासोंसे जो पूर्ण है, वह देवभाषा मतिमानोंकी अभिलाषाओंको सफल करे ॥ ३ ॥

यया लोके वेदाः परिकलितभेदाः प्रकटताः
स्मृतीनां धात्री या प्रसवनकरी योपनिषदाम् ।
समस्तत्रैलोक्ये ह्युपदिशति याऽऽध्यात्मिकपथं
स्फुरद्दिव्यज्योतिर्जगति जयतान्निर्जरगिरा ॥ ४ ॥

परिकलितभेदाः ऋग्यजुरादिभेदसहिताः । या उपनिषदाम् ॥ ४ ॥

जिसने लोकमें शाखा-प्रशाखासहित वेदोंको प्रकट किया, जो स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) की धात्री और उपनिषदोंकी जन्मदात्री है, समस्त त्रिलोकीमें आध्यात्मिक मार्गका जो एकमात्र उपदेश करनेवाली है, दिव्य ज्योतिमे प्रकाशमान उस देववाणीकी जगत्‌में विजय हो ॥ ४ ॥

विराजद्वाणीनामनवधिकवीनां रचनया
ययाकस्माद्विस्मापितमिदमहो शिक्षितजगत् ।
चमत्काराढ्यानां सरसवचसामादिजननी
विनीयान्नः कामानधिकृतगवी संस्कृतगवी ॥ ५ ॥

विराजन्ती शोभमाना वाणी येषां तेषाम् । शिक्षितजगत् सर्वेऽपि शिक्षिता लोका इत्यर्थः । अधिकृता सर्वभाषासु श्रेष्ठाधिकारधारिणी गौः

अहा ! जिनकी वाणी जगत् भरमें प्रख्यात हो चुकी है, ऐसे असंख्य कवियोंकी रचनासे जिसने शिक्षित जगत्को एकाएक विस्मित कर दिया, चमत्कारशालिनी सरस वाणियोंकी आदिजननी, सब भाषाओंमें श्रेष्ठ अधिकार रखनेवाली वह संस्कृतभाषा हमारे मनोरथोंको पूर्ण करे ॥ ५ ॥

शुभार्थे शस्या या विबुधवरिवस्यासमुचिता
प्रशस्याया यस्याः पदमपि सुखं सौति जगताम् ।
निधात्री धर्माणां सकलसुविधात्री दिविषदा-
मियं शर्वाणीव स्फुरतु सुरवाणी मनसि मे ॥ ६ ॥

मङ्गलारम्भे 'सर्वमङ्गलमाङ्गल्येति' शर्वाणी शस्या । परलोकादिषु शुभप्राप्त्यर्थं सुरवाण्यपि शस्या ॥ ६ ॥

शिवपत्नी पार्वतीके सदृश वह सुरवाणी मेरे मनमें (सदा) प्रकाशित रहे, जो देवताओंकी पूजाके योग्य है (पार्वती देवताओंद्वारा की जानेवाली पूजाके योग्य हैं तथा संस्कृतभाषा देवताओंकी पूजाके कार्यमें उपयोगी है), जो सम्पूर्ण शुभकार्योंमें कीर्तनीय तथा प्रशंसनीय है ('सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके' इत्यादिरूपसे पार्वती तथा परलोकादिमें शुभप्राप्तिके लिये प्रशंसनीय संस्कृत भाषा), जिसका पद (पार्वतीका चरण तथा संस्कृत-भाषाका मन्त्ररूप एक शब्द) भी जगत्को सुख देता है तथा जो धर्मोंका स्थापन करनेवाली एवं देवताओंके लिये सम्पूर्ण सुविधाएँ करनेवाली है ॥ ६ ॥

मौलिर्वेदोऽस्ति यस्या मुखमुपनिषदः कन्धरा धर्मशास्त्रं
वक्षो वेदान्तविद्या कलय कटितटं दर्शनानीतराणि ।
जङ्घान्ये शास्त्रसंघाश्चरणमथ नयो मण्डनं काव्यमेतत्
प्रत्यक्षं वीक्षसे चेत् कथमहह मृता सा हि गीर्वाणवाणी ॥ ७ ॥

इतराणि दर्शनानि कटितटं कलय । नयो नीतिशास्त्रं चरणम् । प्रत्यक्षं मूर्तिदर्शनेऽपि वैदेशिकाः कथमिमां मृतभाषेति व्यपदिशन्तीत्याशयः ॥ ७ ॥

वेद जिसका मस्तक हैं, उपनिषद् मुख हैं, धर्मशास्त्र ग्रीवा हैं, वेदान्त-दर्शन वक्षःस्थल तथा इतर दर्शन कटिस्थानीय हैं, अन्यान्य शास्त्रसमूह जिसकी जङ्घा हैं, नीतिशास्त्र चरण तथा काव्य जिसका भूषण है, उस देव-वाणीको (मूर्तरूपमें) तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो; तब वह मरी कैसे है ? ॥ ७ ॥

स्फुरन्निगमवाङ्मयैः स्फुटकिरीटशोभावती
पुराणरशनावती स्मृतिमनोज्ञमालावती ।
इयं मुनिमनीषिणां हृदि सुखासने भास्वती
समस्तसुषमावती सुरसरस्वती सेव्यताम् ॥ ८ ॥

निगमवाङ्मयैः वैदिकसाहित्येन । अष्टादशपुराणैः रशनावती । भास्वती देदीप्यमाना ॥ ८ ॥

वैदिक साहित्यसे किरीटकी शोभावाली, पुराणरूप कटिभूषण एवं स्मृति-(धर्मशास्त्र) रूप मनोहर मालावाली, मुनियोंके मनरूपी सुखदायक आसनपर देदीप्यमान, समस्त शोभाओंसे सम्पन्न इस देववाणीका सेवन करिये ॥ ८ ॥

स्फुरन्निगमभास्वती वरविवेकिविद्वत्कला-
विलाससुषमावती सुमनसां सुखं तन्वती ।
सनातनसुनीतिभृद्धृदयमन्दिरे जाग्रती
जयत्यमरभारती जगति सर्वधामोज्ज्वला ॥ ९ ॥

विद्वत्कलाविलासेन सुषमावती । सुनीतिभृतां विदुषां हृदयमन्दिरे । सुमनसां देवानां पण्डितानां च । अमरभारती सरस्वती संस्कृतवाणी च ।९।

चमकते हुए वैदिक साहित्यसे प्रकाशमान, श्रेष्ठ विद्वानोंके कला-विलाससे शोभायुक्त, देवताओं और पण्डितोंको सुख देनेवाली, सनातन मर्यादापर चलनेवालोंके हृदयमन्दिरमें सदा जागती हुई, सब प्रकारके तेजोंसे उज्ज्वल उस 'अमरभारती (सरस्वती और संस्कृतवाणी)-की जय' हो ॥ ९ ॥

चिरममरतां मर्त्यानां या तनोति निषेविता
सकलजगतामीशेनापि स्फुटं मुकुटे धृता।
जयति जगतीकल्याणार्थं दृढं दधती व्रतं
नवरसवती दिव्या स्रोतस्वती सुरभारती ॥१०॥

दिव्या स्रोतस्वती गङ्गा। मर्त्यानाममरतासम्पादनादि उभयत्र समानम्। गङ्गा एकरसवती, सुरभारती तु शृङ्गारादिनवरसवतीति विशेषः॥

सेवा करनेपर जो मर्त्योंको भी चिरकालतक अमर कर देती है, सम्पूर्ण जगत्के स्वामीने भी जिसे मुकुटपर धारण करके आदर दिया है, जगत्के कल्याणके लिये जिसने दृढ़ व्रत धारण कर रखा है, वह सुरभारती नवरसपूर्ण एक दिव्य गङ्गा है। (साधारण गङ्गा एक रसवाली किंतु यह शृङ्गारादि नौ रसोंसे युक्त है) ॥ १० ॥

पदपरिगुम्फो वर्णमैत्रीमनुयाति यत्र
भाति जगज्जैत्री भावकल्पनकला तुरी
दासा इव वाचमनुगच्छन्त्यनुप्रासा यत्र
प्रमदविकासाद् याति मानसीयमातुरी।
गैर्वाणीगुणैरेवात्र सूयते यशःपटोऽपि
शुष्कतार्किकाणां तिरोगच्छति वेमा तुरी
मानसमुपेतया यया चामृतमाचामन्ति
वाचामुपगुम्फनाय सा चातुरी चातुरी ॥११॥

भावानां या कल्पनकला सैव तुरी तूलिका लेखनीति यावत्। प्रमोदस्य विकासात् इयं मानसी आतुरी मनसः आतुरता याति। गुणैः तन्तुभिः पटः सूयते उत्पाद्यते, इह तु जगत्प्रसिद्धैः संस्कृतभाषाया स्वे यशःपटः सूयते। अतएव तार्किकाणां मते पटनिर्माणस्य साधनभूतास्तुरी-वेमाद्या इह तिरोहिता भवन्ति। मानसमुपेतया यया चातुर्या अमृतमास्वादयन्ति ॥ ११ ॥

पद-गुम्फनमें जहाँ वर्णमैत्री हो (अर्थात् एक स्थानसे उच्चारणीय

वर्णवाले ही अधिकांश पद रखे गये हों), जगत्को वशमें करनेवाली भाव और कल्पनाकी कलम जहाँ सुशोभित हो, दासकी तरह अनुप्रास, वाणीके पीछे-पीछे चलते हों, जहाँ आनन्दके विकाससे मनकी यह आतुरता दूर हो जाती हो, संस्कृतवाणीके (माधुर्यादि) गुणों (दूसरे पक्षमें धागों) से ही जहाँ यशरूपी वस्त्र तैयार किया जाता है, जिससे शुष्क नैयायिकोंके वेमा और तुरी (सूतके ताना फैलानेके डंडे और सूतको इकट्ठा करनेका कंघा) छिप जाते हैं तथा जिस (कविता-चातुरी) के हृदयंगम हो जानेपर श्रोता अमृतका आस्वादन करते हैं, वाणीके गूँथने (कविता रचने) के लिये वही चातुरी चातुरी है ॥ ११ ॥

तिमिरमपास्य ययैवादौ ज्ञानमाविष्कृतं
शासनमुपाहितं ययैव विबुधोत्सवाय
यस्याः सेवनेन कविलोका यान्त्यमरपदं
यामिह वदन्ति प्रभवित्रीमात्मशोधनाय ।
वासौ सर्वमङ्गला न केवलमिहैव लोके
सेयं दिव्यलोकेष्वपि भूरिभव्यवैभवाय
लोकद्वयकल्याणी शुभावहाथ शर्वाणीव
सेयं सुरवाणी जनिं लेभे जगतः शिवाय ॥१२॥

शर्वाणी पार्वती इव सुरवाणी, ततश्च सर्वमुभयसमन्वयि । विबुधानां देवानां पण्डितानां च उत्सवाय शासनं दुष्टान् दमयित्वा लोकनियमनं यया भगवत्या कृतम्, शासनं शास्त्रं यया देववाण्या स्थापितम् । आत्मशोधनाय अन्तःकरणपावनाय । सर्वमङ्गला तन्नाम्नी भगवती, सर्वाणि मङ्गलानि यस्याः सकाशात्सा वाणी । स्पष्टमन्यत् ॥ १२ ॥

आदिमें अन्धकारको हटाकर जिस (संस्कृतवाणी अथवा पार्वती) ने ज्ञानकी ज्योति जगायी, विबुधों (देवताओं अथवा पण्डितों) के आनन्दके लिये जिसने शासन (लोकोंका नियमन और शास्त्र) स्थापित किया, जिसके सेवनसे कविलोग अमरपदको पाते

हैं और जिसे अन्तःकरणको शुद्ध करनेमें समर्थ कहते हैं तथा जो केवल इस लोकमें ही सर्वमङ्गला (पार्वतीका एक नाम तथा दूसरे अर्थमें सब मङ्गलोंको देनेवाली) नहीं, बल्कि स्वर्गादि लोकोंमें भी बहुत शुभ देनेवाली है, यहाँ-वहाँ दोनों लोकोंमें कल्याण करनेवाली और मङ्गल देनेवाली इस संस्कृतवाणीका पार्वतीके समान जगत्के मङ्गलके लिये ही जन्म हुआ है । (सभी विशेषण दोनों ही अर्थोंमें लगते हैं) ॥ १२ ॥

पण्डितप्रशस्यपरिणद्धपदगुम्फवती
चित्तचमत्कारिलसदर्थतो यशस्वती
नृत्यद्वरवाणीमणिनूपुरनिनादनिभा
श्रवणमुपागतैव मह्यते महस्वती ।
मञ्जुनाथ ! मायामृगतृष्णामोहमूढानपि
प्राणिनः पुनाति या हि पावनपयस्वती
भासते सभासु समुल्लासितविलासरसा
गोविन्दानुरागरसात् सरसा सरस्वती ॥१३॥

नृत्यद्० सरस्वतीनूपुरनादवत् मनोहरा या श्रुतमात्रैव अभिनन्द्यते । महस्वती तेजस्वती । मायारूपा या मृगतृष्णा तस्या मोहेन मूढानपि । वाणी गोविन्दप्रेमरसादेव सरसा सती सभासु प्रशस्या भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

पण्डितोंसे प्रशंसनीय सुनिबद्ध पदरचनामयी, चित्तको चमत्कृत कर देनेवाले सुन्दर अर्थसे यशयुक्त तथा (हर्षातिरेकसे) नाचती हुई सरस्वतीके नूपुरनादके समान मनोहर जो तेजस्विनी वाणी कानमें पड़ते ही अभिनन्दित होती है तथा पावन (पवित्र) पययुक्त जो वाणी मायामरीचिका-के मोहसे मूढ़ हुए प्राणियोंको भी पवित्र किया करती है, भाव-विलासोंसे उल्लसित हुई भी वह वाणी श्रीगोविन्दके प्रेमरससे सरस होकर ही सभाओं-में शोभित होती है ॥ १३ ॥

गीयतां गृहे गृहेऽद्य गुण्या गुणगीतिर्हरे-
नित्यं नगरेषु प्राच्यसभ्यता ह्युदीयताम्
दीयतां जनेन पुण्यसेवायामजस्रं मनो
धार्मिकजनोऽद्य विद्यावैभवे प्रचीयताम्।
चीयतां चतुर्दिग् धनधान्यधामलक्ष्मीरियं
भूरि भारतीयं यशः सर्वतो निधीयताम्
धीयतां मनस्सु देववाणी तत्त्वविज्ञैर्नरैः
काममनभिज्ञैरियं जातु प्रविगीयताम् ॥१४॥

भारतस्य नगरेषु साम्प्रतं प्राच्यसभ्यता भारतीयसभ्यता उदीयताम्, संसर्गजा पाश्चात्यसभ्यता मा। प्रचीयतां वर्द्धताम्। भारतीयं भारतवर्षसम्बन्धि। निधीयतां स्थाप्यतां जनैः। कामं यथेच्छम्। विगीयतां निन्द्यताम् ॥ १४ ॥

भारतके घर-घरमें आज गोविन्दकी प्रशंसनीय गुणगीतियाँ गायी जायँ, नगरमें प्राचीन भारतीय सभ्यताका उदय हो (संसर्गागत पश्चिमी सभ्यताकी वृद्धि न हो)। लोग पुण्य-सेवनमें निरन्तर मन लगाते रहें, धार्मिकजन विद्या-वैभवमें आगे बढ़ें। चारों ओर धन-धान्य-गृहादिकी लक्ष्मी बढ़े। भारतका यश सब जगह (जनताके द्वारा) विस्तृत किया जाय। तत्त्वज्ञ लोगोंके मनमें देववाणीको स्थान मिले, चाहे अनभिज्ञ लोग इसकी निन्दा क्यों न करें ॥१४॥

इह सकलभाषाजन्मदा का ? भास्वती सुरभारती
वद, वेदजननी का ? जगत्योजस्वती सुरभारती।
अनुपमसरससाहित्यधनिका का ? सती सुरभारती
वद, भारतानुगना भवेत् का भारती ? सुरभारती ॥१५॥

यावन्मात्रभाषाणां जन्मदात्री का ? (प्रश्नः)। सुरभारती (उत्तरम्)। एवमग्रेऽपि। साहित्येन धनिका का ? भारतस्य अनुरूपा भाषा का ? उत्तरम्—सुरभारती। यत इदं भारतम्, सा भारती ॥ १५ ॥

(प्रश्नोत्तर) जगत्‌में सम्पूर्ण भाषाओंको जन्म देनेवाली कौन है ?—देदीप्यमान सुरभारती। कहो, वेदकी जननी कौन है ?—ओजस्विनी सुरभारती। अनुपम और सरस साहित्यसे सम्पन्न कौन है ? श्रेष्ठ सुरभारती। कहिये, भारतके अनुरूप भाषा कौन है ? सुरभारती (क्योंकि वह भारत है और यह 'सुरभारती') ॥ १५ ॥

नित्यं निजसेवकानाममरपदं ददाति
मानसं पुनाति या वै महितमहस्वती
लोकसमुद्धारायैव यद्धाराप्रवाहो भाति
पापपरिहारार्थं या प्रथितयशस्वती।
आदिजननीति जनाद् गौरवमुपेता या च
विष्णुपदस्पर्शोचितपावनपयस्वती
देशपरिपावनाय बाढमियमोजस्वती
निर्जरसरस्वतीव निर्जरसरस्वती ॥ १६ ॥

निर्जरनदी गङ्गा इव निर्जरसरस्वती संस्कृतभाषा। महित-महस्वती पूजनीयतेजःशालिनी। गङ्गाया धारायाः प्रवाहः, अमरवाण्या अविच्छिन्नः प्रसारः (सुव्यवस्थितत्वेन निस्संदेहतया मध्येऽवरोधाभावात्) दिव्यप्रभावतया आदिजननी (गङ्गा), भाषाणामुत्पादिका (संस्कृत-भाषा)। गङ्गा विष्णुपदोद्भूतैव, संस्कृतभाषा अध्यात्मज्ञानप्रदतया भगवच्चरणप्रापिका। अन्यदुभयत्रापि स्पष्टम् ॥ १६ ॥

आगे दोनोंके समान विशेषण हैं—जो पवित्र तेजस्विनी होकर (भी) निज सेवकोंको सदा अमरपद देती है तथा मनको पवित्र करती है। जिसका धाराप्रवाह (व्याकरणकी सुव्यवस्थासे निःसंदेह होनेके कारण संस्कृत वाणीका अनर्गल प्रचार; गङ्गाकी धाराका प्रवाह प्रसिद्ध ही है) लोकके उद्धारके लिये ही है। पापोंको दूर करनेके लिये जिसका यश प्रसिद्ध है; जनतासे जिसे 'आदिजननी' का गौरव प्राप्त है (संस्कृतभाषा सब भाषाओं-की उत्पादिका है, देवी गङ्गा तो जननी हैं ही), जिसका पवित्र पय विष्णुके चरणस्पर्शके योग्य है, (अतएव) देशको पवित्र करनेके लिये जो

अत्यन्त ओजस्विनी है, वह निर्जर-सरस्वती (देववाणी), निर्जर-सरस्वती (देवनदी, गङ्गा) के समान है ॥ १६ ॥

वेदाः

सर्गादौ निसर्गात्स्वयमेव प्रादुरासन् पुरा
शब्दब्रह्मरूपा ये ऽभिरूपा[1] विनिगद्यन्ताम्
मानवसमाजे यैः प्रबोधज्योतिराविष्कृतं
सभ्यताप्रणाली येन[2] जग्मुर्निरवद्यं ताम् ।
माहात्म्येन येषामार्यजातेर्मौलिरुन्नतोऽस्ति
तन्मे विनयोऽस्ति बुधैरेते[3] प्रतिपद्यन्ताम्
दूरीकृतदारुणदुरन्तपरिखेदा इमे
वन्दनीयवेदा भवभेदा[4]योपपद्यन्ताम् ॥ १७ ॥

१—सुन्दराः । २—ज्ञानज्योतिषा तां सभ्यतापद्धतिं निरवद्यं निर्दोषं यथा स्यात् तथा जग्मुः (मानवाः) । ३—वेदाः प्रतिपद्यन्तां शरणीक्रियन्ताम् । ४—भवस्य संसरणस्य भङ्गाय ॥ १७ ॥

सृष्टिके आदिमें जो स्वयं उत्पन्न हुए थे । शब्दब्रह्मरूप जिन्हें सब तरह सुन्दर कहना चाहिये, मानव-समाजमें जिन्होंने (सबसे पहले) वह विज्ञानकी ज्योति उत्पन्न की, जिससे जनताने निर्दोष सभ्यता-प्रणाली प्राप्त की, जिनकी महिमासे आर्यजातिका मस्तक आज भी उन्नत है । जिसके लिये विनय है कि बुद्धिमान् लोग उनकी शरण लें तथा (आध्यात्मिक) ज्ञान देकर जिन्होंने मनुष्योंके दारुण कष्टोंको दूर कर दिया, वे वन्दनीय वेद हमारे इस भवबन्धनको अवश्य काटेंगे ॥ १७ ॥

कल्पादौ स्फुरतां य एष जगतां जीवातवे[1] जज्ञिवान्
भूतानां भविका[2]य यः प्रथितवांस्तांस्तान् विधिप्रस्तवान् ।
विज्ञानोच्चयवानशेषशुभवान् विद्याभिरुद्योतवान्
संवि[3]त्सौभगवान् स वेदभगवान् भूयः समुज्जृम्भताम् ॥ १८ ॥

चञ्चन्तोऽतिचिरं चतुर्मुखमुखाच्चित्रं चतुर्दिक्षु ये
चातुर्वर्ण्यमिदं चतुर्युगचये संचारयन्तेऽन्वहम् ।
चित्ते चिन्तयतां चतुर्भुजभुजावद् ये चतुर्वर्गदा
वेदांस्तांश्चतुरो विचारचतुरो नार्चेत कश्चेतसा ? ॥१९॥
यैरादौ भुवनेषु पावनतमं तज्ज्योतिराविष्कृतं
यस्याग्रे स्वयमेव सर्वजगतां मूर्द्धा नतो जायते ।
सर्वस्यौषधयः प्रबोधनिधयः पीयूषपाथोधय-
स्ते वेदाः सकलाभिनन्द्यविधयः प्रोद्यन्तु नः सिद्धयः[10] ॥२०॥
मखे येषां मन्त्रैर्विधिविहित[11] तन्त्रैर्नियमिताः
सुरेशाद्याः सर्वे त्वरितमुपतिष्ठन्त्यभिमुखम् ।
पुनन्तो विश्वानि प्रतिपदमवन्तो जगदिदं
क्षमन्तां ते वेदा दुरित[12]भयभेदाय भवताम् ॥ २१ ॥
छन्दः पादौ तु यस्याः, नयनमकलुषं ज्योतिषां घ्राणमस्याः
शिक्षा कल्पस्तु हस्तौ, मुखमिदमुदितं विस्तृतं शब्दशास्त्रम् ।
यस्याः श्रोत्रं निरुक्तम्, त्रिभुवनमभवद् भासितं यद्विभासा
श्रीविष्णोर्वेदनाम्नी जयति विजयजस्र[13]ग्धरा मूर्तिरेषा ॥२२॥

१—जीवनौषधाय जातवान् । २—प्राणिनां कल्याणाय यो विधिशास्त्राणां प्रस्तवान् प्रकरणानि प्रथितवान् प्रख्यापितवान्। ३—विज्ञानसौभाग्यशाली । ४—ब्रह्मणो मुखान्निस्सृत्य चञ्चन्तः प्रकाशमानाः । ५—कृतयुगद्वापरादिषु ये चातुर्वर्ण्यं ब्राह्मणक्षत्रियादिजातिसमुदायम् संचारयन्ति प्रचारयन्ति । ६—चतुर्भुजस्य विष्णोः चतस्रो भुजाः यथा चिन्तयतां (स्मरणकर्तृणाम्) धर्मार्थादिपुरुषार्थचतुष्टयदास्तथा इमेऽपीत्यर्थः। ७—वैदिकविज्ञानज्योतिषः। ८—सागराः। ९—सकलैरभिनन्दनीयानि विधिशास्त्राणि येषां ते। १०—अस्माकं सिद्धिरूपाः प्रोद्यन्तु प्रकृष्टमुदयं लभन्ताम्। ११—विधिविहितानि तन्त्राणि उपाया येषु तैः (मन्त्रैः)।

१२–पापभयदूरीकरणाय क्षमन्तां समर्था भवन्तु। १३–विजयजां (विजय-लब्धाम्) स्रजं धारयति विज्ञानविषये त्रिभुवने सर्वेषां विजेत्री ॥१९-२२॥

सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होते हुए भुवनोंके जीवनौषध होकर जो आविर्भूत हुए, प्राणियोंके कल्याणके लिये जिन्होंने नाना प्रकारके विधान प्रकट किये, (नाना) विज्ञानोंके खजाने, समस्त मङ्गलोंके देनेवाले, भारतीय विद्याओंसे प्रकाशित, विज्ञानसे सुशोभित वे वेद भगवान् पृथ्वीपर फिरसे विस्तार हों ॥१८॥

ब्रह्माके मुखसे प्रकट होकर चारों दिशाओंमें फैलते हुए जो सत्य, त्रेता आदि चारों युगोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णोंका नेताके रूपमें संचालन करते हैं तथा विष्णुकी चार भुजाओंके समान जो चित्तमें मनन करनेवालोंको चारों पुरुषार्थ देते हैं, विचारचतुर कौन विद्वान् उन चारों वेदोंकी चित्तसे अर्चना न करेगा ॥ १९ ॥

चौदहों भुवनोंमें सबसे प्रथम जिन्होंने वह पवित्रतम ज्योति जगायी, जिसके आगे अपने-आप सारे जगत्का मस्तक झुक जाता है, जिनके विधान सर्वमान्य हैं, सबके लिये ओषधिरूप (परम पथ्य), ज्ञानके भण्डार, कल्याणामृतके वारिधि वे वेद हमारे लिये सिद्धिरूप होकर सुप्रकाशित हों॥ २० ॥

विधिका अनुसरण करनेवाले उपायोंके द्वारा जिनके मन्त्रोंके वशीभूत होकर इन्द्रादि देवतातक यज्ञोंमें तत्काल हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं, सबको पवित्र करनेवाले तथा जगत्की पद-पदपर रक्षा करनेवाले वेद आपके पापभयको दूर करनेमें समर्थ हों ॥ २१ ॥

छन्दः शास्त्र जिसके पैर हैं, ज्योतिष निर्मल नेत्र हैं, शिक्षा नासिका, कल्प हाथ और विस्तृत शब्द-शास्त्र (व्याकरण) जिसका मुख है, निरुक्त कान हैं, जिसकी निर्मल कान्तिसे यह त्रिभुवन प्रकाशित हो रहा है, जयमाला धारण करनेवाली वेद नामक उस श्रीविष्णुकी मूर्ति सर्वोपरि है [यहाँ 'स्रग्धरा' यह छन्दका नाम भी आ गया है, 'मुद्रा' अलङ्कार] ॥ २२ ॥

दर्शनानि

मानवसमाजे सत्यमार्गमुपादिक्षन् यानि
ज्योतिर्जननानि जनजीवने विमृश्यन्ताम्
मानुषातिशायिनो विचारान् विमृशन्तो यत्र
चित्रमुपयन्तो बुधा वैदेशिकाः स्पृश्यन्ताम् ।
आर्यसभ्यतायाः स्फुरद्विजयपताकासमा-
न्यतुलितराकाभाणि परमं प्रकृष्यन्ताम्
तत्त्वानां विमर्शनानि गूढतलस्पर्शनानि
पुण्यपरामर्शनानि दर्शनानि दृश्यन्ताम् ॥२३॥

जनजीवने जनानां जीवनचर्यायां प्रकाशजनकानि । यत्र येषां दर्शनानां विषये मनुष्यबुद्धेरतिशायिनः अलौकिकान् विचारान् विमृशन्तः विचारयन्तः चित्रमाश्चर्यमुपगच्छन्तः वैदेशिकाः मैक्समूलराद्यो बुधाः पण्डिताः स्पृश्यन्तां परिचीयन्ताम् । अतुलिता राकायाः पूर्णिमायाः भा इव भा येषां तानि । पुण्यः परामर्शो येषां तानि ॥ २३ ॥

मानव-समाजमें जिन्होंने सत्यमार्गका उपदेश दिया, जो मानवकी जीवनचर्यामें ज्ञान-ज्योतिके उत्पादक माने जाने योग्य हैं, मनुष्यकी बुद्धिसे अगम्य जिनके विचारोंपर विमर्श करते हुए वैदेशिक विद्वान् भी जहाँ चकित होते देखे जाते हैं, जो पूर्णिमाके समान ज्ञानरूप प्रकाशके खजाने तथा सब तरह उत्कृष्ट हैं, तत्त्वोंका विमर्शन, विचारोंका तलस्पर्शन और पुण्योंका परामर्शन (मीमांसा) करनेवाले आर्य-सभ्यताकी फहराती हुई ध्वजाके समान इन दर्शनोंका दर्शन कीजिये ॥ २३ ॥

प्रसङ्गतः 'काशी'

एकतः सभासु यत्र भाति सुरभारतीय-
मन्यतस्तु सेयं सुरतटिनी विराजते
एकतोऽन्नपूर्णाविश्वनाथवैभवं विभाति
परतोऽथ यत्र विद्यावैभवं प्रकाशते ।

चित्रं चिरकालादैतिहासिकमहत्त्वभृता
विद्वद्गणसंवृता जगत्सु निकषायते
नूनमियमेकत्रैव राशीकृतपुण्यत्रया
विप्रैः सुप्रकाशीकृता काशी भूरि भासते ॥२४॥

निकषायते पाण्डित्यस्वर्णपरीक्षणाय निकष इवाचरति ॥ २४ ॥

जहाँ एक ओर सभाओंमें सुरभारती (संस्कृत) शोभित हो रही है तो दूसरी ओर सुरतटिनी (गङ्गा) विराजित है, एक ओर अन्नपूर्णा-विश्वनाथका वैभव है तो दूसरी ओर संस्कृत-विद्याका वैभव प्रकाशित है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व चिरकालसे बराबर चला आ रहा है, संस्कृतके विद्वानोंसे सुशोभित जो नगरी जगत्में विद्याकी कसौटी मानी जाती है। एक ही जगह इकट्ठी की गयी पुण्य-राशिके समान, ब्राह्मणोंसे प्रकाशित यह काशी अत्यन्त शोभित है ॥ २४ ॥

प्रार्थना

न्यस्यते न वल्गद्वर्णमैत्रीमृते किंचित् पदं
ज्योत्स्नाजालजैत्री यत्र कान्तिः कमनीयासौ
प्रोल्लसद्विलासाः स्वयं सज्जन्त्यनुप्रासा यत्र
चित्तसमुल्लासानुगा शैली मननीयासौ।
श्रीगोविन्दचारुचरणारविन्दचर्चा वशा-
दर्चामधिगम्य माननीयैर्महनीयासौ
प्रस्फुरत्प्रसादा सहकारमञ्जुमञ्जरीव
पुण्या पद्यपञ्जरी रसज्ञै रसनीयासौ ॥ २५ ॥

यत्र पद्यपञ्जर्याम् वर्णमैत्रीं विना किमपि पदं न न्यस्यते। ज्योत्स्नासमूहतोऽप्यधिका यत्र कान्तिः (प्रकाशः, प्रयुज्यमानपदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं च)। गोविन्दचरणचर्चावशाद् अस्यां पूज्यभावं प्राप्य महापुरुषैः इयं पञ्जरी आदरणीया। प्रस्फुरन् प्रसादः लोको-

ल्लासनम् तन्नामकः काव्यगुणश्च यस्यामेवंविधा पद्यपञ्जरी (समूहः), आम्रमञ्जरीव रसनीया । रसज्ञैरित्यनेन आम्रमञ्जर्या यथा भ्रमराद्यः केचिदेव रसवेदनाधिकारिणस्तथा अस्या अपि केचिद्विरला एव मार्मिका इति सूच्यते ॥ २५ ॥

जहाँ फुदकती हुई वर्णमैत्री (परस्पर मिलते हुए अक्षरोंके गुम्फन) से शून्य कोई पद रखा ही नहीं गया है, जिसमें ज्योत्स्ना (चाँदनी) को भी जीतनेवाली कमनीय 'कान्ति' (प्रकाश और लोकोत्तर शोभारूप 'कान्ति' नामका काव्यगुण) है, प्रस्फुट शोभावाले अनुप्रास जिसमें स्वयं आ गये हैं तथा चित्तके उल्लासका अनुगमन करनेवाली जिसकी यह शैली ध्यान देने योग्य है । आम्रकी मञ्जुल मञ्जरीकी तरह प्रकट प्रसाद (प्रसन्नता) और तन्नामक काव्यगुणवाली यह पद्यपञ्जरी (पद्यसमूह) रसज्ञोंके रसास्वादनके योग्य है ॥ २५ ॥

